समर्पण

मानस-मर्मज्ञ पूज्य पिता

श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव को

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत-जयंती के अवसर पर विसवाँ शुगर फैक्ट्री की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिंदी-विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिंदी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिंदी में उच्चकोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया ग्रन्थमाला' में संग्रन्थित होंगे। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

उपोद्घात

किसी कवि या लेखक की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता अनेक दृष्टियों से होती है, जैसे—१. कवि की अभिव्यंजना-शक्ति और उस अभिव्यंजना में उसकी कलात्मकता को जाँचने की दृष्टि, २. भाषाशास्त्र अथवा व्याकरण की दृष्टि, ३. कवि के युग-विशेष से सम्बन्धित सामाजिक तथा सांस्कृतिक संकेतों के आकलन की दृष्टि, ४. लेखकों के आत्मचरित्र के परिचय की दृष्टि, ५. विभिन्न भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि आदि। भाषा भाव और विचारों का वाहन होती है। यदि भाव और विचार सबल हैं और लेखक की भाषा समर्थ नहीं है तो वह अपने अभीष्ट को पाठक तक पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए भावों का संक्रमण भाषा की शक्ति पर निर्भर है। भाषा की शक्ति आधारित होती है शब्द-भंडार, शब्द-चयन और प्रयुक्त शब्दों की अर्थ-शक्ति पर। इसलिए कवि की अभिव्यंजना-शक्ति को आँकने के लिए उसकी भाषा का अध्ययन आवश्यक होता है। कवि की रचना में भाव-जनित रस के अतिरिक्त कलात्मक रोचकता भी होनी चाहिए। यह रोचकता भाषा की बोधगम्यता, सङ्गीतमयता, श्रुतिमधुरता, मुहावरेदानी और उक्ति-विलक्षणता आदि भाषा-गुणों पर आधारित होती है। घटनाओं के घात-प्रतिघात और भावों के उतार-चढ़ाव-द्वारा उद्भूत प्रभावात्मकता भाषा की सजीवता से ही आती है, जो सहज संवाद और स्वाभाविक नाटकीय कथनों द्वारा लाई जाती है। उक्त प्रकार के सभी भाषा-गुणों को भाषा का कलात्मक प्रयोग कहते हैं। कुछ कवि इस रोचकता के लाने के आवेश में अत्यधिक अलङ्कार-प्रयोग से भाषा को बोझिल बना देते हैं और इस प्रकार भाषा-शैली में रमणीयता के स्थान पर नीरसता आ जाती है। इसलिए कलात्मक अभिव्यंजना आँकने के लिए भी कवि की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता होती है। व्याकरण अथवा भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी कवियों की भाषा के अध्ययन की उपादेयता है।

कवि अपने युग का प्रतिनिधित्व, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में, करता है। युग-निर्माता कवियों की रचनाओं में, उनकी शब्दावली में, उनके युग के सांस्कृतिक संकेत रहते हैं। इसलिए सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास-निर्माण की दृष्टि से भी कवियों की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता होती है। अनेक प्राचीन कवियों के जीवन-वृत्तान्त अज्ञात हैं। हिन्दी के प्राचीन संत और भक्त कवियों की मनोवृत्ति आत्मपरिचय से विमुख रही है, फिर भी उनके भाषा-प्रयोगों से उनके परिचय-आकलन में सहायता मिलती है। विविध भाषा और बोलियों के विभिन्न लेखकों के परस्पर और तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। यह अध्ययन राष्ट्रीय दृष्टि से विविध भाषाओं को एक-रूपता देने में भी उपयोगी होता है। इस प्रकार कवियों अथवा साहित्यिक लेखकों की भाषा के सर्वाङ्गीण अध्ययन की महत्ता और उपादेयता है।

हिन्दी में साहित्यकारों की भाषा के वैज्ञानिक और सर्वाङ्गीण अध्ययन का अभाव है। चन्द, विद्यापति, सूर, तुलसी, जायसी, केशव, बिहारी, देव, घनानन्द आदि अनेक

देवकीनन्दन श्रीवास्तव (अब डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव)–द्वारा 'रामचरितमानस की भाषा' विषय पर इस विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा का प्रबन्ध लिखवाया गया था। प्रबन्ध परिश्रम से लिखा गया। इसके बाद 'पी-एच० डी० अनुसधान' के लिए 'तुलसीदास की भाषा' नामक विषय डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव को दिया गया, और मुझे यह कहते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि डॉ० श्रीवास्तव ने हमारे विभाग के रीडर डा० भगीरथ मिश्र के योग्य निर्देशन में बड़ी गवेषणा से पूर्ण यह मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है जिस पर उन्हें इस विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि मिली है। इस अध्ययन के साथ ही सूर की भाषा का अध्ययन भी इस विभाग में दिया गया था और वह भी एक सफल कृति मान्य हुई है। इस विभाग में भाषा के अध्ययन की प्रेरणा आगे बढ़ रही है, फलस्वरूप जायसी की भाषा का अध्ययन भी एक योग्य विद्यार्थी को दिया गया है।

प्रस्तावना

'विशेष अध्ययन' के रूप में तुलसी-साहित्य को पढ़ाते हुए मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि किसी भी बोली अथवा भाषा के व्यवस्थित एवं पूर्ण अध्ययन के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों और कतिपय महान् कवियों के साहित्य में प्रयुक्त भाषा के विशिष्ट दृष्टि से अथवा अनेक दृष्टियों से अध्ययन की प्राथमिक आवश्यकता है। इससे न केवल हमें भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति का परिचय मिलता है वरन् शब्द-निर्माण, विशिष्ट प्रयोग एवं प्रतीक-स्थापना से सम्बन्धित कवि-प्रतिभा का भी ज्ञान होता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कवि की शब्दावली में प्राप्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक संकेतों का अध्ययन।

यह कार्य बहुत सरल नहीं है, क्योंकि अभी तक हिन्दी में महत्त्वपूर्ण कृतियों की भी शब्दानुक्रमणिका तैयार नहीं हुई। अतः इस कार्य को करने के लिए या तो शब्दा-नुक्रमणिका पहले तैयार की जाये अथवा कोई कृति पूरी की पूरी कंठस्थ हो। इस संबंध में रामचरितमानस की भाषा के अध्ययन का सुझाव मैंने श्री देवकीनन्दन श्रीवास्तव को उस समय दिया था जब ये एम० ए० द्वितीय खंड के विद्यार्थी थे। अपने सीमित समय और साधनों के होते हुए भी इन्होंने यह कार्य सफलतापूर्वक संपन्न किया। इसी से प्रभावित होकर मैंने हिन्दी विभागाध्यक्ष गुरुवर डॉ० गुप्त से इस बात का अनुरोध किया कि इन्हें पी-एच० डी० के हेतु अनुसंधान-कार्य का विषय 'तुलसीदास की भाषा' दिया जाय। श्रीवास्तव जी के इसी कार्य का परिणाम प्रस्तुत ग्रन्थ है।

गोस्वामी जी के विशेष प्रसंग में इस ग्रन्थ के दो अध्यायों का मेरी दृष्टि से विशेष महत्त्व है जो हैं प्रथम और पंचम। प्रथम में उस युग की लोकभाषा के प्रचार और प्रयोग के आन्दोलन का संकेत है जिसे लेखक ने संयत शब्दावली में परंपरा नाम दिया है। परन्तु समुचित विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति, कबीर, नामदेव, सूरदास, तुलसीदास तथा अन्य कवियों ने युग एवं क्षेत्र-विशेष में इस आन्दोलन का नेतृत्व किया और इसमें तुलसीदास का समन्वयवादी दृष्टिकोण बड़ा प्रेरक और सम्मान्य रहा। पंचम अध्याय में सांस्कृतिक एवं सामाजिक संकेतों से युक्त शब्दावली का अध्ययन है। इस प्रकार के अध्ययनों के बिना हमारा सांस्कृतिक इतिहास पूर्णता से नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, इसमें संदेह की गुंजाइश मेरे विचार से नहीं रह जाती है।

तुलसीदास की भाषा का अनेक दृष्टियों से अध्ययन इसीलिए प्रस्तुत किया गया जिससे यह बात स्पष्ट हो सके कि इनमें से किसी एक दृष्टि से भी एक कवि की या एक कृति की भाषा का अध्ययन किया जा सकता है, साथ ही अनेक दृष्टियों से एक साथ भी। अभी तुलसीदास की भाषा का भी एक दृष्टि से परिपूर्ण अध्ययन करने की आवश्यकता

वनी हुई है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस अध्ययन के सूत्रपात के उपरान्त सूर की भाषा का अध्ययन भी अब पूर्ण हो चुका है और जायसी की भाषा का अध्ययन भी पूर्णप्राय है।

इस अध्ययन में डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव की न केवल तुलसी-साहित्य के प्रति अनुराग-भावना ही प्रकट होती है, वरन् उनकी शास्त्रीय दक्षता एव शब्द-विश्लेषण की क्षमता भी प्रमाणित है। तुलसी-साहित्य एव उसके आधारभूत साहित्य के प्रति अभिरुचि और अनुशीलन के इनके सस्कार परिवारगत हैं। अपनी गभीर प्रकृति और सरल स्वभाव से अध्ययन का प्रशस्त मार्ग ग्रहण कर इन्होंने अनुशीलन-सबधी महत्त्वपूर्ण कार्य की आशा को जाग्रत कर रखा है। मुझे विश्वास है कि डॉ० श्रीवास्तव की इस कृति से न केवल तुलसी-साहित्य के विद्यार्थियों का ज्ञान वर्द्धन होगा वरन् साहित्य के अनुशीलन कर्ताओं को प्रेरणा और पथ प्राप्त हो सकेगा।

डॉ० भगीरथ मिश्र, एम० ए० पी-एच० डी०,
रीडर, हिंदी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय।

—भगीरथ मिश्र

प्राक्कथन

तुलसी के बहुमुखी व्यक्तित्व को भाषा की तुला पर तोलने का प्रयत्न व्यक्तिगत अभिरुचि का द्योतक तो है ही, साथ ही उसकी उपादेयता और आवश्यकता भी कई दृष्टियों से स्पष्ट है :—

१—कवि की साहित्यिक अभिव्यंजना-शक्ति और कला-पक्ष की छानबीन तथा उसके व्याकरणिक एवं भाषा-विज्ञान-संबंधी नियमों और विशेषताओं का विश्लेषण।

२—राष्ट्र-भाषा-विषयक समस्याओं का समाधान।

३—शब्दावली के अंतर्गत कविकालीन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संकेतों की खोज।

४—भारतीय समालोचना के क्षेत्र में, साहित्यकारों की भाषाविषयक प्रवृत्तियों के सर्वाङ्गीण अध्ययन की दिशा में एक नवीन स्थापना।

प्रथम तीन का संबंध सीधा तुलसीदास से है और चौथी का संबंध तुलसी की भाषा के अध्ययन के सहारे सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से थोड़ा-बहुत जुड़ जाता है। यहीं पर यह भी संकेत कर देना अनुचित न होगा कि जहाँ तक लेखक का सीमित ज्ञान जाता है, प्रस्तुत प्रबंध किसी भारतीय साहित्यकार की भाषा का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत करने की दिशा में प्रथम प्रयास है।[1]

अब तक तुलसी की प्रतिभा के विविध पक्षों को लेकर पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा जो कुछ अध्ययन हुआ है उसके भीतर तुलसी की भाषाविषयक प्रवृत्तियों के वैज्ञानिक अनुसंधान का विषय गौण रहा है। इस दिशा में उनके स्फुट प्रयास प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि के निर्माण में बहुत अधिक योग नहीं दे सके हैं। इन दोनों बातों की पुष्टि के लिए हमें विगत अध्ययन के इतिहास की ओर देखना होगा।

संक्षेप में हम पिछले अध्ययन से संबंधित समस्त उपलब्ध सामग्रियों को निम्न-लिखित तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१—तुलसी-विषयक परिचय-ग्रन्थ एवं समालोचना-साहित्य।

२—एतत्संबंधी स्फुट टीकाएँ और कोष-ग्रन्थ।

३—हिन्दी-भाषा और हिन्दी की बोलियों के विकास पर लिखित भाषावैज्ञानिक ग्रन्थ एवं निबंध।

पहले वर्ग के अन्तर्गत, परिचय-ग्रंथों के भीतर, हम प्रमुख रूप से दो ग्रन्थों को ले सकते हैं—

१—बाबा बेणीमाधव दास का मूल गोसाईं चरित।

१—उक्त प्रबंध मूल रूप में सन् १९५२ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० डिग्री के लिये प्रस्तुत किया गया था।

२—आचार्य भिखारीदास का काव्यनिर्णय।

और 'समालोचना-साहित्य' के भीतर प्रधानतः निम्नलिखित सामग्री रखी जा सकती है :—

१—'नोट्स आन तुलसीदास' डॉ० जार्ज ग्रियर्सन

२—रामायणीय व्याकरण ('नोट्स आन दि ग्रैमर आफ रामायन आफ़ तुलसीदास) एडविन ग्रीव्स

३—मिश्रबंधु विनोद मिश्रबंधु

४—नवरत्न मिश्रबंधु

५—मानस-प्रबोध विश्वेश्वरदत्त शर्मा

६—रामचरितमानस की भूमिका रामदास गौड़

७—तुलसीदास

८—हिन्दी साहित्य का इतिहास

९—जायसी-ग्रन्थावली (भूमिका)

१०—तुलसी-ग्रन्थावली (भूमिका) } रामचन्द्र शुक्ल

११—तुलसीदास और उनकी कविता संपादक रामनरेश त्रिपाठी

१२—रामचरितमानस (भूमिका) ,,

१३—इंडियन ऐंटीक्वेरी और इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ में प्रकाशित कतिपय निबंध डॉ० बाबूराम सक्सेना

१४—मानस-दर्पण चंद्रमौलि सुकुल

१५—तुलसीदास डॉ० माताप्रसाद गुप्त

१६—रामचरितमानस का पाठ ,,

१७—विश्वसाहित्य में रामचरितमानस राजबहादुर लमगोड़ा

१८—'विशाल भारत' में प्रकाशित कुछ निबंध अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

१९—तुलसी के चार दल सद्गुरुशरण अवस्थी

२०—मानस-व्याकरण विजयानंद त्रिपाठी

दूसरे वर्ग के अंतर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ आते हैं :—

१—मानस-पीयूष अंजनीनंदनशरण शीतलासहाय

२—तुलसी-शब्दार्थ-प्रकाश जयगोपाल बोस

३—मानस-कोष अमीर सिंह

४—विनय-कोष महावीर प्रसाद मालवीय

५—मानस-कोष रघुनाथ दास

६—मानस शब्दानुक्रमणिका (इंडेक्स वर्बोरम आफ़ दि रामायन आफ़ तुलसीदास) डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री

तीसरे वर्ग के भीतर निम्नलिखित ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१—हिन्दी-व्याकरण —केलाग
(ए ग्रैमर आफ हिन्दी लैंग्वेज)
२—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया खंड ६ —डॉ० जार्ज ग्रियर्सन
३—एवोल्यूशन आफ़ अवधी —डॉ० बाबूराम सक्सेना
४—ब्रजभाषा-व्याकरण —डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
५—ब्रजभाषा का व्याकरण —किशोरीदास वाजपेयी
६—मकरन्द (संपादक—डॉ० भगीरथ मिश्र)—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

उपर्युक्त सामग्री में से कुछ का विवेचन संक्षेप में क्रमशः उपस्थित किया जा रहा है।

१—वेणीमाधव दास का मूल गोसाईंचरित—इस ग्रंथ की प्रामाणिकता ही सन्दिग्ध है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अनेक युक्तियों द्वारा उसमें दी हुई बातों एवं घटनाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रमपूर्ण सिद्ध करना चाहा है।[1] रामनरेश त्रिपाठी ने यहाँ तक कहने का साहस किया है कि 'एक साधारण तुकबंद ने गैर जिम्मेदारी के साथ जो कुछ उसके मग़ज़ में से निकला या पाया गया, वे सिर पैर के पद्यों में निकाल कर रख दिया है। हमें उसका कहाँ तक विश्वास करना चाहिए।'[2] तथापि डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० बड़थ्वाल जैसे खोजियों ने इस ग्रंथ की आंशिक उपयोगिता पर बराबर बल दिया है। प्रस्तुत प्रसंग में इस ग्रन्थ की चर्चा केवल इस दृष्टि से उपयोगी समझी गई कि इसके भीतर इस बात का कुछ संकेत मिलता है कि किस परिस्थिति में तुलसी को जनभाषा में ही अपनी प्रमुख रचना रामचरितमानस को प्रस्तुत करना पड़ा। उक्त संकेत का आधार इस ग्रंथ के अन्तर्गत मानस-रचना से सबंधित निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं :—

भगत सिरोमनि घाट पै, विप्र गेह करि बास।
राम विमल जस कहि चले, उपज्यो हृदय हुलास।
दिन मां जितनी रचना रचते। निसि माहि सुसंचित ना बचते।
यह लोप क्रिया प्रति द्यौस सरै। करिए सो कहा नहि बूझि परै।
अठवें दिन संभु दिये सपना। निज बोलि में काव्य करो अपना।
उचटी निंदिया उठि बैठ मुनी। उर गूंजि रह्यो सपने की धुनी।
प्रगटे सिव संग भवानि लिये। मुनि आठहु अंग प्रणाम किये।
सिव भाषेउ *भाषा में काव्य रचो। सुर बानि के पीछे न तात पचो।*
सब कर हित होइ सोई करिये। अरु पूर्व प्रथा मन आचरिये।[3]

---

१. देखिए डॉ० माताप्रसाद गुप्त : तुलसीदास, पृ० ४० से ५७ तक।
२ देखिए 'मकरन्द' में संकलित 'मूल गोसाईंचरित' से सबंधित डॉ० बड़थ्वाल का लेख, पृ० ७३ से ८६ तक।
३. मूल गोसाईंचरित (द्वितीय संस्करण) पृ० १७

तात्पर्य यह है कि तुलसी ने पहले 'मानस' की रचना संस्कृत में आरंभ की, और क्रमशः आठवें दिन शिवजी के स्वप्नादेश के अनुसार उन्होंने सर्वहितकारिणी जनभाषा में काव्य-रचना प्रारंभ की। इन बातों की कुछ झलक 'मानस' की निम्नलिखित पंक्तियों में भी देखी जा सकती है :—

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। राम चरित मानस कवि तुलसी ॥[1]
सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर, जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ ॥[2]

'सुमति हियँ हुलसी', 'सपनेहुँ साँचेहु', 'हर गौरि पसाउ' तथा 'भाषा भनिति' आदि शब्दों से पूर्वोक्त घटना का परोक्ष संबंध जोड़ा जा सकता है।

हमारे उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य भी नहीं समझना चाहिए कि हम मूल गोसाईंचरित के उक्त प्रसंग को पूर्णतया प्रामाणिक मानने का ही आग्रह करते हैं, फिर भी आध्यात्मिक एवं दिव्य शक्तियों पर विश्वास रखने वाले तुलसी जैसे भक्त कवि को, भाषा-काव्य रचने की प्रेरणा भी, यदि अपने व्यक्तिगत अथवा सामाजिक केंद्र से न मिल कर उपर्युक्त आध्यात्मिक स्रोत से ही मिली हो, तो असंभव नहीं। सारांश यह कि आज की स्थूल मान्यताओं के मानदंड पर वेणीमाधव दास के 'मूल गोसाईंचरित' का इस प्रसंग में उल्लेख भले ही रूढ़िपरक, अनावश्यक एवं अंध-विश्वासद्योतक जान पड़े, किंतु कम से कम आज से बहुत पूर्व लिखित रचना, जिसमें कदाचित् सर्वप्रथम तुलसी की भाषा की समस्या को महत्त्वपूर्ण दृष्टि से स्पर्श किया गया है, होने से उसके ऐतिहासिक महत्त्व की सर्वथा उपेक्षा कर देना ठीक नहीं।

२—आचार्य भिखारी दास का 'काव्य-निर्णय'—हिंदी-काव्यशास्त्र की प्रतिष्ठित रचनाओं के अंतर्गत रखा जाता है। इसमें अन्य काव्यांगों के साथ-साथ भाषा के विविध रूपों पर विचार करते हुए एक स्थान पर कहा गया है :—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन्ह के सरदार।
इन्ह के काव्यन्ह में मिली, भाषा विविध प्रकार ॥[3]

इसमें यद्यपि किसी गंभीर वैज्ञानिक विवेचन की झलक नहीं मिलती, किंतु इतना तो पता चलता ही है कि हिंदी के एक प्रसिद्ध आचार्य कवि के विचार से महान कवियों की कृतियों में विविध प्रकार की 'भाषा' का मिलना मानो एक सामान्य विशेषता है, जिस के उत्कृष्ट उदाहरण सुकवियों के सरदार तुलसी और गंग हैं। इसका वस्तुतः यह तात्पर्य नहीं कि तुलसी अथवा गंग का सरदारपन भाषा की विविधरूपता के ही कारण है, वरन् यह कि प्रायः महान कवियों की व्यापक अनुभूतियों के प्रकाशन में भाषा की विविधरूपता भी महत्त्व रखती है और तुलसी तथा गंग की कविता में यह विशेषता प्रधान रूप से देखने को मिलती है। गंग के विषय में यह कथन अंशतः ही सत्य है, किन्तु तुलसी के विषय में तो वह पूर्णतया चरितार्थ होता है

---

१. रा० १ ३६   २. रा० १, १५   ३. भिखारीदास काव्य-निर्णय १, १७

जैसा हम आगे देखेंगे। अस्तु, तुलसी की भाषा की एक व्यापक एवं उल्लेखनीय विशेषता —विविधरूपता—का सर्वप्रथम आधिकारिक उद्‌घाटन करने का श्रेय आचार्य भिखारी दास को ही दिया जायगा। इस दिशा में यही उनकी एक मात्र देन कही जा सकती है जो आधुनिक समालोचना के मानदड से भले ही साधारण-सी जान पड़े, किन्तु जिसके ऐतिहासिक महत्त्व की कोई भी विचारशील व्यक्ति उपेक्षा नहीं करेगा।

तुलसी के 'समलोचना-साहित्य' के अन्तर्गत जिस सामग्री की चर्चा की गई है उसमें नोट्स आन तुलसीदास', मिश्रबधु विनोद, नवरत्न, तुलसीदास, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, तुलसी-ग्रंथावली की भूमिका, विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि केवल इने-गिने सामान्य स्फुट संकेतों के सिवा प्रस्तुत कार्य की दृष्टि से उनमें कुछ भी काम की वस्तु नहीं है। शेष के विषय में अत्यंत संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—रामायणीय व्याकरण—श्री एडविन ग्रीव्स की इस छोटी-सी पुस्तिका के अन्तर्गत तुलसी के रामचरितमानस से कतिपय व्याकरणिक रूपों का संक्षिप्त संकलन किया गया है। साथ ही किसी-किसी रूप की व्युत्पत्ति के सबंध में भी यत्रतत्र स्फुट उल्लेख मिल जाता है। इस छोटी कृति की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि यह किसी कवि के एक ग्रथ की भाषा के एक विशिष्ट अग—व्याकरण—के अध्ययन की दिशा में प्रयास करने वाली कदाचित् अपने ढग की प्रथम और अकेली कृति रही है। यह तुलसी की भाषा की सर्वाङ्गीण विवेचना की ओर न सही, कम से कम उनकी एक कृति की व्याकरणिक छानबीन की ओर हमारा ध्यान ले जाती है। इसीलिए अपनी न्यूनताओं के साथ भी इसका महत्त्व अपनी सीमा में अक्षुण्ण है।

२—मानस-प्रबोध—श्री विश्वेश्वरदत्त शर्मा का यह ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध एव लोक-प्रिय न होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रस्तुत निबंध के लेखक के अनुमान से, तुलसी की भाषा के शास्त्रीय अध्ययन की दिशा में, यह भी अपने ढग का पहला प्रयास था, जिसमें वाक्य-प्रयोग, शब्द-प्रयोग आदि से संबंधित विशेषताओं पर अधिक ध्यान दिया गया था। गोस्वामी जी के 'मानस' की शब्दावली को, जनता के लिए, अधिक सुबोध बनाने में इस कृति की विशेष उपयोगिता जान पड़ती है। वस्तुतः यही ग्रथ-लेखक का मूल अभिप्राय भी प्रतीत होता है।*

---

* तुलसी की भाषा का अध्ययन, लेखक का प्रमुख विषय न था, यह बात उसके निम्नलिखित कथन से और भी पुष्ट हो जाती है :—

"यद्यपि हमने इसका नाम 'मानस-प्रबोध' रखा है, तो भी जानना चाहिए कि इसके ये नाम भी हो सकते हैं— (१) तद्‌भव प्रकाश (२) प्राकृत हिन्दी चंद्रिका और (३) छन्दो व्याकरण, क्योंकि इन नामों के गुण विद्यार्थी को इसमें मिलेंगे। हमने इसमें, 'रामच-रितमानस' के उदाहरण दे देकर नियम रचे हैं, इसलिए इसका नाम 'मानस-प्रबोध' रखा है।—मानस-प्रबोध, पृष्ठ ३, ४

३—रामचरित-मानस की भूमिका—श्री रामदास गौड़ का यह ग्रंथ, एक ओर जहाँ तुलसी के जीवन और काव्य के अन्य अंगों पर थोड़ा-बहुत विवेचन उपस्थित करता है, वहाँ दूसरी ओर थोड़ा-बहुत 'मानस' की भाषा में व्यवहृत कतिपय ध्वनियों एवं शब्द-रूपों पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करता है। कुछ व्याकरणिक रूपों—क्रिया-पद आदि—के अनुसंधान की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः इस क्षेत्र में गौड़ जी जो कुछ भी लिख गए हैं, वह प्रासंगिक रूप में ही। अतः उसमें पूर्णता, गहराई अथवा वैज्ञानिकता खोजना निष्फल होगा। पूर्वकालीन तुलसी-साहित्य-समालोचकों की अपेक्षा उन्होंने व्याकरण की ओर अधिक ध्यान दिया है, यही उनकी विशेषता है। इस प्रकार उनके कार्य की उपयोगिता भी ऐतिहासिक दृष्टि से ही आँकनी चाहिए।

४—जायसी-ग्रंथावली की भूमिका—में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'जायसी की भाषा' पर विचार करते हुए, प्रसंगानुसार तुलसी के कुछ प्रयोगों का भी तुलनात्मक उल्लेख कर गए। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ पर शुक्ल जी ने केवल तुलसी के अवधी-प्रयोगों तक ही अपने को सीमित रखा है क्योंकि जायसी की अवधी की चर्चा होने के परिणामस्वरूप ही इधर उनका ध्यान गया भी होगा। परन्तु दोनों अवधी-कवियों की भाषात्मक ढाँचे की तुलना में, जिस सरल एवं वैज्ञानिक शैली का सहारा शुक्ल जी ने लिया है, वह कई अंशों में हमारे लिए पथप्रदर्शक का काम करती है, और यही उसका महत्त्व है, यही उस की उपयोगिता है। नीचे एक नमूना उदाहरणस्वरूप दिया जा रहा है जिससे भाषा-क्षेत्र में, उनकी विश्लेषण-पद्धति तथा निर्णयात्मक विवेचन-शैली का स्वरूप स्पष्ट होता है :—

"जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यही बड़ा अन्तर है। जायसी की पहुँच अवधी में प्रचलित लोकभाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य तक ही थी, पर गोस्वामी जी की पहुँच दीर्घ संस्कृत-कवि-परम्परा द्वारा परिपक्व चाशनी के भांडागार तक भी पूरी-पूरी थी।

यदि गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' की रचना ऐसी ही भाषा में की होती, जैसी इन चौपाइयों की है :—

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ॥
जारै जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥

तो उनकी भाषा 'पद्मावत' की भाषा होती, और यदि जायसी ने सारी पद्मावत की रचना ऐसी भाषा में की होती, जैसी इस चौपाई की है :—

उदधि आइ तेहि बंधन कीन्हा। हति दसमाथ अमर पद दीन्हा ॥

तो उसकी और 'रामचरित-मानस' की भाषा एक होती। पर जायसी में इस प्रकार की भाषा कहीं ढूँढने से एकाध जगह मिल सकती है। तुलसीदास जी में ठेठ अवधी की मधुरता भी प्रसंग के अनुसार जगह-जगह पर मिलती है। सारांश यह कि"

तुलसीदास जी का दोनों प्रकार की भाषाओं पर अधिकार था और जायसी का एक ही प्रकार की भाषा पर। एक ही ढंग की भाषा की निपुणता उनकी अनूठी थी।"+

स्पष्ट है कि शुक्ल जी का उक्त प्रयत्न संक्षिप्त एवं अपर्याप्त ही है। भाषा-सम्बन्धी पूर्ण विवेचन इसमें नहीं हो पाया, विवेचन की एक प्रेरणात्मक दृष्टि अवश्य स्पष्ट हुई है।

५. तुलसीदास और उनकी कविता—इस ग्रन्थ के अन्तर्गत श्री रामनरेश त्रिपाठी ने तुलसीदास जी के काव्य के अन्य पक्षों के साथ-साथ उनकी भाषा के विषय में भी यत्र-तत्र स्फुट रूप में अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त विवेचन के पीछे त्रिपाठी जी के किसी विशेष शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता उतना नहीं चलता, जितना कई अन्य अवान्तर प्रसगों पर बल देने की प्रवृत्ति का, उदाहरणार्थ; अपनी इस धारणा को प्रमाणित करने की उनकी बलवती प्रेरणा कि तुलसी का जन्म-स्थान सोरों ही था। कुछ भी हो, अपनी सारी न्यूनताओं के साथ उन्होंने, तुलसी की भाषा के कलापक्ष तथा भाषावैज्ञानिक पक्ष के कतिपय प्रचलित एवं व्यापक अगों के आधार पर तुलसी द्वारा व्यवहृत मुहावरों, कहावतों और अलंकारों आदि का स्फुट संकलन करते हुए, तथा कुछ प्रान्तीय भाषाओं और कुछ हिन्दी-प्रदेश की बोलियों के कतिपय शब्द-रूपों को ढूँढ निकालने का उद्योग करते हुए, जो सामग्री हमारे समक्ष रखी है, उसका प्रस्तुत अध्ययन में उपयोग किया गया है। वस्तुतः उनके प्रयत्न मे यदि सब से अधिक खटकने वाली बात कोई है तो वह यह है कि उनकी दृष्टि प्रायः अन्तरंग विश्लेषण में न पहुँच कर बहिरंग आधार पर ही विशेष केन्द्रित रही। यही कारण है कि विविध रूपों के सकलन में वे अपने परिश्रम द्वारा जितनी सफलता प्राप्त कर सके हैं उतनी उन संकलित रूपों की शास्त्रीय व्याख्या एवं मूल्यांकन करने में नहीं। कहीं-कहीं तो उनके निर्णय और निष्कर्ष बड़े ही हल्के स्तर पर उतर आए हैं।[1] इन्हीं बातों के फलस्वरूप उनकी मान्यताओं मे अपेक्षित गांभीर्य का अभाव रहा और उनका श्रम उपयोगी होते हुए भी विशेष विश्वसनीय नहीं सिद्ध हो सका।

६. इंडियन ऐंटीक्वेरी और इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज मे प्रकाशित निबंध—डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपने इन कतिपय निबंधों मे, जो क्रमशः 'रामायण मे संज्ञारूप'[2], 'रामायण मे क्रिया-पद'[3], और 'रामायण में फारसी से उधार लिए हुए

+ रामचंद्र शुक्ल—जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ २०५-२०६ (पंचम संस्करण)

१. उदाहरणार्थ 'हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो' मे आए हुए 'खर को असवार' के आधार पर यह कहना कि सोरों में आजकल भी लडके गधे पर चढते है, अतः तुलसी सोरों के निवासी थे, उपहासास्पद है।

२. इंडियन ऐंटीक्वेरी खंड ४२, १९२२, पृष्ठ ७१-७६

३. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ खंड २, १९२६, पृष्ठ २०७-२३८

शब्द'[१]—इन शीर्षकों से लिखे गये थे, तुलसी के एक प्रधान ग्रंथ की भाषा के दो पहलुओं (व्याकरणिक और भाषा-वैज्ञानिक) को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन निबंधों की आंशिक उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए इस दिशा में अग्रसर होने वाले वे प्रथम समीक्षक कहे जा सकते हैं।

७—मानस-दर्पण—श्री चन्द्रमौलि सुकुल की यह कृति पुराने ढंग पर तुलसी के रामचरितमानस के कलापक्ष के एक महत्त्वपूर्ण अंग, अलंकार-योजना, को पर्याप्त सुबोध रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न करती है। यही इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व है।

८—तुलसीदास—डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस विशाल ग्रंथ के भीतर तुलसी-संबंधी कई आवश्यक अंगों का विवेचन करते हुए और 'कवि की भाषात्मक प्रवृत्तियों के अध्ययन' को एक स्वतंत्र विषय मानते हुए भी इसके विस्तार की आवश्यकता नहीं समझी। साथ ही प्रामाणिक संस्करणों के अभाव की समस्या की ओर भी संकेत किया है, जैसा उनके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है :—

"कवि की भाषात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय है। और उसका अध्ययन करने का कुछ प्रयत्न किया भी गया है, किन्तु प्रामाणिक संस्करणों के अभाव मे इस प्रकार का अध्ययन एक अर्द्धसत्य से अधिक कुछ नहीं हो सकता।"[२]

प्रस्तुत निबंध के लेखक के दृष्टिकोण से केवल कतिपय विशिष्ट व्याकरणिक विशेषताओं को छोड़कर भाषा के अन्य सभी पक्षों का अध्ययन पूर्ण नहीं तो, कम से कम इतना अपूर्ण तो नहीं कहा जा सकता कि उसे 'अर्द्ध सत्य' की संज्ञा दी जाय।

यहीं पर डॉ० गुप्त की इस कृति के एक और उपयोगी अंश की ओर भी ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा, वह है उनका अन्य आधारों के साथ-साथ भाषा-शैली के विकास-क्रम के आधार पर भी तुलसी की रचनाओं के कालक्रम के निर्धारण का प्रयत्न। इस प्रकार के प्रयत्न की सार्थकता में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह यही कि किसी कवि की परवर्ती कृति का सभी बातों में पूर्ववर्ती कृति से अधिक पुष्ट होना अनिवार्य नहीं। इसके अनेक अपवाद देखे गए हैं।

९—रामचरितमानस का पाठ—यह डॉ० माताप्रसाद गुप्त की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति कही जा सकती है, जिसके अंतर्गत उन्होंने 'मानस' के विभिन्न पाठों का विवरण उपस्थित करते हुए, यह निश्चित करने का प्रयत्न किया है कि वे कहाँ तक कवि-प्रयोग-सम्मत हैं। 'मानस' के प्रयोगों पर इस दृष्टि से विस्तारपूर्वक इन्होंने ही पहली बार विचार किया है, और बहुत कुछ पाठ-समस्या का समाधान करने में सफल हुए हैं। यदि यही विषय थोड़ी-बहुत भाषावैज्ञानिक टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत किया जाता, तो

१. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ खंड १, १९२५, पृष्ठ ६३-७५
२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त · तुलसीदास, कृतियों का पाठ, पृ० १८७

उनका प्रयास स्थूल विवरण एवं सकलन-मात्र न होकर कहीं अधिक आलोचनात्मक एवं उपयोगी सिद्ध होता।

इस से यह न समझना चाहिए कि इस से पूर्व 'मानस' की पाठ-समस्या पर कोई विचार ही नहीं किया गया। यह समस्या और इसके समाधान का प्रयत्न 'मानस' के प्रेमी संतों व महानुभावों के बीच बहुत पहले से चला आ रहा है। अपनी बुद्धि व विचार की पहुँच, तथा प्राचीन (स्वयं गोस्वामी जी की) तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर अनेक संतों व महानुभावों ने इस संबंध में बहुत-कुछ परिश्रम किया है, जिसके फलस्वरूप ही 'मानस' के अनेक सशोधित सस्करण जनता के समक्ष उपस्थित हो सके हैं। परंतु डॉ० गुप्त का प्रयत्न साहित्यिक एवं वैज्ञानिक शैली में उपस्थित किया गया है अतः उनका भिन्न महत्त्व स्पष्ट है।

१०—विश्व-साहित्य मे रामचरितमानस—श्री राजबहादुर लमगोड़ा ने इस शीर्षक से प्रकाशित दो ग्रथों में से एक के अतर्गत 'मानस' के कई अन्य पक्षों के साथ-साथ उसकी भाषा के कला-पक्ष का उद्घाटन भी तुलनात्मक एवं रोचक शैली मे उपस्थित किया है जो, संक्षिप्त और कुछ रूढ़िगत होते हुए भी, कम प्रभावशाली नहीं है। खेद है कि विस्तृत विवेचन के लिए उन्हें अवकाश नहीं मिल सका। उनकी पैनी समालोचना-दृष्टि से इस दिशा में बहुत कुछ आशा की जा सकती थी।

११—विशाल भारत मे प्रकाशित कतिपय निबंध—यहाँ पर हमारा तात्पर्य श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की उस लेखमाला से है, जिस के अन्तर्गत उन्होंने श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित सटीक रामचरितमानस के पाठ तथा उस ग्रंथ की भूमिका से संबंध रखने वाली कतिपय अनर्गल बातों की अपने ढग पर तीव्र आलोचना की है, जो पाठक पर सीधी चोट करती है। विशाल भारत के सन् १९३८—३९ के अकों में उसका रूप देखने को मिलेगा। इसमे कोई सन्देह नहीं कि खीझ और रोषावेश की मात्रा अधिक प्रबल होने के कारण उनके द्वारा 'मानस' की भाषा के स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु उनके भीतर एक प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण की जिस अभिरुचि का पता चलता है, वही उनकी अपनी सामयिक उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

१२—तुलसी के चार दल—श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने अपने इस ग्रथ मे पहली बार तुलसी के चार छोटे ग्रंथों—रामललानहछू, बरवै रामायण, जानकीमगल और पार्वतीमगल—के, जो आकार में बृहत् न होते हुए भी भाषा-शैली और काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं कहे जा सकते, विवेचन की ओर ध्यान दिया है। इसी विवेचन के अन्तर्गत, यत्रतत्र तुलसी की भाषा के विषय में भी स्फुट किंतु महत्त्वपूर्ण सकेत विद्यमान हैं। इसी दृष्टि से इस कृति की चर्चा भी इस प्रसग में आवश्यक समझी गई।

१३—मानस-व्याकरण—मानस-सघ, रामवन (सतना) से प्रकाशित यह ग्रंथ हिन्दी में रामचरितमानस की भाषा के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष—व्याकरण—के अध्ययन का

पहला प्रयास है। इस दृष्टि से, विषय तत्व की समानता के आधार पर, हम इसे एडविन ग्रीव्स के 'रामायणीय व्याकरण' (नोट्स आन दि ग्रैमर आफ रामायण आफ तुलसीदास) के जोड़ में रख सकते हैं। ग्रथ की उक्त ऐतिहासिक उपयोगिता के विषय में कोई अविश्वास न करते हुए भी, उसमें उपलब्ध सामग्री और उसमें अपनाए गए दृष्टिकोण की वैज्ञानिक उपादेयता सदेह से खाली नहीं कही जा सकती। यह घोषित कर के, कि 'तुलसी ने भाषा शब्द से 'प्राकृत भाषा' का अर्थ ग्रहण किया है, त्रिपाठी जी कदाचित सत्य से बहुत दूर चले गए हैं। वे स्पष्ट लिखते हैं :—

"यह ग्रथ अथ से इति तक प्राकृत भाषा में है और श्लोक भी पृथ्वीराजरायसो के श्लोकों की भाँति प्राकृत में हैं, क्योंकि प्राकृत-नियमों से नियमित हैं और प्राकृत-व्याकरण के अनुसार शुद्ध हैं।"[1]

भारतीय भाषाओं के विकास एव इतिहास के प्रति अपनी अनभिज्ञता पर आवरण डाल कर जान अथवा अनजान में त्रिपाठी जी ने एक तथ्य की अवहेलना की है, और पाठकों पर भी उस भ्रान्त धारणा को लादना चाहा है। भाषा के इतिहास का थोड़ा भी जानकार व्यक्ति इस बात को भली भाँति समझता है कि हिन्दी क्रमश. सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश की अवस्थाओं के बीच विकसित होती हुई अपने आधुनिक रूप में आई है और तुलसी के बहुत पहले कबीर, जायसी प्रभृति कवियों के काल में ही साहित्य-क्षेत्र के अन्तर्गत प्राकृत न तो बोलचाल की और न साहित्य की ही भाषा के रूप में प्रचलित रह पाई थी।

इस ऐतिहासिक दृष्टि से न विचार कर साधारण दृष्टि से ही देखें, तो भी तुलसी का केवल अपने एक ग्रन्थ में एक स्थन पर 'प्राकृत कवि' (जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषाँ जिन्ह हरिचरित बखाने ॥*) का उल्लेख, उनकी भाषा को 'प्राकृत' का अर्थ दे देने में असमर्थ है। यहाँ पर 'भाषा' से हिन्दी के अर्थ का तथा 'भाषा-व्याकरण' से हिन्दी-व्याकरण के ही अर्थ का बराबर ग्रहण होता आया है, न कि 'प्राकृत' का।

और अधिक विस्तार में न जाकर इस ग्रथ के गौरव के सबध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके पढने से 'थोड़ा बहुत' 'सस्कृत-भाषा में प्रवेश', 'प्राकृत और हिन्दी के भी थोड़े बहुत नियमों से परिचय', 'व्याकरण के अध्ययन की ओर रुचि' और 'मानस के यथार्थ अर्थ लगाने में सहायता' का उद्देश्य भले ही कुछ न कुछ सिद्ध हो जाता हो, किन्तु मानसकार के भाषाविषयक आदर्श एव दृष्टिकोण को यथेष्ट रूप में प्रस्तुत करने में इसे सफलता नहीं मिली। तथापि 'मानस' के अधिकाश व्याकरणिक रूपों के कुछ विस्तृत सकलन और विश्लेषण का प्रयत्न इसमें प्रत्यक्ष है।

दूसरे वर्ग अर्थात् तुलसी विषयक स्फुट टीकाओं और कोष-ग्रन्थों की सूची पर

१—विजयानंद त्रिपाठी · मानस-व्याकरण, प्राक्कथन पृ० २

* रा० १.१४

हमारी दृष्टि जाती है तो उनमे से अधिकाश को तुलसी के रामचरितमानस पर ही विशेष केन्द्रित पाते हैं। श्री जयगोपाल बोस के 'तुलसीशब्दार्थप्रकाश' और श्री महावीर प्रसाद मालवीय के 'विनय-कोष' को छोड़ कर शेष सभी में किसी न किसी रूप और मात्रा में 'मानस' के शब्दों की सूची अथवा उनकी टीकाओं के संकलन का प्रयत्न विद्यमान है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ तथा श्री अमीर सिंह का 'मानस-कोष' श्री रघुनाथदास का 'मानस-कोष' शैली की दृष्टि से किसी विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते, और लगभग एक ही ढग की सामग्री उपस्थित करते हैं। केवल श्री शीतला सहाय सावन्त के 'मानस-पीयूष' और डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री की 'मानस-शब्दानुक्रमणिका' के संबंध में दो शब्द कहना आवश्यक है।

१—मानस-पीयूष—वैसे स्वरूपतः इस ग्रन्थ का संबंध सीधे तुलसी अथवा तुलसी के रामचरित-मानस की भाषा से न होकर, 'मानस' के विभिन्न टीकाकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थों एवं व्याख्याओं को एकत्र करके, उसके बहुत से प्रयोगों की कलात्मक विशेषताओं के आंशिक उद्घाटन से है। संकलनात्मक शैली का विशेष सहारा लेने के कारण ग्रन्थ मे संपादक द्वारा किसी प्रकार के मौलिक शोध अथवा अध्ययन का सूत्र ढूँढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा। फिर भी इस प्रसंग में इस ग्रन्थ की चर्चा करने का मूल आधार यही है कि तुलसी की भाषा के एक पक्ष—कलापक्ष—की दिशा में इस कृति मे एकत्रित सामग्री अत्यन्त उपयोगी है।❀

२. मानसशब्दानुक्रमणिका (Index Verborum of the Ramayan of Tulsidas)

'मानस' की शब्दावली को दृष्टि में रख कर लिखित अन्य सभी कोष-ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ में विशेष आधुनिक एवं वैज्ञानिक शैली का उपयोग किया गया है और यही इसकी प्रमुख विशेषता है। यद्यपि सामग्री सर्वथा दोष-रहित नहीं कही जा सकती, उदाहरणार्थ 'मानस' में 'मेघनाद' के लिए प्रयुक्त दूसरे शब्द 'घननाद' को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में न ग्रहण करके उसका अर्थ केवल 'बादल की गर्जना' करना तुलसी की शैली से अनभिज्ञता प्रगट करता है। किन्तु ऐसे स्थल और नहीं हैं और इसमे ग्रन्थ की ऐतिहासिक उपयोगिता कम नहीं होती।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत गृहीत श्री केलाग का 'हिन्दी-व्याकरण', श्री ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे', डॉ० सक्सेना का 'एवोल्यूशन आफ़ अवधी' (अवधी का विकास), डॉ० वर्मा का 'व्रजभाषा-व्याकरण' तथा डा० बड़थ्वाल के ('मकरन्द' में संगृहीत)

❀ प्रसंगवश यहाँ पर भी सूचित कर देना आवश्यक होगा कि 'मानस-पीयूष' की ही कोटि की एक दूसरी कृति उसी संपादक द्वारा बहुत शीघ्र प्रस्तुत की जाने वाली है और यह है 'विनय-पीयूष', जिसका संबन्ध तुलसी की विनयपत्रिका से है और जिसका कुछ अंश प्रकाशित हो चुका है।

कुछ निबन्धों के विषय में थोड़ा विवरण आवश्यक है जो संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :—

१. हिन्दी-व्याकरण (ग्रेमर आफ हिन्दी लैंग्वेज)—यह प्रधानतः एक व्याकरण-ग्रन्थ है और वस्तुतः तुलसी की भाषा से इस का कोई सीधा संबंध नहीं स्थापित होता, क्योंकि इस ग्रन्थ का विषय है हिन्दी की कई प्रमुख बोलियों के भेदक व्याकरणिक लक्षणों का विश्लेषण। किंतु इसी के भीतर केलाग महोदय ने तुलसीदास की रामायण की भाषा को भी उन्हीं बोलियों के अन्तर्गत एक भिन्न एवं विशिष्ट स्थान दे कर उसके कतिपय व्याकरणिक रूपों की छान-बीन में भी प्रवृत्त होकर अपने कार्य को अधिक उपयोगी बना दिया है। केलाग ने अपने ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में रामायण-भाषा को 'प्राचीन पूर्वी' (ओल्ड पूर्वी) तथा द्वितीय में 'प्राचीन बैसवाड़ी' (ओल्ड बैसवाड़ी) के नाम से पुकारा है। यद्यपि उन्हें तुलसी की अन्य कृतियों की भाषा के संबंध में कुछ कहने का अवसर नहीं मिला है और इस दृष्टि से तुलसी की भाषाविषयक सामान्य प्रवृत्तियों के उद्घाटन के क्षेत्र में उनका कार्य अधूरा ही समझा जायगा, फिर भी 'मानस' के संबंध में ही जो प्रयास उन्होंने किया है, वही उनको इस दिशा में एक अन्वेषक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। उनकी धारणाएँ कहीं कहीं भ्रान्त एवं सन्दिग्ध भी हो गई हैं, जैसे पूर्वी, बैसवाड़ी और अवधी के स्वरूप-भेद के संबंध में। इसकी चर्चा आगे यथा-स्थान की जायगी। इस प्रकार ऐसे काल में, जब कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भाषाविषयक अध्ययन बहुत कम हुआ था, केलाग के हिन्दी-व्याकरण में उपलब्ध सामग्री का ऐतिहासिक महत्त्व है।

२. ग्रियर्सन का लिंग्विस्टिक सर्वे—सर्वे के अंतर्गत हिन्दी-प्रदेश की बोलियों की चर्चा करते हुए प्रासंगिक रूप से तुलसी की भाषा के विषय में भी थोड़ा विवेचन मिल जाता है। विशेषकर अवधी के विवेचन के भीतर आए हुए उल्लेख उपयोगी हैं। उनके निम्नलिखित आशय के शब्द तुलसी की भाषाशक्ति के विषय में उनकी धारणा की ओर जो संकेत करते हैं, वे भी उनके यत्रतत्र उपलब्ध भाषावैज्ञानिक निर्देशों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं :—

"तुलसी जैसे प्रतिभाशाली कवि की, जिसका नाम किसी दिन सर्वसम्मत रूप से संसार के महान कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित होगा, कृतियों की भाषा इतने विपुल शब्द-भांडार से परिपूर्ण है और उच्चारण में इतनी मधुर और चौपाई-दोहा-पद्धति के लिए इतनी अधिक उपयुक्त है कि इस माध्यम का उपयोग करने में मध्यम स्तर के लेखक भी कुछ सीमा तक सफल हो ही जाते हैं।[१]"

सारांश यह कि अपनी सीमाओं के भीतर परिस्थितिजन्य अभावों के बावजूद (इन अभावों का थोड़ा-बहुत संकेत आगे 'बैसवाड़ी अवधी' का विवेचन करते समय

---

१ जार्ज ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड ६, अध्याय १, पृष्ठ १२

किया जायगा) डा० ग्रियर्सन का कार्य हमारे अध्ययन की दिशा में कई दृष्टिकोणों से पर्याप्त महत्त्व का सिद्ध होता है।

३. एवोल्यूशन आफ़ अवधी—डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपने इस ग्रंथ में अवधी-बोली के विकास क्रम का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। साथ ही कुछ अन्य अवधी-ग्रंथों के अतिरिक्त तुलसी के रामचरितमानस को भी आधाररूप में ग्रहण किया है। अवधी के इतिहास-क्रम में 'प्राचीन अवधी' और 'आधुनिक अवधी' इन दो वर्गों की स्थापना करते हुए 'प्राचीन अवधी' के लगभग सारे ही रूपों को जायसी के 'पद्मावत' और तुलसी के 'मानस' में ही खोजने का प्रयत्न किया है। फलतः इस ग्रंथ के भीतर 'मानस' के बहुत से व्याकरणिक रूपों का सोदाहरण संकलन प्रस्तुत हो गया है। परंतु सक्सेना जी की दृष्टि प्रधानतः तुलसी की भाषा पर न होकर अवधी पर केन्द्रित रही है। उनके अध्ययन का दृष्टिकोण भिन्न है, फिर भी हमारे कार्य में विशेष सहायक हुआ है। कतिपय रूपों की व्युत्पत्ति पर भी भाषावैज्ञानिक टिप्पणियों की योजना होने से उनका विवेचन और भी उपयोगी हो गया है। अस्तु, तुलसी की भाषा में सर्वप्रमुख स्थान रखने वाली एक बोली 'अवधी' के भाषावैज्ञानिक विकास एवं व्याकरणिक विश्लेषण का प्रथम विस्तृत प्रयास होने के कारण यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

४. व्रजभाषा-व्याकरण—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की इस कृति का कोई सीधा संबंध तुलसी की भाषा से न होकर व्रजभाषा के व्याकरण से ही है, परन्तु इसके अन्तर्गत उन्होंने तुलसी के दो ग्रंथों—'कवितावली' तथा 'गीतावली' के कुछ प्रमुख प्रयोगों का समावेश व्रजभाषा के व्याकरणिक रूपों के उदाहरणों के रूप में कर दिया है। इसी से अत्यन्त अल्प सामग्री रखते हुए भी यह ग्रंथ प्रस्तुत अध्ययन की दिशा में पथप्रदर्शन करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ पर भी वर्मा जी का विशेष ध्यान व्रजभाषा के व्याकरण पर ही रहने से तुलसी के व्रजभाषा-प्रयोगों का कोई विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण नहीं हो सका, और न ऐसा करने का विशेष अवकाश ही था, क्योंकि अन्य व्रजभाषा-कवियों की शब्दावली में प्राप्त प्रयोगों को भी उचित महत्त्व देना आवश्यक ही था। वस्तुतः वर्मा जी का कार्य एक प्रकार से तुलसी की भाषा की छानबीन करने की आवश्यकता एवं पद्धति की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। कम से कम इस ग्रंथ को यह गौरव तो प्राप्त ही है कि उसमें हिन्दी-भाषा के माध्यम से एक ऐसी बोली के साहित्यिक रूपों के वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास किया गया है जिसका प्रयोग तुलसी ने अपनी भाषा की कलात्मक योजना में प्रचुरता से किया था। साथ ही यह ग्रंथ तुलसी की व्रजभाषा-प्रधान रचनाओं के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है।

५. मकरन्द—डॉ० बड़थ्वाल के कतिपय स्फुट निबंधों के इस संग्रह के अन्तर्गत एकाध स्थलों पर कुछ अत्यन्त सामान्य प्रसंगों पर कुछ ऐसी मौलिक छानबीन की वैज्ञानिक पद्धति दृष्टिगोचर होती है, जिससे तुलसी की भाषाविषयक अध्ययन की ओर खोजपूर्ण दृष्टि उपलब्ध होती है, उदाहरणार्थ 'ज्ञ' के हिन्दी उच्चारण पर विचार करते हुए 'रामचरित-मानस' में प्रयुक्त 'ग्य' के उच्चारण का, 'मेलणो' शब्द की कहानी, के

अंतर्गत 'मानस' में उपलब्ध 'मेलना' शब्द के विविध प्रयोगों का विस्तृत विवेचन इसमें मिलता है। कहीं-कहीं तुलसी की भाषा की कलात्मक पूर्णता की ओर भी उन्होंने सूक्ष्म संकेत किए हैं, जो अत्यन्त अल्प होते हुए भी उपयोगी हैं।

उपर्युक्त सामग्री के इस संक्षिप्त विवेचन एवं परीक्षण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी की भाषा के सर्वांगीण अध्ययन का एक भी वैज्ञानिक प्रयत्न अभी तक नहीं हो सका। थोड़ा-बहुत यदि हुआ भी है तो पूर्ण नहीं। हाँ, जहाँ तक उक्त सामग्री के ऐतिहासिक महत्त्व एवं सामयिक उपयोगिता का प्रश्न है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इन पंक्तियों के लेखक ने इस सामग्री का उपयोग बराबर किया है।

प्रस्तुत अध्ययन की रूपरेखा निर्धारित करने में कोई एक ग्रन्थ निश्चित पथ प्रदर्शन नहीं कर सका। पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध अध्ययन* के आधार का भी, उसके शास्त्रीय दृष्टि से नितान्त अभारतीय होने से, बहुत अल्प उपयोग किया जा सकता था। फलतः कुछ स्फुट स्थलों को छोड़कर सारे प्रबंध के विषय-विभाजन, विवेचन-शैली तथा विश्लेषण-पद्धति इत्यादि सभी क्षेत्रों में स्वच्छंदता का अनुसरण किया गया है। अस्तु, हम प्रस्तुत अध्ययन के विशेष मौलिक अंशों की ओर संकेत करते हुए उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रस्तुत प्रबंध पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'विषय-प्रवेश' शीर्षक से पूर्व पीठिका है, जिसके अन्तर्गत प्रधानतः तुलसी की भाषाविषयक पृष्ठभूमि तथा उनका सामान्य दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है, साथ ही इस तथ्य की ओर भी संकेत किया गया है कि तुलसी का प्रयत्न 'भाषा' (लोकभाषा) के व्यवहार की परंपरा में अपना निजी महत्त्व रखता है।

द्वितीय अध्याय 'व्याकरणिक विवेचन' से संबंधित है, जिसके अन्तर्गत तुलसी की समस्त रचनाओं में उपलब्ध शब्दावली का विश्लेषण एवं विवेचन हिन्दी-व्याकरण की सीमाओं के भीतर रहकर किया गया है। व्याकरणिक रूपों के संकलन में तथा उनकी व्युत्पत्ति के विवेचन में यत्रतत्र कई पूर्वलिखित ग्रंथों से स्फुट रूप में पर्याप्त सहायता मिली है। इनमें केलाग का 'हिन्दी ग्रैमर', एडविन ग्रीव्स का 'रामायणीय व्याकरण', डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'एवोल्यूशन आफ अवधी' तथा डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का 'ब्रजभाषा व्याकरण' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु कवि की व्याकरणविषयक मान्यताओं का निर्धारण, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विभिन्न व्याकरणिक रूपों का विवेचन तथा उनके आधार पर यत्रतत्र नवीन व्याकरणिक नियमों का अनुसंधान आदि लेखक के निजी प्रयत्न के फलस्वरूप हैं।

तृतीय अध्याय 'भाषावैज्ञानिक विश्लेषण' शीर्षक से लिखा गया है। इसके अंतर्गत तुलसी की समस्त रचनाओं में उपलब्ध विविध भाषाओं एवं बोलियों के प्रयोगों

---

* ऐसे ग्रंथों में ऐबट के 'शेक्सपीरियन ग्रैमर' जैसे ग्रंथों की चर्चा की सकती है।

का विश्लेषण किया गया है। साथ ही इस भाषावैज्ञानिक विविधरूपता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसके मूल में विद्यमान कवि के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ प्रयोगों के संकलन में श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'तुलसीदास की कविता' तथा उन्हीं के द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' की भूमिका से उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई है।

चतुर्थ अध्याय 'कला-पक्ष' पर है, जिसके अंतर्गत काव्य-शास्त्रीय एवं सामान्य दोनों दृष्टियों से तुलसी की भाषा की कलात्मकता की छानबीन की गई है। यह छानबीन अत्यन्त संक्षेप में है। इसका विशेष कारण यह भी रहा है कि तुलसी की भाषा के अलंकारों, गुणों और चमत्कारों के विषय में स्फुट रूप से यत्रतत्र बहुत कुछ लिखा गया है और इसका अधिक विस्तार पिष्टपेषण मात्र होता। इस अध्याय में लेखक ने केवल कुछ चुनी हुई बातों को, जिनसे उसे कुछ मौलिक निष्कर्ष निकालने थे, विस्तार से लिया है। शेष बातों की ओर संकेत मात्र कर दिया गया है। सामग्री प्रायः पूर्व परिचित होते हुए भी लेखक के विवेचन का ढंग और उसके मानदंड बहुत कुछ अपने हैं। आधार-रूप में काव्यशास्त्र-विषयक संस्कृत और हिन्दी-ग्रन्थों का उपयोग किया गया है।

पंचम अध्याय 'तुलसी की शब्दावली में सामाजिक एवं सांस्कृतिक संकेत' शीर्षक से लिखा गया है। यह अध्याय वर्ण्य-विषय, विवेचन-शैली तथा निष्कर्ष-विधान सभी दृष्टियों से मौलिक कहा जा सकता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत तुलसी के ग्रन्थों में उपलब्ध शब्दावली मात्र के आधार पर तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से संबंधित संकेतों को खोजने का प्रयत्न किया गया है।

'उपसंहार' के रूप में, अत्यंत संक्षेप में भाषा-सम्राट् के नाते तुलसी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन है। साथ ही अन्य अध्यायों में उपस्थित विवेचन के आधार पर तुलसी की भाषा के संबंध में लेखक ने अपने निष्कर्षों का साराश प्रस्तुत करते हुए इस कोटि के अध्ययन की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

प्रथम परिशेष के अन्तर्गत 'भाषा के आधार पर तुलसी का रचनाओं का वर्गीकरण', द्वितीय परिशेष में 'भाषा के आधार पर तुलसी की जीवनी और रचनाओं से संबंधित संकेत' तथा तृतीय परिशेष में 'सहायक-ग्रन्थ सूची' प्रस्तुत है।

उदाहरणों के पाठ के लिए, गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'रामचरित-मानस' तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी-ग्रन्थावली दूसरा खंड' का आधार ग्रहण किया गया है। पाठ-निर्धारण की समस्या एक स्वतंत्र विषय है, और विषय को वैज्ञानिक एवं संयत रूप देने के विचार से पाठ के सम्बन्ध में अपना विवेचन जान-बूझकर बचाया गया है।

इस प्रकार तुलसी की भाषा का यथासंभव एक सर्वाङ्गीण अध्ययन उक्त पाँचों अध्यायों के सहारे तथा उक्त ग्रन्थों के पाठ के आधार पर संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत निबंध की मौलिकता और नवीनता के सम्बन्ध में तथा

उसकी रूपरेखा एव आधार-भूत सामग्री के विषय मे लेखक की ओर से इतना निर्देश पर्याप्त होगा।

यहाँ तक तो सहायक सामग्री के इतिहास तथा उसके उपयोग एवं मूल्यांकन की बात हुई। अब दो शब्द इस सामग्री के स्रोत के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक है। विशेष रूप से इस विषय में हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) तथा मानस-सघ (रामवन, सतना, मध्य प्रदेश) व पुस्तकालयों तथा सोरों (एटा), राजापुर (बाँदा) और काशी के तुलसी-सम्बन्धी स्थलों का नाम उल्लेखनीय है, जहाँ की उपयोगी सामग्री के निरीक्षण एव परीक्षण का अवसर लेखक को मिल सका है। इसके साथ ही साथ प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर डॉ० माताप्रसाद गुप्त से भी कुछ ग्रन्थों के विषय में सूचनात्मक सामग्री प्राप्त हुई। इसके लिए लेखक उपर्युक्त सभी केन्द्रों के अधिकारियों तथा डॉ० गुप्त के प्रति आभारी है।

इस ग्रन्थ के लेखन-काल में अन्य अनेक महानुभावों से समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव प्राप्त होते रहे हैं। उन सभी के प्रति लेखक हृदय से आभार मानता है। सर्वप्रथम लेखक लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर डॉ० भगीरथ मिश्र के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है, जिनके अनवरत पथ-प्रदर्शन एव प्रोत्साहन से ही यह कार्य अपने इस रूप में पूर्ण हो सका है। इसके अतिरिक्त वह सर्व श्री डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० रामविलास शर्मा, प० कृष्णविहारी मिश्र, डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल और श्री गोपालचन्द्र सिनहा का भी कृतज्ञ है, जिन्होंने अपने विविध सुझावों से प्रस्तुत निबध को अधिकाधिक सारगर्भित बनाने में हाथ बँटाया है। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० डॉ० दीनदयालु गुप्त का लेखक हृदय से आभार मानता है, जिनकी सद्भावना उसे सदैव उपलब्ध रही है।

यही संक्षेप में इस ग्रन्थ की प्रेरणा, सामग्री एव प्रणयन का इतिहास है। अपनी सारी न्यूनताओं के साथ भी, यदि प्रस्तुत अध्ययन द्वारा भारतीय साहित्य के समालोचना-क्षेत्र में साहित्यकारों की भाषाविषयक वैज्ञानिक छानबीन के कार्य की ओर थोड़ी भी अभिरुचि का आविर्भाव हो सका तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

ग्रन्थ में यत्रतत्र मुद्रण-सबधी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनके लिए लेखक पाठकों का क्षमा-प्रार्थी है।

—देवकीनन्दन श्रीवास्तव

संकेत-चिह्न

ऍ—यह अर्द्ध संवृत ह्रस्व अग्रस्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का अग्रभाग ए की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा बीच की ओर झुका हुआ रहता है, जैसे 'अवधेॅस केॅ द्वारेॅ सकारेॅ गई।'

ऐॅ—यह अर्द्धविवृत ह्रस्व अग्रस्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का अग्रभाग ए की अपेक्षा कुछ नीचा तथा अन्दर की ओर झुका रहता है, जैसे 'सुत गोद कैॅ भूपति लै निकसे।'

ओॅ—यह अर्द्ध संवृत ह्रस्व पश्चस्वर है। इसके उच्चारण में होंठ काफी अधिक गोल किए जाते हैं। प्रधान स्वर की अपेक्षा इसका उच्चारण-स्थान अधिक नीचे की ओर तथा मध्य की ओर झुका रहता है, जैसे 'पुनि लेत सोॅई जेॅहि लागि अरैं।'

औॅ—यह अर्द्धविवृत ह्रस्व पश्चस्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग अर्द्धविवृत पश्च प्रधान स्वर के स्थान की अपेक्षा कुछ ऊपर की तरफ तथा अन्दर की ओर दबा हुआ रहता है और होंठ खुले गोल रहते हैं, जैसे 'अवलोकि हौॅ सोच विमोचन को।'

विशेष चिह्न

√ यह धातु का चिह्न है जैसे सं० √कृ।

* यह चिह्न शब्दों के उन रूपों पर लगाया गया है, जो वास्तव में प्राचीन भाषाओं में व्यवहृत नहीं हुए हैं बल्कि संभावित रूप मात्र हैं, जैसे संस्कृत अहकं * हिन्दी (व्रज) के 'हौं' का संभावित पूर्ववर्ती रूप है।

7 यह चिह्न पूर्वरूप से पररूप के परिवर्तन को बताता है, जैसे सं० तस्य 7 प्रा० तस्स 7 हिं० तासु

< यह चिह्न पररूप से पूर्वरूप के परिवर्तन को बताता है, जैसे हिं० तासु < प्रा० तस्स < सं० तस्य।

संक्षिप्त रूप

१. अप०	अपभ्रंश
२. ई० हिं० ग्रामर	ईस्टर्न हिंदी ग्रामर
३ ए० अ०	एवोल्यूशन आफ अवधी
४. क०	कवितावली
५. क० ग्रै०	'कम्परेटिव ग्रैमर आफ दि माडन इंडियन लैंग्वेजेज़,
६. क० ह० बा०	कवितावली हनुमान बाहुक
७. गी०	गीतावली
८. जा० म०	जानकी मगल
९. दो०	दोहावली
१०. पा० म०	पार्वतीमङ्गल
११. प्रा०	प्राकृत
१२. पृ०	पृष्ठ
१३. बरवै०	बरवै रामायण
१४. बँ० लैं०	'दि ओरिजन'एँड डेवलपमेंट आफ दि बँगाली लैंग्वेज'
१५. रा०	रामचरितमानस
१६. रा० ल० न०	रामललानहछू
१७ रामाज्ञा०	रामाज्ञा-प्रश्न
१८. वि०	विनयपत्रिका
१९. वै० स०	वैराग्यसदीपिनी
२० सो०	सोरठा
२१ स०	सस्कृत
२२ श्रीकृ०	श्रीकृष्णगीतावली
२३. हिं०	हिन्दी
२४. हिं० भा० इ०	हिन्दी भाषा का इतिहास

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

(१-१६)

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश (१-६)

द्वितीय अध्याय

व्याकरणिक विवेचन (१०-१८०)

संक्षिप्त रूप

१.	अप०	अपभ्रंश
२.	ई० हि० ग्रामर	ईस्टर्न हिंदी ग्रामर
३	ए० अ०	एवोल्यूशन आफ अवधी
४.	क०	कवितावली
५.	क० ग्रै०	'कम्परेटिव ग्रैमर आफ दि माडर्न इंडियन लैंग्वेजेज़,
६.	क० ह० बा०	कवितावली हनुमान बाहुक
७.	गी०	गीतावली
८.	जा० म०	जानकी मंगल
९.	दो०	दोहावली
१०.	पा० म०	पार्वतीमङ्गल
११.	प्रा०	प्राकृत
१२.	पृ०	पृष्ठ
१३.	बरवै०	बरवै रामायण
१४.	बैं० लैं०	'दि ओरिजन एंड डेवलपमेंट आफ दि बेंगाली लैंग्वेज'
१५.	रा०	रामचरितमानस
१६.	रा० ल० न०	रामललानहछू
१७	रामाज्ञा०	रामाज्ञा-प्रश्न
१८.	वि०	विनयपत्रिका
१९.	वै० स०	वैराग्यसंदीपिनी
२०.	सो०	सोरठा
२१	सं०	संस्कृत
२२	श्रीकृ०	श्रीकृष्णगीतावली
२३.	हिं०	हिन्दी
२४.	हिं० भा० इ०	हिन्दी भाषा का इतिहास

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

(१–१६)

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश (१–९)

द्वितीय अध्याय

व्याकरणिक विवेचन (१०–१८०)

तृतीय अध्याय

भाषावैज्ञानिक विश्लेषण (१८१-२४६)

चतुर्थ अध्याय

कला-पक्ष (२४७-३१०)

पंचम अध्याय

तुलसी की शब्दावली में सामाजिक और सांस्कृतिक संकेत (३११-३४४)

उपसंहार

प्रथम परिशेष

भाषा के आधार पर तुलसी की रचनाओं का वर्गीकरण

द्वितीय परिशेष

भाषा के आधार पर तुलसी की जीवनी और कृतियों से सम्बन्धित संकेत

तृतीय परिशेष

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

आध्यात्मिक पथ के प्रसिद्ध साधक गोस्वामी तुलसीदास सिद्ध कवि और वाणी के सम्राट् थे। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। साथ ही उनकी रचनाओं की विशेषता इस बात में है कि उनके भीतर उनका अपना भाषाविषयक निजी दृष्टिकोण व्याप्त है। तुलसी का यह दृष्टिकोण वर्षों से साहित्य के अन्तर्गत चली आती हुई लोक-भाषा के व्यवहार की परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है। वे अपनी लगभग सारी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के भीतर समकालीन भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा उनकी विभिन्न रचनाओ में विविध रूप-रगो के साथ विद्यमान है।

सामान्यतः तुलसी के इस दृष्टिकोण को निश्चित रूप देने वाले कारण-रूप दो ही प्रमुख तथ्य हैं; एक तो उनका ऐकान्तिक निजी अध्ययन और अनुभव, दूसरे उनकी पूर्वकालीन अथवा समकालीन विशिष्ट साहित्यिक, सास्कृतिक, राजनैतिक एव धार्मिक परिस्थितियाँ और परपराएँ, जिनके बीच रहकर उन्होने अपने ग्रथो की रचना की। स्वभावतः समन्वयवादी कलाकार होने के नाते तुलसी नें विशुद्ध सस्कृत-भाषा के प्रति पूर्ण श्रद्धा एव सम्मान रखते हुये भी, जनभाषा को अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया। वस्तुत: यही कारण है कि तुलसी ने जीवन के अन्य क्षेत्रो की भाँति भाषा के क्षेत्र मे भी समान रूप से विरोधी मतो एव तथ्यो के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने में स्पृहणीय सफलता प्राप्त की है।

तुलसी की अपनी भाषाविषयक धारणा का सकेत, उनके दो ग्रथो मे हुआ है—(१) दोहावली (२) रामचरितमानस। 'दोहावली' के अन्तर्गत वे कहते हैं :—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच ॥[१]

और 'मानस' में इसी प्रकार का कथन है :—

भाषा बद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई ॥[२]

मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तम:शान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥[३]

---

१ दो० ५७२ २ रा० १, ३१ ३ रा० ७, अन्तिम श्लोक

स्पष्ट है कि दोहावली की पंक्तियों में 'संस्कृत' की अपेक्षा 'भाषा' की सरलता एवं जन-सुलभता तथा 'मानस' की पंक्तियों में कवि की भाषाविषयक व्यक्तिगत अभिरुचि एवं प्रेरणा की ओर संकेत है। यहाँ पर 'भाषा' से तत्कालीन 'जनबोली' का ही अर्थ ग्रहण करना समीचीन होगा।

'दोहावली' और 'मानस' में उपलब्ध कथनों के आधार पर तुलसी का आशय बहुत कुछ इस प्रकार का प्रतीत होता है कि जनोपयोगी एवं लोकप्रिय साहित्य का माध्यम जनभाषा ही हो सकती है। इस प्रकार उनका भाषाविषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ जनहित को ध्यान में रखते हुए निर्मित हुआ है।

तुलसी की यह विचारधारा उन्हीं के कुछ पूर्ववर्ती कबीर की निम्नलिखित भाषाविषयक घोषणा का कितना निकट से समर्थन करती जान पड़ती है :—

संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर।[1]

कबीर और तुलसी के भाषादर्श ऊपर से देखने में एक जान पड़ते हैं, किन्तु दोनों में बड़ा सूक्ष्म अन्तर है जो तुलसी के दृष्टिकोण की भिन्न विशेषता की ओर इंगित करता है। कबीर 'संस्कृत' की तुलना 'कूप जल' से तथा 'भाषा' की 'बहते नीर' से करते हैं और तुलसी क्रमशः 'कुमाच' और 'कामरी' से, किन्तु 'कूप जल' और 'बहते नीर' का भेद सर्वथा उसी कोटि का नहीं कहा जा सकता, जैसे 'कुमाच' और 'कामरी' का। समता केवल एक बात में है, वह इसमें कि 'बहते नीर' और 'कामरी' की भाँति जनबोली अधिक सुविधा-जनक एवं व्यवहारोपयोगी है। 'बहता नीर', 'कामरी' और 'जनभाषा' इन तीनों वस्तुओं तक राजा से लेकर रंक तक सारी जनता की पहुँच बराबर रहती है किन्तु 'बहते नीर' की भाँति जनभाषा में जो स्वच्छंद क्षेत्र एवं स्वाभाविक प्रवाह रहता है, उसकी कोई भी समता क्लिष्ट एवं दुरूह संस्कृत से, जो कबीर की उपर्युक्त पंक्ति के अनुसार 'कूप जल' की भाँति एक संकुचित सीमा में आबद्ध तथा साथ ही दुर्लभ है, नहीं हो सकती। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि संस्कृत सचमुच कबीर जैसे व्यक्तियों के निकट 'कूप जल' के समान दुर्लभ थी, दुर्बोध थी। इसी से कबीर का संस्कृत को 'कूप जल' की समता देना, तत्कालीन जनता के बोध-स्तर का प्रतिनिधित्व तो अवश्य करता है, किन्तु संस्कृत भाषा के प्रति उनके परिचयाभाव के कारण उनकी इस उक्ति में आधिकारिकता का स्वर नहीं आ पाता। दूसरी ओर तुलसी संस्कृतज्ञ थे, इसलिए उनकी दृष्टि में संस्कृत 'कूपजल' न थी, दुर्बोध न थी, किन्तु फिर भी वे उसकी 'कुमाच' से समता दे कर 'कामरी' जैसी जन भाषा को ही प्रधान माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी उक्ति का आशय बहुत कुछ इस प्रकार का है कि संस्कृत 'कुमाच' अर्थात् 'दुशाला' की भाँति स्वयं उनके लिए सुलभ होते हुए भी जन-साधारण के स्तर के निकट अपने को रखने में उनके लिए इतनी सहायक न होती,

---

१ सद्गुरु कबीर साहब का साखी ग्रंथ—भाषा को अंग, साखी १ पृ० २७६ (प्रकाशक श्रीमान् १०८ महंत श्री बालकदास जी साहब, बड़ौदा)

जितनी 'कामरी' सी सस्ती भोली-भाली जन-भाषा। यह बहुत सभव है कि कबीर ने भी जान-बूझ कर अपने 'कूप जल' मे जनता के ही सस्कृत-विषयक-ज्ञानाभाव का निर्देश करना चाहा हो और इस प्रकार लोकहित का ध्यान रखते हुए अपनी बात कही हो, न कि सस्कृत के प्रति अपनी अश्रद्धा व्यक्त करने के लिए। हमारे उक्त विवेचन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि तुलसी का दृष्टिकोण सर्वथा उसी कोटि का नही कहा जा सकता, जैसा कबीर का। तुलसी मे सस्कृत को विशेष प्रश्रय न मिलते हुये भी उनमे उसके प्रति श्रद्धा की झलक विद्यमान है। सस्कृत है तो 'कुमाच' ही, जो जन-भाषा-रूपी 'कामरी' से कही आकर्षक एव मूल्यवान पदार्थ है, किन्तु तुलसी जनकवि होने के नाते 'कुमाच' के स्थान में 'कामरी' से ही काम चला लेना अधिक पसन्द करते हैं।

तुलसी की इस धारणा का बीज बहुत कुछ कबीर के भी पूर्ववर्ती अपभ्रश अथवा पुरानी हिन्दी के कवि स्वयभूदेव तथा मैथिल-कवि विद्यापति जैसे कलाकारो में भी खोजा जा सकता है, जिनके भाषाविषयक आदर्श में लोकभाषा को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस विषय में स्वयभू के 'रामायण' की निम्नलिखित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

अक्खर-वास-जलोह-मणोहर। सुयलङ्कार-छंद मच्छोहर ॥
दीह-समास-पवाहा-वंकिय । सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय ॥
देसी-*भासा*-उभय-तडुज्जल । कवि-दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ॥
अत्थ-बहल-कल्लोला णिट्ठिय । आसा-सय-सम-ऊह-परिट्ठिय ॥
राम-कहा सरि एंह सोहती ।[1] ....इत्यादि

"अर्थात् अक्षरो का समुदाय ही मनोहर जल-समूह है। सुन्दर अलंकार और छद मत्स्यो के समूह हैं। दीर्घ समास ही वक्र प्रवाह हैं। सस्कृत-प्राकृत-रूपी पुलिन से अलकृत है। देशी भाषा दोनो उज्ज्वल तट हैं। कवि के दुष्कर सघन शब्द ही शिला-तल हैं। अर्थ-बाहुल्य-रूपी तरगों से युक्त है। आश्वासक (सर्ग) प्रवेश करने के लिये तीर्थ (सीढी) है। यह राम-कथा-सरिता इस प्रकार शोभायमान है।"

विद्यापति का भाषाविषयक विचार उनकी 'कीर्तिलता' (प्रथम पल्लव) में इस प्रकार व्यक्त किया गया है :—

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ। पाउँअ रस को मम्म न पावइ ॥
देसिल बअना सब जन मिट्ठा । तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥[2]

अर्थात् संस्कृत भाषा बहुत लोगो को नही (दुर्गम होने के कारण) अच्छी लगती, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती अर्थात् सरस नहीं होती। देशी भाषा सब को मीठी लगती है। इसी से अब हट्ठ मे रचना करता हूँ।

---

१ राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्य धारा, पृ० २६

२ कीर्तिलता—प्रथम. पल्लवः, पृष्ठ ६ (डॉ० बाबूराम सक्सेना द्वारा संपादित।

स्वयभू के 'देसी भासा-उभय-तडुज्जल' तथा विद्यापति के 'देसिल बअना सब जन मिट्ठा' शब्दो मे गूँजने वाला स्वर ही आगे चलकर तुलसी की वाणी मे बोलता है।

भाषाविषयक इस दृष्टिकोण मे तुलसी की जनभाषा के प्रति एक स्वाभाविक अभिरुचि तथा उसकी जनोपयोगिता मे उनका विश्वास तो स्पष्ट हो हो जाता है, परन्तु हिन्दी साहित्य मे तुलसी के समय मे ही एक ऐसी प्रवृत्ति के भी दर्शन होते है, जिसके अनुसार जनभाषा मे रचना करते हुए भी, कवि की सस्कृत के प्रति विचित्र धारणा बनी रहती थी। उसमे जनभाषा को माध्यम के रूप मे ग्रहण करते हुए, एक प्रकार के हीनत्व की भावना विद्यमान रहती थी। केशव इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते जान पडते है, जब वे कहते हैं :—

> भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
> भाषा कवि भो मंद मति, तेहि कुल केशवदास ॥†

केशव इस बात मे एक प्रकार से कबीर और विद्यापति आदि के ठीक विरोधी होकर आते हैं, क्योंकि वस्तुत: कबीर ने सस्कृत मे प्रवेश रखे बिना ही उसको 'कूप जल' कहने का साहस किया था और केशव ने जनभाषा की प्रवाहात्मकता का महत्त्व न समझने के कारण उपर्युक्त विचार हमारे समक्ष रखा। यह तो कबीर की वाणी की शक्ति तथा उनके तीव्र अनुभव का ही मानो परिणाम था, कि उनका कथन पर्याप्त आधार-भूमि न रखने पर भी तथ्य के अधिक निकट आ गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि गोस्वामी तुलसीदास जी केशव की ही भाँति सस्कृत के प्रति तीव्र श्रद्धा तो रखते थे, किन्तु जनभाषा के विषय मे केशव की-सी प्रवृत्ति उनमे क्यो न थी? अनेक कथनो मे बाहर से देखने पर उनकी भावना केशव के सदृश जान पडती है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियो मे :—

> भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी ॥[1]
> राम सुकीरति *भनिति भदेसा*। असमजस अस मोहिं अँदेसा ॥[2]
> *भनिति भदेस* बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी ॥[3]
> स्याम सुरभि पय बिसद अति, सुखद करहिं सब पान।
> *गिरा ग्राम्य* सिय राम जस, गावहिं सुनहि सुजान ॥[4]

किन्तु इसके साथ ही जब निम्नलिखित पक्तियों में निर्दिष्ट उनके भाषाविषयक सकल्प की दृढता तथा उसकी रमणीयता का सकेत करने वाले उल्लेखों पर ध्यान देते हैं, तो कुछ विस्मय-सा होता है —

> स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा *भाषानिबन्ध*मतिमञ्जुलमातनोति ॥[5]

---

१ रा० १, ८, २ रा० १, १० ३ रा० १, १०
४ रा० १, १४ ५ रा० १ आरभिक श्लोक ७
† कविप्रिया—दूसरा प्रभाव, दोहा न० १७

सपनेहुँ साँचेहुँ मोहिं पर, जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, *भाषा भनिति* प्रभाउ॥[1]

जो कवि अपने 'प्रबोध' के लिए अथवा 'स्वान्तःसुख' के लिए ही रचित 'रघुनाथगाथा' के 'भाषा-निबन्ध' को 'अति मंजुल' का विशेषण देने को उत्सुक है, तथा जो 'भाषा भनिति' के प्रभाव को अपने कथन की शक्ति मे महत्त्वपूर्ण मानता है, वह यदि अन्यत्र 'ग्राम्यगिरा' अथवा 'भदेस भनिति' जैसे शब्दों द्वारा अपनी भाषा का गँवारूपन व्यक्त करना चाहता है, उसमें सिवा आत्मदैन्य के प्रदर्शन की वृत्ति के और क्या समझा जाय। इसमे वस्तुतः तुलसी की अनिच्छा होते हुए भी, तत्कालीन केशव जैसे कवियों की भाषाविषयक धारणा के प्रति व्यंग्य विद्यमान है, साथ ही उस समय तक साहित्य के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा मे प्रयुक्त न होने के फलस्वरूप जनभाषा की व्यजना-शक्ति के यथेष्ट उद्घाटन की अपूर्णता की ओर भी सूक्ष्म सकेत किया गया है। अतः यह बात सोलह आने सच जान पडती है कि तुलसी ने जनभाषा को अपनी रचनाओ का माध्यम बनाया था, तो वह विशुद्ध जनोपयोगिता के विचार से तथा पूर्ण गौरव एव आत्म-विश्वास के साथ। सस्कृत के प्रति पूर्ण श्रद्धा होते हुए भी जो उनके 'मानस' तथा 'विनयपत्रिका' के श्लोको तथा स्तोत्रो से और भी स्पष्ट हो जाती है, जनभाषा के प्रति उनमे किसी प्रकार की अनावश्यक हीनता (Inferiority Complex) का भाव नहीं था। सस्कृत छन्दो की रचना में सिद्धहस्त होते हुए भी 'मंजुल-भाषा-निबन्ध' के प्रति उनका आग्रह वस्तुस्थिति को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देता है। देववाणी के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति उनकी मर्यादावादिता को व्यक्त करती है। जनवाणी की उपयोगिता की घोषणा अनावश्यक रूढियों को तोड़ कर प्रगतिशील होने की प्रवृत्ति की द्योतक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है[†] तुलसी की यह प्रवृत्ति एक दम नई न होकर साहित्य मे लोक-भाषा-व्यवहार की एक देशव्यापी परंपरा के भीतर आती है। यह परपरा उनके पहले से ही चली आ रही थी और इसके प्रमुख प्रवर्तक थे धर्म प्रचारक सन्त एव भक्त, जिन्हें जनता के सस्कृत-ज्ञान के स्तर की कमी को देखकर ऐसा जान पड़ा कि साहित्यिक संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा के माध्यम से ही अपने सदेशो एव उपदेशो का प्रकाशन अधिक उपयोगी एवं सुविधाजनक होगा। यद्यपि उनमे से कितनो को ही इस क्षेत्र मे उन रूढ़िवादी सस्कृत-पडितों का उग्र विरोध भी सहना पडा, जो लोक-भाषा मे काव्य के नाम से चिढते थे, क्योकि इससे उन्हे अपने पाडित्य की धाक जमाने तथा देववाणी के प्रचार करने मे बाधा पडने की आशका हो जाती थी। इसी आशंका का प्रमाण जनभाषा में अभगो की रचना के कारण दक्षिण भारत के सन्त तुकाराम पर किए गए पडितो के अत्याचारो मे मिलता है। किम्वदन्तियों मे प्रसिद्ध तुलसीकालीन विरोधी पंडितमडली द्वारा जनभाषा ग्रथ रामचरितमानस के प्रति उग्र अश्रद्धा का प्रदर्शन भी इसी का परिचायक था। आज भी ऐसी संकुचित वृत्ति वाले पडितों की कमी नहीं, जो रामचरितमानस के प्रचार को वेदादि सस्कृत-साहित्य के यथेष्ट प्रचार में बाधक मान कर उसके प्रति एक प्रकार का द्वेष-भाव रखते जान पड़ते

---

१ रा० १, १५ † देखिए पृ० १

है ।[१] इस प्रकार के तीव्र विरोध के समक्ष किसी प्रकार घुटना न टेकने वाले इन आध्यात्मिक धारा के कवियों ने अपना कार्य दृढता के साथ जारी रखा और अन्ततः सफल हुये । तुलसी को भी इन्हीं में से एक ऐसा मध्यममार्गाय व्यक्ति समझना चाहिए, जिसने अपने कतिपय अन्य पूर्वकालीन अथवा समकालीन लोगों की भाँति एकांगी रूप न धारण करते हुए यत्र-तत्र संस्कृत के पुट के साथ जनभाषा का स्वरूप प्रस्तुत करके एक संतुलित एवं लोकप्रिय दृष्टिकोण अपनाया, जो उनके व्यक्तित्व की व्यापकता का परिचायक है ।

तुलसी के भाषाविषयक दृष्टिकोण पर संस्कृत और जनभाषा के द्वन्द्व से सबंधित उपर्युक्त परंपरा एवं आन्दोलन की छाप का निर्देश करके जब हम तत्कालीन सामान्य साहित्यिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालते हैं, तो स्पष्ट विदित होता है कि वे जिस युग में रचना करने बैठे, उस समय समस्त हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में ही नहीं, वरन् उसके बाहर भी दूर-दूर तक काव्य के माध्यम के रूप में एक ही भाषा प्रमुख थी, जो मूलतः एक प्रादेशिक बोली होते हुए भी एक प्रकार से देश भर की साहित्यिक राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी, वह है ब्रज-भाषा ।[२] इसकी पुष्टि ऐतिहासिक तथ्यों से तथा तत्कालीन महापुरुषों के जीवन-

---

१—मुझे स्वयं कुछ वर्ष पूर्व एक ऐसे वयोवृद्ध संस्कृत विद्वान् मिले थे, जो वैदिक साहित्य के अच्छे ज्ञाता तथा तत्सम्बन्धी कई ग्रंथों के सम्पादक एवं टीकाकार थे और बहुत समय तक आर्यसमाज के कार्यकर्ता भी रहे थे। उन्हें इस बात का बड़ा खेद था (जिसे वे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया करते थे) कि जब से तुलसीदास की रामायण का प्रचार बढ़ा, तब से वेदों के प्रति जनता की श्रद्धा तथा उनके अध्ययन की अभिरुचि ही समाप्त हो गई । उनकी समझ में वैदिक साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में तुलसी का रामचरितमानस एक बड़ा भारी कंटक रहा है ।

२—"हमारे सांस्कृतिक जीवन में ब्रजभाषा का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है । उसे उत्तर भारत का सांस्कृतिक माध्यम समझना चाहिये । वह हमारी भक्ति-भावना की विभूति की अनुपम निधि और साहित्य-सुषमा की अभिनव चित्रशाला है । सूरदास और भक्त कवियों ने अपने उद्‌गारों की अमृत वर्षा से इस मधु मधुरवाणी को सिंचित किया और बिहारी आदि कलाकारों ने अपने जगमगाते रत्नों से अलंकृत किया । वैष्णव-आन्दोलन की कृपा से मध्य युग में ही यह ब्रजभूमि की सीमा को लाँघ कर भारतव्यापिनी हो गई । सहृदय भक्त मात्र, बिना किसी प्रान्त भेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा में ही भगवान के सम्मुख आत्म-निवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसी मेहता, चंडीदास आदि सब मराठी, गुजराती, बङ्गाली, वैष्णव सन्तों ने ब्रजभाषा में अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रगट किया है । बंगाली भक्त-समुदाय ने तो अपनी अलग ही 'ब्रजबूली' बना डाली, जो कृत्रिम होने पर भी ब्रजभाषा के अखिल भारतीय महत्त्व को भली-भाँति प्रकट करती है ।"

डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल मकरंद (निबन्ध-संग्रह) पृ० ११७

(सम्पादक—डा० भगीरथ मिश्र)

वृत्त आदि से बराबर हो जाती है। अन्य कवियों की भाँति तुलसी भी इस परिस्थिति के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके, किन्तु उसका उपयोग उन्होंने अपने ही ढग से किया।

तुलसी ने अपने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ, जैसे विनयपत्रिका, श्रीकृष्णगीतावली आदि की रचना प्रायः विशुद्ध ब्रजभाषा मे ही की और इसलिए इसकी लोकप्रियता अथवा व्यापकता की स्वीकृति उनमें भी विद्यमान है ही, परन्तु यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि-कृति रामचरितमानस का माध्यम ब्रजभाषा को न बनाकर अवधी को ही बनाया। वस्तुतः इसके पीछे कई दृष्टिकोण सम्भव हैं, जिनका विशेष विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही निर्देश पर्याप्त होगा कि दोहा-चौपाई-शैली अथवा बरवै अथवा सोहर जैसे लोकछदो की पद्धति पर परम्परागत और सामयिक दोनों ही परिस्थितियो के विचार से अवधी मे काव्य-रचना, ब्रजभाषा की अपेक्षा, स्वभावतः तुलसी को अधिक स्वाभाविक एव सुविधाजनक प्रतीत हुई होगी।

इस प्रकार तुलसी ने समकालीन साहित्यिक मान्यताओं की यथेष्ट मर्यादा रखते हुए भी अपनी मौलिकता एव सारग्राहिता के बल पर अपनी भाषा के स्वतन्त्र विकास को एक व्यापक रूप में उपस्थित किया।

यह हुआ तुलसी का निजी दृष्टिकोण। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक सस्कारो और परिस्थितियो का भी तुलसी की भाषाविषयक प्रवृत्तियो के निर्माण में बहुत बडा हाथ रहा है जिनका सक्षिप्त निर्देश आवश्यक है।

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि तुलसी का युग राजनैतिक दृष्टि से एक ऐसा युग था, जिसका शासन-सूत्र ऐसे मुसलमानो के हाथ मे था, जो अभारतीय भाषा-भाषी तथा बहुत अशों में भारतीय-भाषा-विरोधी थे। इस समुदाय की रग-रग में अपने धर्म और अपनी सस्कृति के साथ-साथ अपनी भाषा के प्रचार की प्रवृत्ति भी बहुत प्रबल थी और किसी न किसी साधन द्वारा उसका भी जनता में प्रचार करना उनका एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम बना हुआ था। यहाँ के सामाजिक जीवन की अन्य अवस्थाओ की भाँति भाषा-सम्बन्धी धारणाओं को भी अधिक तीव्रगति से प्रभावित करने के अभिप्राय से राजकीय क्षेत्र मे तदनुकूल परम्पराएँ चलाई गई। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है सारी भारतीय भाषाओ की अवहेलना करके फारसी को राजभाषा बनाना[1] और जनता को उस माध्यम के सम्पर्क मे अधिकाधिक आने को बाध्य करना। ऐसी दशा मे अपने देशी माध्यम की अवहेलना स्वाभाविक ही थी, जिसके दुष्परिणाम का अवशेष आज भी किसी न किसी रूप मे भुगतना पड़ रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि अकबर जैसे बादशाहो के दरबार मे ब्रजभाषा के कवि वर्तमान थे और स्वयं अकबर भी ब्रजभाषा मे कविता करता था, किन्तु इससे व्यापक वस्तुस्थिति मे कोई विशेष अन्तर नहीं आ सका था। कुछ भी हो, तुलसी को अपने समकालीन अन्य कवियो की भाँति इस क्षेत्र मे

---

१ देखिए सर जदुनाथ सरकार—'इंडिया थ्रू एजेज़', पृष्ठ ४६ तथा मोग़ल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ २३८-२३९।

अनुकूल परिस्थिति के बीच नहीं वरन् एक विपरीत परिस्थिति के बीच रह कर अपना भाषा-विषयक सिद्धान्त निश्चित करना पड़ा। तुलसी ने यहाँ भी एकांगी दृष्टिकोण न ग्रहण कर एक बीच का मार्ग निकालना उचित समझा। संस्कृत और जनभाषा के साथ अरबी, फारसी और तुर्की आदि मुसलमानी भाषाओं के प्रयोगों को उनकी शब्दावली के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में स्थान मिलना उनके इसी सर्वजनसुलभता के उद्देश्य का सूचक है अन्यथा उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व को देखते हुए यह प्रवृत्ति किसी प्रकार भी अनिवार्य नहीं कही जा सकती। बहुतों ने ऐसे प्रयोगों के पीछे तुलसी की घरेलू बोली के स्वाभाविक रूप का दर्शन करना चाहा है, किन्तु एक तो घरेलू बोली के इन खोजियों में अपने एक विशेष मत को किसी न किसी ढंग से पुष्ट करने का निरर्थक प्रयत्न विद्यमान है, दूसरे यह कि घरेलू बोली का प्रयोग होने पर भी तुलसी यदि सिद्धान्ततः कट्टर होते, तो उनमें इतना भाषाधिकार तो था ही, कि वे इन प्रयोगों को सर्वथा बचा जाते। स्वयं उनकी रचनाओं के भीतर ऐसे अंश अलग रखकर देखे जा सकते हैं जिनमें कहीं भी अरबी, फारसी जैसे विदेशी शब्दों का नाम-निशान न मिले।

कहने का तात्पर्य यह कि इस विषय में तुलसी को उस समय की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थिति के कारण ही बाध्य समझना पर्याप्त नहीं है। इससे अधिक तो इसके मूल में अपने समन्वयात्मक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण का निर्वाह करने में तुलसी की सजगता ही विद्यमान है।

धार्मिक परिस्थिति भी अन्य परिस्थितियों की भाँति, कम से कम भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में और तुलसी जैसे धार्मिक कवि की भाषाविषयक धारणा के निर्माण में, अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह एवं विकास को एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर मोड़ देने में समय-समय पर होने वाले धार्मिक आन्दोलनों का भी कम हाथ नहीं रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में, इस धार्मिक परिस्थिति के क्षेत्र में, हिन्दू धर्म की वैदिक धारा की प्रतिक्रिया-स्वरूप जैन एवं बौद्ध धाराओं का तथा जैन एवं बौद्ध धाराओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप पुनः वैदिक एवं पौराणिक धारा का आन्दोलन, एक उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदिक धारा की अन्य बातों की भाँति, उसमें प्रतिष्ठित संस्कृत-भाषा के प्राधान्य का विरोध करते हुए जैनों और बौद्धों ने, क्रमशः प्राकृत और पाली को, जो संस्कृत के शिष्ट साहित्यिक रूप के समक्ष बोलचाल की भाषाएँ थीं, प्राधान्य दिया।

जनता के भीतर उन्होंने अपने अन्य उपदेशों के साथ-साथ अपने इस भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण का भी पर्याप्त प्रभाव डालने का प्रयास किया। परन्तु कुछ समय बाद, जब कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने, उक्त विचारधाराओं के स्थान में, पुनः वैदिक विचारधारा को प्रतिष्ठित किया, तो उस समय अन्य संशोधनों के साथ साथ संस्कृत भाषा को भी पूर्ववत् अपने महत्त्वपूर्ण पद पर लाने के उद्देश्य से जनता को और जनता के ही भावों को किसी न किसी अंश में वाणी देने वाले कविजनों की भाषा पर समुचित प्रभाव डालने में सफलता प्राप्त की। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी साहित्य की पूर्ववर्ती अपभ्रंश-काव्य-धारा में बौद्धों के ही महायान-संप्रदाय के अवशेष बज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी कनफटे

जोगियो की अटपटी वाणी मे तथा उन्ही से न्यूनाधिकाश में प्रभावित, हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा के कबीर आदि सन्त कवियों की 'सधुक्कडी' भाषा मे, सस्कृत भाषा के प्रति जो विरोधी प्रवृत्ति स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है, उसका मूल इसी पुरानी जैन बौद्ध-प्रवृत्ति की, जिसका पीछे सकेत किया जा चुका है, परम्परा[1] में विद्यमान है।

तुलसी के समक्ष एक ओर इतनी उग्रवादी सस्कृत-विरोधियो की परम्परा वर्तमान थी और दूसरी ओर थी कुमारिल और शकर आदि के प्रभाव के कारण पुनर्विकसित वैदिक एव पौराणिक धारा के अनुयायी विशुद्ध सस्कृत-भाषा-पडितो की तथा अधिकाश मे, इन्ही के प्रभाव मे रहने वाले केशव जैसे हिन्दी के कतिपय रूढिवादी पडित कवियो की परम्परा, जो जनभाषा का प्रयोग करते हुए भी उसको महत्त्व देने मे हिचकती थी। तुलसी जैसे सजग कवि की भाषा पर ऐसी धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव जिस रूप मे पडना समुचित और स्वाभाविक था, उसी रूप मे उन्होने इसे ग्रहण किया। जनोपयोगिता के विचार से तो तुलसी उपर्युक्त उग्रवादी परम्परा मे प्रचलित जनभाषा-प्राधान्य के पक्षपाती थे, किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से उक्त वैदिक विचारधारा के प्रबल समर्थक होने के नाते, जिसके सकेत उनकी रचनाओ के अन्तर्गत प्रचुर मात्रा मे बिखरे हुए हैं, संस्कृत भाषा के प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव रखने वाले थे। अतएव उन्होंने अपनी रचनाओ के अन्तर्गत संस्कृत की शब्दावली को भी पर्याप्त मात्रा मे स्थान दिया। जनभाषा के प्रति अपनी आत्मीयता और सस्कृत-भाषा के प्रति श्रद्धा-भाव का साथ-साथ पूर्ण निर्वाह करना, तुलसी जैसे लोकनायक का ही काम था।

---

१ सस्कृत भाषा के प्रति अपनी अश्रद्धा के प्रदर्शन के लिए, कहीं-कहीं अपनी भाषा में कोई अन्य समान तोल का शब्द न मिलने पर किसी संस्कृत शब्द को ही जानबूझ कर विकृत रूप में व्यवहार करना भी, इस परम्परा के लोग अनुचित नहीं समझते थे।

द्वितीय अध्याय

व्याकरणिक विवेचन

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में व्यवहृत भाषा के व्याकरणिक रूपों की छानबीन का विचार आते ही एकाध ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका समाधान किए बिना तुलसी के व्याकरण के सम्बन्ध में किसी निश्चित एवं संतोषजनक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। इनमें विशेष रूप से निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

अ—किसी भी भाषा के व्याकरण के सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों की मान्यता।

आ—भाषा के विषय में कवि की स्वाभाविक स्वच्छंदता।

इ—जनभाषा में उपलब्ध काव्योपयोगी व्यवस्था।

ई—अनेकानेक प्रदेशों में प्रचलित बोलियों के ग्राम्य एवं अव्यवस्थित रूपों और प्रयोगों की विशृंखलता।

उ—इन सारी विरोधी परिस्थितियों के बीच, जो भाषा के संस्कार एवं परिष्कार में बाधा उपस्थित करती हैं, समुचित संतुलन स्थापित करते हुए काव्य-भाषा का एक संगठित एवं व्यापक रूप खड़ा कर देने की पर्याप्त क्षमता।

संक्षेप में इनकी मीमांसा कर देना उचित प्रतीत होता है।

तुलसी कवि—पद्य के माध्यम से अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने वाले लेखक—हैं जिनके लिए यह कठिन ही नहीं वरन् अस्वाभाविक भी था कि वे पग-पग पर व्याकरणिक नियमों का ध्यान रखते हुए अपनी शब्दावली का व्यवहार करते। इस प्रकार की अस्वाभाविक सावधानी से तो केवल कोई ऐसा ही कवि अपनी रचनाओं में प्रवृत्त हो सकता है जिसके मन में भाषा के किसी रूप-विशेष के प्रति असाधारण मोह अथवा आसक्ति हो। हाँ, यह बात दूसरी है कि उसे किसी विशेष भाषा-शैली का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए ही कोई रचना करनी हो, किंतु उस अवस्था में वह कृति बहुत कुछ कृत्रिम ही कही जायगी। जहाँ तक तुलसी का सम्बन्ध है, उन्होंने अपनी रचनाओं के अंतर्गत अवधी और ब्रज का प्राधान्य रखते हुए भी देश के विभिन्न भागों में विद्यमान विभिन्न बोलियों एवं भाषाओं के साहित्य में प्रचलित प्रयोगों को स्थान देने में अपनी उदार वृत्ति का परिचय दिया है जिससे स्पष्ट है कि उनका भाषा के किसी रूप-विशेष के प्रति किसी प्रकार का असाधारण पक्षपात नहीं है। दूसरी परिस्थिति, जिसमें कवि उक्त प्रवृत्ति का अनुसरण करने को बाध्य होता है, तुलसी पर किसी प्रकार लागू नहीं होती। वे तो प्रायः सर्वत्र

'स्वान्तःसुखाय' ही 'रघुनाथगाथा' का 'मंजुल भाषानिबन्ध' प्रस्तुत करने को प्रेरित हुए हैं। कोई दूसरी प्रेरणा उनमें प्राधान्य नहीं ग्रहण कर सकी।

कवि की भाषा की व्याकरणिक छानबीन का स्वरूप गद्यकार की भाषा के व्याकरणिक विश्लेषण से बहुत भिन्न हुआ करता है। यहाँ पर हम कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के आधार पर उसकी भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्षों तक पहुँचते हैं। गद्य-रचना मे प्रायः पूर्वनिर्दिष्ट व्याकरण की कसौटी पर ही हम लेखक की भाषा की परीक्षा किया करते हैं, किन्तु कविता मे कवि को अनेक स्थलों पर गद्य-व्याकरण के पदक्रमादि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों के न पालने की भी छूट रहती है।

कवि जिस भाषा मे रचना कर रहा है उस भाषा का कोई प्रामाणिक व्याकरण कवि के रचनाकाल मे स्थिर हो चुका है या नहीं, यह प्रश्न भी महत्त्व का है क्योंकि बिना व्याकरण-व्यवस्था के कवि द्वारा उसके नियमो के अनुसरण की चर्चा ही व्यर्थ है। तुलसी ने जिस युग में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की उसके बहुत वर्षों पश्चात् हिंदी-भाषा को व्याकरण के टूटे-फूटे नियमो मे बाँधने का प्रयास आरभ हुआ[1]। उस काल तक तो सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के ही व्याकरणो की रचना हो सकी थी जिनका सामान्य प्रभाव-मात्र ही तुलसी तथा तत्कालीन अन्य कवियो द्वारा प्रयुक्त हिन्दी-भाषा पर पड सकता था। ऐसी परिस्थिति मे तत्कालीन कवियों की भाषाविषयक स्वतन्त्रता और निरंकुशता को अपेक्षाकृत अधिक अवकाश मिल जाना अत्यंत स्वाभाविक था। इसी व्याकरणिक परिस्थिति के कारण उस समय के कबीर, जायसी, रहीम प्रभृति अन्य हिन्दी कवियो की शब्दावली मे यत्र-तत्र त्रुटिपूर्ण एव अनियमित प्रयोग मिल जाते हैं, जिनके लिए स्वय कवि उतने उत्तरदायी नहीं जितनी उस समय की भाषा-विषयक परिस्थिति। इस प्रकार वस्तुतः तुलसी के समक्ष भाषा के सम्बन्ध मे कोई भी मान्य व्याकरणिक नियम न था। उनके समय मे बोल-चाल की भाषा मे प्रचलित सामान्य नियम ही उनके पथ-प्रदर्शक थे जिनमे स्वयं ही बहुत कुछ शैथिल्य रहता है। ऐसी अवस्था मे उन्हें अपनी स्वतन्त्र रुचि के अनुसार सामान्य व्याकरणिक 'मान्यताओ को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का पूरा अधिकार था। इसके साथ-साथ प्रकाड पाण्डित्य एव अद्वितीय प्रतिभा का सयोग

---

१ तुलसी के विषय में तो परिस्थिति लगभग वैसी ही है जैसी 'ऐन्द्रवायवग्रह ब्राह्मण' के निम्नलिखित मन्त्रो में वर्णित है। आदि-भाषा में वेदों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो जाने के पश्चात् भाषा के व्याकरण का विधान हुआ :—

"वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीत् वरं वृणे। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वाक्।"

तात्पर्य यह है कि पहले इस भाषा का कोई व्याकरण न था, प्रकृति, प्रत्यय आदि का विभाग-विवेचन न था। तब देवो ने इंद्र से प्रार्थना की कि आप हमारी इस भाषा का व्याकरण बना दें। इंद्र ने तब इस भाषा को बीच से तोड कर, प्रकृति, प्रत्यय, पद आदि के रूप में टुकडे करके व्याकरण बना दिया। तब से यह भाषा व्याकृत हुई।

(देखिए — किशोरीदास वाजपेयी—ब्रजभाषा व्याकरण पृ० ७)

हो जाने के कारण तुलसी अपने पूर्वकालीन, समसामयिक एवं परवर्ती कवियों की अपेक्षा भाषा की व्याकरणविषयक व्यवस्था कहीं अधिक कौशल के साथ कर सकने में समर्थ हो सके। यही कारण है कि उनकी भाषा के व्याकरण का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

तुलसी जनभाषा में रचना करने वाले कवि थे। जनभाषा और साहित्यिक भाषा का अन्तर स्वाभाविक रूप से ही इस प्रकार का होता है कि साहित्यिक भाषा के माध्यम से रचना करने में व्याकरणिक नियमों का अनुवर्तन अधिक सरल हुआ करता है क्योंकि वह पहले से ही यथेष्ट रूप में परिमार्जित एवं व्यवस्थित रहती है, किन्तु जनभाषा को साहित्यिक रूप देने के प्रयास में इस प्रकार की सुविधा नहीं रहती क्योंकि बोलचाल की भाषा होने से उसमें अधिक प्रयोग-स्वातन्त्र्य रहा करता है। फलतः जनभाषा-कवि में विशेष सावधानी अपेक्षित है। तत्कालीन जनभाषा और साहित्यिक भाषा के भेद को व्यक्त करने के लिए एक वाक्य में ऐसा कह सकते हैं कि उस समय व्रजभाषा ही शिष्ट साहित्यिक भाषा के पद पर सुशोभित थी और अन्य बोलियाँ जनभाषा के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। यद्यपि जायसी जैसे कुछ कवियों द्वारा अवधी बोली में भी साहित्य रचा जा रहा था, परन्तु इस बोली को सामान्य हिंदी-काव्य-क्षेत्र में उस समय इतनी अधिक व्यापकता नहीं मिल पाई थी जितनी व्रजभाषा को। अवधी का साहित्यिक प्रयोग हिंदी के पूर्वी क्षेत्र तक ही सीमित था, किंतु व्रजभाषा हिंदी के पश्चिमी क्षेत्र की सीमा को पार कर बाहर दूर तक काव्यभाषा के रूप में प्रचलित हो चुकी थी। यहाँ पर हम हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रचलित भाषा तक ही अपने को सीमित रख कर विचार कर रहे हैं। व्रजभाषा का व्यापक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचार था, इस के प्रमाण में 'व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानों'[1], जैसे तुलसी के परवर्ती आचार्यों तक के शब्दों का साक्ष्य प्राप्त है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी इस संबंध में यही घोषित करते हैं।[2] इस दृष्टि से तुलसी की कुछ रचनाएँ जैसे विनयपत्रिका, कवितावली और श्रीकृष्णगीतावली आदि तत्कालीन साहित्यिक भाषा में रचित कही जा सकती हैं, किन्तु अन्य कई रचनाएँ, जिनमें उनका सबसे विशाल और प्रमुख ग्रंथ रामचरितमानस भी सम्मिलित है, अवधी में, जो तत्कालीन बोलियों में

१—आचार्य भिखारीदासः काव्यनिर्णय
अध्याय १, छंद १६।

२ "सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में व्रजभाषा समस्त हिन्दीभाषा-भाषी प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान ली गई। इसी समय हिंदी की पूर्वी बोली—अवधी - का भी जायसी और तुलसी द्वारा साहित्य में प्रयोग किया गया। किन्तु यद्यपि अवधी में लिखा गया रामचरित-मानस हिन्दी-भाषियों का प्राण है, किन्तु तिस पर भी सर्वसम्मत साहित्यिक भाषा का स्थान अवधी को नहीं मिल सका। हिन्दी-भाषी प्रदेश ही क्या, इसके बाहर बंगाल, बिहार, राजस्थान, गुजरात आदि में भी कृष्णभक्तों के बीच व्रजभाषा का विशेष आदर हुआ और इसकी छाप इन प्रदेशों की तत्कालीन साहित्यिक भाषा पर अमिट है। रहीम, रसखान आदि मुसलमान कवि भी इसके जादू से नहीं बच सके।"

—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा 'व्रजभाषा व्याकरण'—भूमिका – पृष्ठ १२, १३।

प्रमुख स्थान रखती है, प्रस्तुत की गई हैं। वस्तुतः तुलसी की मौलिक प्रतिभा अधिकांशतः दूसरे ही वर्ग मे अभिव्यक्त होने के कारण इस वर्ग मे अवधी-भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयास उनकी भाषा के व्याकरणिक पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इसका अभिप्राय यह भी हुआ कि अवधी के व्याकरणिक रूपों का व्यवहार उनकी भाषा की विन्यास-शक्ति को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करेगा।

अब हम सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर आते हैं और वह यह है कि अनेक बोलियो का स्फुट रूप मे ही नही वरन् एक से अधिक बोलियो का विस्तार के साथ अपनी रचनाओ मे व्यवहार करनेवाले तुलसीदास की भाषा की एक समुचित एव सर्वांगीण व्याकरणिक मीमासा किस भाँति सभव हो! ऐसा तो प्रायः होता है कि एक कवि किसी एक भाषा अथवा बोली मे पूर्ण अधिकार के साथ रचना करता हुआ बीच-बीच मे अपने सम्पर्क अथवा अध्ययन से प्राप्त सस्कार के अथवा कुतूहल के ही वशीभूत होकर अन्य बोलियो अथवा भाषाओं की शब्दावली का प्रयोग करता जाता है। ऐसी परिस्थिति मे उसकी भाषा का व्याकरण निश्चित करने मे कोई विशेष कठिनाई नहीं उपस्थित होती। किन्तु जब हम तुलसी जैसे कवि की रचनाओ के सबंध मे विचार करते हैं तो यही पाते हैं कि वे समान रूप से अवधी और ब्रज, हिन्दी-भाषा की इन दोनों बोलियो पर अधिकार रखते हैं और इस अधिकार का प्रयोग भी इतने अधिक विश्लेषण एव अनुपात के साथ करते हैं कि दोनों बोलियो की रचनाएँ प्रायः अलग-अलग स्पष्ट रूप से नही रखी जा सकतीं। केवल श्रीकृष्णगीतावली जैसी रचनाएँ अपवादस्वरूप हैं जिनमे एक ही भाषा का निश्चित रूप मिलता है। प्रायः सभी रचनाओ मे दोनो बोलियो का रोचक सम्मिश्रण दिखाई पडता है। यही कारण है कि तुलसी की सारी रचनाओं के आधार पर उनकी भाषा के एक सामंजस्यपूर्ण व्याकरणिक स्वरूप तक पहुँचना अत्यत कठिन है, किंतु उनकी सारी रचनाओं मे उपलब्ध व्याकरणिक प्रयोगो को खोज कर, किसी बोली-विशेष के प्रति पक्षपात न रखते हुये (क्योंकि ऐसा करने पर हमारी दृष्टि कवि की भाषा पर नही, वरन् उस बोली के ही प्रयोगो पर बनी रहती है और यह एक भ्रान्त पद्धति है) हम कुछ ऐसे व्यापक व्याकरणिक नियमो तक पहुँच सकते हैं जिनका सहारा प्रायः तुलसी ने अपनी भाषा को व्यवस्थित करने मे लिया है। सामान्य रूप से तुलसी की भाषा का स्वरूप प्रत्यक्ष ही इस प्रकार का है कि उसमे अवधी और ब्रजभाषा के व्याकरण, की सयुक्त व्यवस्था कतिपय मौलिक उद्भावनाओ के साथ हुई है जैसा आगामी विवेचन एव विश्लेषण द्वारा स्पष्ट हो जायगा।

भारतीय भाषाओ के व्याकरण के अन्तर्गत जिन प्रमुख बातो पर विचार किया जाता है उनमे सज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, विशेषण, अव्यय तथा वाक्यरचना का विश्लेषण ही किसी भी कवि की भाषा की व्याकरणिक विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। इस क्षेत्र की अन्य छोटी-छोटी बातो का सकेत इतने से ही मिल सकता है। यही पर यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि तुलसी यद्यपि जनभाषा अवधी तथा तत्कालीन साहित्यिक भाषा ब्रज को ही प्रधानता देकर चलने वाले कवियो में से हैं, किन्तु साथ ही साथ उनकी रचनाओ मे अनेक स्थलो पर सस्कृत, प्राकृत, अरबी, फारसी, तुर्की, गुजराती तथा बगला भाषाओं और भोजपुरी, बुंदेली तथा खडीबोली आदि अन्य बोलियो के रूपो का जो व्यवहार किया गया

है उसकी विविधता का भी प्रभाव सापेक्षिक रूप में उनकी भाषा की गठन पर विद्यमान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह व्याकरण की एक संगठित रूपरेखा निर्माण करने में बाधक होता है, परंतु यह प्रभाव अधिकांशतः शब्दावली के बाह्य रूप-रंग तक ही सीमित रहने के कारण लिंग, वचन और मूल क्रिया-पदों का स्वरूप, जो किसी भी भाषा की निजी विशेषता का प्राण होता है, अपनी मर्यादा में सुरक्षित रहा है। अतः इनके सहारे, उक्त प्रभाव से अछूती रहती हुयी तुलसी की भाषा के व्याकरण की जो व्यापक धारा अवधी और ब्रज को एक साथ आत्मसात् करती हुई दृष्टिगोचर होती है उसको पकड़ कर एक वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाल लेना असम्भव नहीं है। इस प्रकार के संतुलित विश्लेषण का सुगम मार्ग एकमात्र यही हो सकता है कि हम तुलसी की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली का विश्लेषण उपर्युक्त तत्वों के आधार पर करते हुये ही किन्हीं नियमों अथवा विशेषताओं का निर्धारण करें।

संज्ञा

संज्ञा-रूपों के सम्बन्ध में हम तुलसी की भाषा की मुख्य प्रवृत्तियों की छानबीन क्रमशः वचन, लिंग, कारक-रचना, रूप-निर्माण आदि के विश्लेषण के आधार पर करेंगे। सर्वमान्य रूप से संज्ञा के तीन[1] भेद प्रचलित हैं, व्यक्तिवाचक, जातिवाचक तथा भाववाचक।

व्यक्तिवाचक संज्ञा

तुलसी द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ महत्वपूर्ण हैं :—

(अ) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का बहुवचन में प्रयोग—साधारणतः व्यक्तिवाचक संज्ञा किसी व्यक्ति-विशेष की बोधक होती है और सर्वत्र एकवचन में ही प्रयुक्त होती है। बहुवचन में इसका व्यवहार असंस्कृत एवं अव्यावहारिक कहा जायगा, परन्तु तुलसी अपने वाग्चातुर्य के बल पर एक के बाद एक ऐसे प्रयोग इतना निस्संकोच होकर करते चलते हैं मानो उनका निर्दिष्ट व्याकरणिक नियमों से कोई विरोध ही न हो। इस शैली की नवीनता और निरंकुशता में भी पूर्वकालीन परंपरा तथा स्वाभाविकता का जो आभास मिलता है उसी का यह परिणाम है कि साधारण पाठक की दृष्टि में ऐसे प्रयोग खटकते नहीं वरन् कुतूहल जाग्रत करते हैं। ये बहुवचन-प्रयोग दो प्रकार के स्थलों पर किये गये हैं :—

---

१ कुछ हिंदी वैयाकरणों ने संज्ञा के ५ भेद तक माने हैं—व्यक्ति, जाति, गुण, भाव और सर्वनाम। आदम साहब ने एक और भेद क्रियावाचक माना है जिसे 'भाषाभास्कर' में क्रियार्थक संज्ञा कहा गया है। कहीं-कहीं समुदायवाचक और द्रव्यवाचक भेद भी माने गये हैं, किंतु इन सभी वर्गीकरणों में अंग्रेजी-व्याकरण का प्राय अंधानुकरण किया गया प्रतीत होता है, और वस्तुतः वे हिंदी-व्याकरण की स्वाभाविक व्यवस्था से मेल नहीं खाते।
(देखिये कामताप्रसाद गुरु-'हिंदी व्याकरण' पृ० ८२, ८३)

(१) जहाँ एक ही नाम वाले कई व्यक्तियो का बोध कराने की आवश्यकता हुई है।

(२) जहाँ किसी व्यक्ति से सम्बन्धित किसी लोकोत्तर एव असाधारण परिस्थिति सूचित करने का प्रसग उपस्थित हुआ है।

प्रथम प्रकार की व्यक्तिवाचक सज्ञा को कुछ लोगों ने जातिवाचक सज्ञा के रूप मे परिणत हुई माना है।*

ऐसे कुछ प्रयोगों के उदाहरण तुलसी के रामचरितमानस से उद्धृत किए जाते है :—

(क) रावण द्वारा बार-बार आत्म-प्रशंसा किए जाने पर अंगद व्यग करते हुये रावण की अपकर्षसूचक कई पूर्वावस्थाओ की ओर सकेत करते हुये कहते हैं :—

कहु *रावन रावन* जग केते।[1]

इन महु *रावन* तै कवन सत्य वदहि तजि माख।[2]

(ख) इसी प्रकार युद्ध वर्णन के प्रसग में आई हुई निम्नलिखित पक्तियाँ भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं :—

दह-दिसि धावहिं कोटिन्ह *रावन*।[3]

वहु *राम लछिमन* देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे।[4]

रघुपति कटक भालु कपि जेते। जह तह प्रगट *दसानन तेते*॥[5]

मर्दहिं *दसानन* कोटि कोटिन्ह कपट भूभट अकुरे।[6]
सजि सारग एक सर हते *सकल दससीस*।[7]
देखे कपिन्ह *अमित दससीसा*।[8]
प्रगटेसि *बिपुल हनुमान*।[9]

---

*"जब व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग एक ही नाम के अनेक व्यक्तियो का बोध कराने के लिए अथवा किसी व्यक्ति का असाधारण धर्म सूचित करने के लिए किया जाता है तब व्यक्तिवाचक संज्ञा जातिवाचक हो जाती है; जैसे कहु रावण रावण जग केते।"

(देखिए—पंडित कामता प्रसाद गुरु 'हिन्दी व्याकरण' पृ० ८०)

१ रा० ६, २४ २ रा० ६, २४ ३ रा० ६, ६६
४ रा० ६, ८६ ५ रा० ६, ६६ ६ रा० ६, ६६
७ रा० ६, ६६ ८ रा० ६, ६६ ९ रा० ६, १०१

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के बहुवचन-रूपों का प्रयोग राम-रावण-युद्ध के अन्तर्गत रावण की मायामयी असाधारण सिद्धियों के प्रदर्शन का अवसर उपस्थित होने से सम्भव हो सका है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन स्थलों पर बहुवचन-रूपों का प्रयोग एक ही नाम के अनेक व्यक्तियों के लिए नहीं, वरन् एक ही व्यक्ति के अनेक रूपों के लिए हुआ है जिनकी सम्भावना आज के बौद्धिक युग में चाहे कपोलकल्पना ही समझी जाय, परन्तु वह रावण के युग के लिए अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती क्योंकि प्राचीन ग्रंथों के अनुसार उस प्रागैतिहासिक युग में यौगिक और वैज्ञानिक विकास उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका था और उसी युग का चित्र तुलसी ने रामचरितमानस में खींचा है।

(ग) *सती विधात्री इन्दिरा* देखीं अमित अनूप।[1]
देखे *सिव बिधि बिष्नु* अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।[2]
देखे जहँ तहँ *रघुपति जेते*। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते।[3]
अवलोके *रघुपति बहुतेरे*। सीता सहित न बेष घनेरे।[4]

यहाँ पर बहुवचन-रूपों का व्यवहार भगवान के अनन्त ऐश्वर्य तथा उनकी माया की अनन्त व्यापकता का दृश्य उपस्थित करने का प्रसंग आने पर सम्भव हो सका है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के बहुवचन-रूपों का उदाहरण उपस्थित करने वाले ये प्रयोग तुलसी की अन्य रचनाओं में दुर्लभ हैं। इसके दो ही कारण जान पड़ते हैं, प्रथम तो यह कि प्रायः सभी अन्य रचनाओं के वर्ण्य-विषय में इस प्रकार के प्रसंगों का समावेश नहीं हुआ है और दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति अन्य रचनाओं के समय इस शैली का अनुसरण करने की ओर न हुई हो।

(आ) एक ही व्यक्ति के लिए कई पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार—

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के प्रयोग में तुलसी की भाषा की द्वितीय महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे एक ही व्यक्ति के लिए कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते चलते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ पर उनकी दृष्टि नाम विशेष के प्राधान्य पर न रह कर अर्थ-प्राधान्य पर रहती है जब कि ठीक इसके विपरीत प्रायः अन्य भाषाओं के साहित्य में तथा बोलचाल में यहाँ तक कि आधुनिक खड़ी बोली में भी, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का आधार 'नाम' होता है, न कि वह 'अर्थ' जो उससे अभिव्यक्त होता है। आजकल यदि किसी का वास्तविक नाम 'विश्वनाथ' हो और उसे हम जगपति, जगदीश, जगन्नाथ, विश्वपति अथवा 'संसारनाथ' इत्यादि अन्य पर्यायवाची शब्दों से पुकारें तो बड़ी भारी अड़चन उपस्थित हो जायगी। परन्तु तुलसी एक ही व्यक्ति के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार बेखटके करते रहते हैं, जैसे 'मेघनाद' के लिए 'घननाद' और 'वारिदनाद' अथवा 'दशरथ' के लिए 'दसस्यंदन'। ऐसे कुछ प्रयोगों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

---

१ रा० १, ५४ २ रा० १, ५४ ३ रा० १, ५५
४ रा० १, ५५

(क) *मेघनाद* मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास ।[1]
व्याकुल कटकु कीन्ह *घननादा* ।[2]
वारिदनाद जेठ सुत तासू ।[3]

(ख) *दसरथ* पुत्र जन्म सुनि काना । मानहु ब्रह्मानन्द समाना ।[4]
सुनि सानन्द उठे *दसस्यदन* सकल समाज समेत ।[5]

(ग) अगस्त्य के लिए घटज, घटजोनि, कुंभज, कुंभसंभव, घटसंभव और कलसभव जैसे विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार:—
कुसमउ देखि सनेहु संभारा । बढ़त बिंध्य जिमि *घटज* निवारा ।[6]
बालमीक नारद *घटजोनी* । निज-निज मुखनि कही निज होनी ।[7]
अभिमानसिंधु *कुंभज* उदार ।[8]
जयति लवणाम्बुनिधि *कुंभसंभव*, महा दनुज-दुर्जन-दवन दुरितहारी ।[9]
तहाँ रहे सनकादि भवानी । जहं *घटसंभव* मुनिवर ग्यानी ।[10]
सकुचि सम भयो ईस आयसु-*कलस भव* जिय जोइ ।[11]

(घ) 'शत्रुघ्न' (सत्रुघन) के लिए सत्रुहन, रिपुहन, रिपुसूदन, सत्रुसूदन और रिपुदवन का प्रयोग:—

सुनि *सत्रुघन* मातु कुटिलाई । जरहिं गात रिस कछु न बसाई ।[12]
जयति जय सत्रुकरि केसरी *सत्रुहन* सत्रु तम तुहिन कर किरन केतू ।[13]
सुनि *रिपुहन* लखि नख सिख खोटी । लगे घसीटन धरि धरि झोटी ।[14]
रिपुसूदन पद कमल नमामी ।[15]
जयति दासरथि समर समरथ सुमित्रासुअन *सत्रुसूदन* रामभरतबंधो ।[16]
भरत राम *रिपुदवन* लषन के चरित सरित अन्हवैया ।[17]

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के ऐसे प्रयोग हम भारतीय पाठकों के लिए अधिक विस्मयोत्पादक नहीं प्रतीत होते क्योंकि तुलसी के पहले प्राचीन भारतीय संस्कृत-साहित्य तथा उससे न्यूनाधिकांश में प्रभावित मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में भी ऐसे प्रयोगों की परम्परा विद्यमान थी, परन्तु प्राचीन भारतीय ग्रंथों की शब्द-प्रयोग-शैली की सूक्ष्मताओं से अपरिचित पाश्चात्य आलोचकों के निकट ये प्रयोग एक रहस्य और कुतूहल के विषय बन गये हैं । इस विषय में

---

१ रा० ६, ७२ २ रा० ६, ७४. ३ रा० १, १८०
४ रा० १, १६३ ५ गी० १, २
६ रा० २, २६७ ७ रा० १, ३ ८ वि० ६४
९ वि० ४० १० रा० ७, ३२ ११ गी० ५, ५
१२ रा० २, १६३ १३ वि० ४० १४ रा० २, १६३
१५ रा० १, १७ १६ वि० ३८ १७ गी० १, ६

एडविन ग्रीव्ज का साक्ष्य पर्याप्त है।* इस दृष्टि से उनका विवेचन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के संबंध में तुलसीदास जी की प्रयोग-पद्धति की उपर्युक्त दो विशेषताओं के अतिरिक्त एक और ध्यान देने योग्य बात रह जाती है। वह यह कि तुलसी की शब्दावली में कतिपय विशेषण-शब्द, जो हैं तो मूलतः किन्हीं विशेष व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के गुण अथवा धर्म के बोधक, परन्तु अनेक स्थलों पर वे अकेले ही, बिना विशेष्य की उपस्थिति की आवश्यकता को महत्त्व देते हुए, इस प्रकार प्रयुक्त किये गये हैं जिनमें साधारण दृष्टि में यह जान पड़ता है कि वे विशेषण भी वस्तु अथवा व्यक्ति-विशेष के नाम हैं। इनमें विशेषणसूचक शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उनसे संकेतित व्यक्तिवाचक संज्ञा एक ही है। पूर्वोक्त उदाहरणों में जहाँ-जहाँ विशेषणसूचक शब्द आये हैं वे सर्वत्र एक ही अर्थ रखते हैं। इसी दृष्टि से ये दूसरे प्रकार के प्रयोग अपना भिन्न महत्त्व रखते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

(क) एक 'सिव' के लिए संकर, रुद्र, महेस, सम्भु, हर, वामदेव, कामरिपु, त्रिपुरारि और चन्द्रमाललाम जैसे शब्दों का व्यवहार :—

कह तुलसिदास सेवत सुलभ *सिव सिव सिव संकर* सरन।[१]
पाहि भैरव रूप रामरूपी रुद्र बन्धु गुरु जनक जननी विधाता।[२]
रघुपति चरित *महेस* तब हरषित बरनै लीन्ह।[३]
नष्ट मति दुष्ट अति कष्ट रत खेद गत दास तुलसी *सम्भु* सरन आया।[४]
सुमुखि सुलोचनि *हर* मुख पंच तिलोचन।[५]
वामदेव फुर नाम काममद मोचन।[६]
देहु *कामरिपु* रामचरन रति।[७]
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं *त्रिपुरारी*।[८]
तहाँ दसरत्थ के समर्थ नाथ तुलसी के चपरि चढ़ायो चाप *चंद्रमाललाम* कों।[९]

---

*"In English, it is reserved to a comic paper to designate Mr gladstone as Mr Merry Pebble, but an Indian poet would in all seriousness adopt such an expedient if the metre required it" Edwin Greaves—Notes on the grammer of Ramayan of Tulsidas, page 10

१ क० ७, १४६   २ वि० ११   ३ रा० १, १११
४ वि० १०   ५ पा० मं० ५८   ६ पा० मं० ५८
७ वि० ७   ८ रा० १, ७०   ९ क० १, ९

(ख) एक ही व्यक्ति रावण का बोध कराने के लिए दसमुख, दससीस, दसकंठ, दसमौलि, दसकंध तथा भुजबीह जैसे शब्दों का प्रयोग :—

सुनु *दसमुख* खद्योत प्रकासा। कबहुं कि नलिनी करइ विकासा।[१]

बार बार पद लागऊं विनय करउं *दससीस*।[२]

तू *दसकंठ* भले कुल जायो।[३]

मोह *दसमौलि* तद्‌भ्रान्त अहंकार पाकारिजित काम विश्रामहारी।[४]

आनि परबाम विधि बाम तेहि राम सो सकत संग्राम *दसकंध* कांध्यो।[५]

सांचेहु मै लबार *भुजबीहा*। जौं न उपारिउं तव दसजीहा।[६]

जातिवाचक संज्ञा

तुलसी की भाषा मे उपलब्ध जातिवाचक संज्ञा के रूपो पर मूलतः दो दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है—(१) लिंग और (२) वचन। इस क्षेत्र मे तुलसी द्वारा अनुसृत नियमो के विश्लेषण के पूर्व इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि उनकी रचनाओं की भाषा मे कुछ संज्ञाओ का व्यवहार कहीं-कहीं परंपरागत लिंग मे न होकर विपरीत लिंग मे किया गया है। इस प्रसंग मे निम्नलिखित पंक्तियों मे प्रयुक्त 'प्रस्न' और 'इतिहास' शब्द जो परम्परा से पुल्लिंग में आज तक व्यवहृत होते है, स्त्रीलिंग में आये हैं:—

उमा *प्रस्न* तव सहज *सुहाई*। सुखद संत संमत मोहि भाई।[७]

यह *इतिहास* पुनीत अति उमहि *कही* बृषकेतु।[८]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'प्रस्न' के विशेषण का 'सुहावा' के स्थान में 'सुहाई' होना तथा 'इतिहास' के साथ 'कहा' क्रिया के स्थान मे 'कही' क्रिया का होना तुलसी मे उक्त लिंग-परम्परा की रूढियो से परे उठकर स्वच्छंदपथानुसरण की प्रवृत्ति का स्पष्ट संकेत करते है।

लिंग-परिवर्तन से सम्बन्ध रखनेवाले जो नियम तुलसी की भाषा में व्यापक रूप से व्यवहृत हुए हैं उनका संक्षिप्त निर्देश किया जा रहा है:—

(क) अकारान्त पुल्लिंग संज्ञाओ के अन्त्य व्यंजन के साथ '—आ' का योग जैसे निम्नलिखित पंक्तियों मे 'सुत' से 'सुता', 'अनुज' से 'अनुजा' तथा 'तनुज' से 'तनुजा' का निर्माण:—

पट पीत मानहुं तड़ित रुचि सुचि नौमि *जनकसुता* वरम्।[९]

---

१ रा० ५, ६	२ रा० ५, ३६ क	३ गी० ६, २
४ वि० ५८	५ क० ६, ४	६ रा० ६, ३४
७ रा० १, ११४	८ रा० १, १५२	९ वि० ४५

कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत को *अनुजा तनुजा*।'[1]

(ख) अकारान्त पुल्लिंग संज्ञाओ के अन्त्य व्यंजन के साथ 'इ' का योग—उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियो मे कुमारि, कुवरि तथा देवि शब्दो का व्यवहार जो क्रमशः कुमार, कुवर और देव शब्दो से बने हैं:—

सुनु गिरिराज *कुमारि* भ्रम तम रवि कर वचन मम।[2]
कुवंर *कुवरि* सब मंगलमूरति नृप दोउ धरम धुरंधर धोरी।[3]
जय जय जगजननि *देवि* सुरनर मुनि असुर सेवि
भक्ति मुक्तिदायिनि भयहरनि कालिका।[4]

(ग) अकारात पुल्लिंग संज्ञाओ के अत्य व्यंजन को ईकारान्त कर देना—जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में किसोरी, चकोरी, कुमारी तथा कनी शब्दो का प्रयोग जो क्रमशः किसोर, चकोर, कुमार तथा कन शब्दो से बने हैं.—

जय जय गिरिराज *किसोरी*। जय महेस मुख चंद *चकोरी*।[5]
कहौ धौं तात क्यो जीति सकल नृप बरी है विदेह *कुमारी*।[6]
झलकी भरि भाल *कनी* जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै।[7]

(घ) अकारात पुल्लिग संज्ञाओं के अत्य व्यंजन के साथ आनि तथा आनी का योग—जैसे 'भव' तथा 'ब्रह्मा' से क्रमशः 'भवानी' और 'ब्रह्मानी' शब्दों का निर्माण*। यह नियम अन्य नियमों-सा व्यापक नहीं है। निम्नलिखित पंक्तियो के अंतर्गत उनका व्यवहार मिलेगा :—

सुनु सुभ कथा *भवानि* रामचरितमानस विमल।[8]
आसिष दै दै सराहहिं सादर उमा रमा *ब्रह्मानी*।[9]

१	रा० ७, १०२	२	रा० १, ११५	३	गी० १, १०२
४	वि० १७	५	रा० १, २३५	६	गी० १, १०७
७	क० २, ११	८	रा० १, १२० ख	९	गी० १, ४, १०

* यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि 'भव' और 'ब्रह्मा' तो व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं, उन्हें यहाँ पर क्यों स्थान दिया गया? उत्तर यह है कि मूल रूप में देखा जाय तो कोई भी व्यक्तिवाचक संज्ञा किसी व्यक्ति-विशेष की ही बोधक होती है। या तो वह केवल पुल्लिङ्ग में होगी या केवल स्त्रीलिंग में। इस प्रकार पुल्लिंग व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का स्त्रीलिंग व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में परिवर्तित होने का प्रश्न ही नही उठता, परन्तु कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ जो देव-शक्तियों की वाचक होती हैं, इस नियम के अपवाद के रूप में ग्रहण कर ली गई हैं। 'भव' से 'भवानी', 'ब्रह्मा' से 'ब्रह्मानी', 'सिव' से 'सिवा' (सुमिरि सिवा, सिव, पाइ पसाऊ—रा० १, १५) का निर्माण इसी आधार पर हुआ है। ऐसे शब्द लिंगादि के परिवर्तन की दृष्टि से एक प्रकार से जातिवाचक संज्ञाओं की ही कोटि में आ जाते हैं।

(च) अकारांत पुल्लिग संज्ञाओ के अंतिम व्यजन के साथ '-इनि' का योग जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त कुरगिनि, चदिनि, तरगिनि और भुअगिनि आदि शब्द जो क्रमशः कुरग, चंद, तरंग और भुअग से बने हैं :—

चितवत चकित कुरंग *कुरगिनि* सब भये मगन मदन के भोरे ।[1]
जय जय भगीरथनंदिनि मुनि-चय-चकोर चदिनि
नरनाग विबुध वंदिनि जय जह्नुबालिका ।[2]
सोइ बसुधातल सुधा *तरगिनि* । भय भंजन भ्रम भेक *भुअगिन* ।[3]

(छ) अकारांत पुल्लिग सज्ञाओं के अंत्य व्यंजन के साथ 'नी' जोड कर भी स्त्रीलिंग शब्द बनाए गये हैं जैसे 'चकोर' से 'चकोरनी' उदाहरणार्थ :—

तुलसी के लोचन *चकोरनी* के चन्द्रमा से
आछे मन मोर चित चातक के घन है ।[4]

(ज) इसी प्रकार 'घर' से बने हुए 'घरनि' तथा 'घरिनी' शब्द जो क्रमशः 'नि' और '-इनी' के योग से बने हैं स्त्रीलिंग सज्ञाओं के अतर्गत ही गिने जायॅगे यद्यपि 'घर' के साथ इन शब्दों का सबंध उस प्रकार का नहीं है जैसा 'चकोर' और 'चकोरनी' अथवा 'कुरंग' और 'कुरगिनि' शब्दो का है, क्योंकि 'घर' प्रयोग में पुल्लिग होते हुए भी प्रकृति में नपुंसकलिंग है। 'घरनि' और 'घरिनी' का सीधा अभिप्राय 'घरवाली' से है। निम्नलिखित पक्तियों में इन शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है :—

पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि दसरथ *घरनि* ।[5]
तरनिउ मुनि *घरिनी* होई जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ।[6]

निम्नलिखित पंक्तियो में प्रयुक्त 'भवनी' जो 'भवन' शब्द से बना है बहुत कुछ इस प्रकार का है :—

देखि वड़ी आचरज पुलकि तनु कहति मुदित मुनि *भवनी* ।[7]

(झ) कुछ अकारात पुल्लिग सज्ञाओं के स्त्रीलिंग-रूप मूल शब्दों के अतिम दो व्यजनों के अन्त्य स्वरों में (यदि वे शब्द दो से अधिक व्यंजनों के हों) कुछ परिवर्तन करके भी निर्मित हुए हैं जैसे बालक से बालिका, परिचारक से परिचारिका (इनमे अतिम दो व्यजनों में से प्रथम को अकारान्त से इकारात कर दिया गया है और दूसरे को अकारात से आकारान्त) उदाहरणार्थ :—

जय महेसभामिनी अनेकरूपनामिनी
समस्तलोकस्वामिनी हिमसैल *बालिका* ।[8]

---

१ गी० ३, २ २ वि० १७ ३ रा० १, ३१
४ गी० २, २६ ५ गी० १, २४ ६ रा० २, १००
७ गी० १, ५६ ८ वि० १६

ए दारिका *परिचारिका* करि पालिबी करुना नई ।[१]

(ञ) अकारान्त 'लोग' शब्द के साथ '-आई' प्रत्यय का योग करके 'लोगाई' शब्द का निर्माण भी तुलसी ने किया है उदाहरणार्थ :—

बृंद बृंद मिलि चलीं *लोगाई* । सहज सिंगार किए उठि धाई ।[२]

(ट) ईकारान्त पुल्लिग सज्ञाओं के अन्त्य 'ई' को ह्रस्व करके तथा उसमें 'नि' का योग करके स्त्रीलिंग रूप बनाये गये हैं जैसे निम्नलिखित पंक्तियों मे 'स्वामी' से 'स्वामिनि', 'जोगी से 'जोगिनि' तथा 'तबोली' से 'तबोलिनि' का निर्माण, उदाहरणार्थ :—

तुलसी स्वामी *स्वामिनि* जोहे मोही है भामिनि,
सोभा सुधा पिए करि अखियों दोनी ।[३]

जोगिनि गहे करवाल ।[४]

रूप सलोनि *तंबोलिनि* बीरा हाथहि हो ।[५]

'नि' का कहीं-कहीं पर 'नी' हो जाना छन्दपूर्ति के प्रयत्न मे स्वाभाविक ही है । फलतः 'नामिनी', 'स्वामिनी' तथा 'कामिनी' आदि शब्द भी, जो क्रमश. 'नामी' 'स्वामी' तथा 'कामी' से बने हैं यत्र-तत्र व्यवहृत हो गए हैं, जैसा आगामी पक्तियों के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होगा :—

जय महेस भामिनी अनेकरूप*नामिनी*
समस्तलोक*स्वामिनी* हिमसैलबालिका ।[६]
रघुपति कीरति *कामिनी* क्यों कहै तुलसीदासु ।[७]

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपर्युक्त सभी स्त्रीलिंग सूचक प्रत्यय प्रायः सस्कृत के स्त्रीलिंग प्रत्ययों से सबधित हैं ।

वचन

जिस प्रकार लिंगो की सख्या सस्कृत से क्रमश हिन्दी में आते आते तीन से दो हो गई है, उसी प्रकार वचनों की सख्या भी तीन से दो हो गई है। सस्कृत के तीन वचनों—एक वचन, द्विवचन और बहुवचन—में से द्विवचन का लोप प्राकृत भाषाओं के काल मे ही हो चुका था और इस प्रकार हिन्दी व्याकरण मे भी दो ही वचन अर्थात् एकवचन और बहुवचन रह गये । तुलसी की भाषा में भी इन्हीं दो वचनों का व्यवहार मिलता है । इसके सम्बन्ध में केवल दो बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है—प्रथम तो एकवचन सज्ञा रूपो से बहुवचन सज्ञा-रूपों के निर्माण से सम्बन्धित प्रमुख नियमों का अनुसधान और दूसरे कुछ विशेष सज्ञा-शब्दों को केवल एकवचन अथवा केवल बहुवचन में प्रयोग करने की प्रवृत्ति की छानबीन । इनमें किसी न किसी अश तक सस्कृत की परवर्ती किन्तु हिन्दी की पूर्ववर्ती पालि, प्राकृत और अपभ्रंश

---

१ रा० १, ३२६ २ रा० १, १६४ ३ गी० २, २२
४ रा० ६, १०१ ५ रा० ल० न० ६ ६ वि० १६
७ दो० १६१

आदि भाषाओं के व्याकरण का भी स्वाभाविक प्रभाव दृष्टिगत होता है किन्तु नियमों की सहज-रूपता एव वैज्ञानिकता की दृष्टि से तुलसी के प्रयोगों मे कुछ विशेष प्रवाह मिलता है जैसा आगामी विवेचन एवं उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

एकवचन संज्ञाओं से बहुवचन-रूप बनाने के कुछ प्रमुख व्यापक नियम नीचे दिए जाते हैं :—

(क) बिना किसी प्रत्यय के योग के एकवचन मूल-रूपों का ही बहुवचन-रूपो की भाँति व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पक्तियों मे भोग, विभूति, अमर, विटप, वेलि, कुञ्ज इत्यादि :—

भोग विभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि *अमर* अभिलाषे।[१]
प्रिया प्रिय वन्धु को दिखावत *विटप वेलि*
मंजु *कुंज* सिलातल दल फूल फर हैं।[२]

इनमें शब्दों के बहुवचन होने का बोध क्रियाओ के वचन-रूपो से होता है जैसे उपर्युक्त पक्तियों मे राखे, अभिलाषे तथा 'हैं' जैसे शब्दों से। ऐसे रूपों को अविकारी बहुवचन-रूप तथा अन्य प्रकार के रूपों को विकारी बहुवचन-रूप कह सकते हैं।

(ख) इकारान्त तथा ईकारान्त स्त्रीलिंग सज्ञाओं की अंतिम ध्वनि के साथ अनुस्वार का योग करके बहुवचन रूप का निर्माण, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियो मे प्रयुक्त 'महतारीं' और 'नारीं' :—

वहुरि वहुरि भेटहिं *महतारीं*। कहहि बिरंचि रचीं कत *नारीं*।[३]

इस बहुवचन-सूचक अनुस्वार का मूल सस्कृत की नपुंसकलिंग संज्ञाओं की प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन-रूपो जैसे ज्ञानानि, फलानि आदि के '-आनि' प्रत्यय में विद्यमान है।

(ग) संज्ञा-शब्दों के एकवचन-रूपों के साथ 'न' प्रत्यय जोड़ कर बहुवचन-रूप बनाने के उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'द्विजन', 'लोकपालन' तथा 'दसनन' जो क्रमशः द्विज, लोकपाल और 'दसन' से बने हैं :—

गुर वसिष्ठ कहं गयउ हंकारा। आए *द्विजन* सहित नृप द्वारा।[४]
परम कृपाल जो नृपाल *लोकपालन* पै
जब धनुहाई ह्वै है मन अनुमानि कै।[५]
कंबु कंठ चिबुकाधर सुन्दर क्यों कहौं *दसनन* की रुचिराई।[६]

(घ) सज्ञा-शब्दों के अन्त में 'न्ह' का योग करके भी बहुवचन रूपो का निर्माण* हुआ है। ईकारान्त शब्द का अन्त्य स्वर प्रायः 'न्ह' का योग होने से पूर्व ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे

---

१ रा० २, २१४ २ गी० २, ४५ ३ रा० १, ३३४
४ रा० १, १६७ ५ क० ६, २७ ६ गी० १, १०६

* यह नियम तुलसी की अवधी-बहुल भाषा में रचित ग्रंथों के अन्तर्गत ही प्रचुरता से मिलेगा। ब्रजभाषा-बहुल ग्रंथों में ऐसे प्रयोग दुर्लभ हैं।

'रानी' से 'रानिन्ह', 'दूती' से 'दूतिन्ह'। अन्य स्वरो मे अन्त होने वाली सज्ञाओं के साथ (जिनमें अकारान्त रूप ही सख्या की दृष्टि से प्रमुख स्थान रखते है) बिना किसी परिवर्तन के 'न्ह' प्रत्यय जोड दिया जाता है। दोनों प्रकार के उदाहरण निम्नलिखित पक्तियों में देखे जा सकते है। इनमें 'बधूटिन्ह' और 'जुवतिन्ह' प्रथम कोटि मे तथा 'सुतन्ह' और 'सिसुन्ह' दूसरी कोटि में आएँगे :—

सहित बधूटिन्ह कुअंर सब तब आए पितु पास।[1]
जुवतिन्ह मगल गाइ राम अन्हवाइय हो।[2]
परत पावंड़े बसन अनूपा। *सुतन्ह* समेत गवन कियो भूपा।[3]
खेल खेलत नृप *सिसुन्ह* के बालवृंद बोलाइ।[3]

(च) कहीं कहीं '-नि' प्रत्यय का योग भी बहुवचन-रूपो के निर्माण मे किया गया है, जैसे निम्नलिखित पक्तियो के अन्तर्गत 'फलनि', 'भवननि' और 'भुजनि' जो क्रमशः फल, 'भवन' और 'भुज' शब्दों से बने हैं:—

तब तहँ कहि सबरी के *फलनि* की रुचि माधुरी न पाई।[4]
मोर हस सारस पारावत। *भवननि* पर सोभा अति पावत।[6]
भुजनि पर जननी वारिफेरि डारी।[7]

(छ) इसी प्रकार 'न्हि' प्रत्यय के योग से भी बहुवचन रूपों का निर्माण हुआ है जैसे 'झरोखन्हि', 'कमलन्हि' आदि उदाहरणार्थ :—

जुबती भवन *झरोखन्हि* लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं।[8]
कटि निषग कर *कमलन्हि* धरे धनुसायक।[9]

उपर्युक्त न, न्ह, नि, तथा 'न्हि' प्रत्ययों पर भी सस्कृत के नपुसकलिग कर्त्ता, कर्म बहुवचन में प्रयुक्त अकारान्त सज्ञाओं के अन्त्य प्रत्यय-'आनि' का प्रभाव स्पष्ट है।

(ज) केवल अकारान्त सज्ञाओं के अतिम व्यंजन के साथ '-ऐं' का योग करके बहु-वचन-रूप बनाने की प्रवृत्ति भी तुलसी की भाषा में दृष्टिगोचर होती है, जैसे बाहैं, धारैं, छाहैं, साहैं, कुचाहैं, छाहैं और बातैं इत्यादि शब्द,* जो क्रमश. बाह, धार, छाह, साह, कुचाह, छाह, और बात आदि शब्दों से बने हैं और जिनका प्रयोग निम्नलिखित पक्तियों में हुआ है :—

सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं।[10]

---

१ रा० १, ३२७ | २ रा० ल० न० ३ | ३ रा० १, ३२८
४ गी० ७, ३६ | ५ वि० १६४ | ६ रा० ७, २८
७ गी० २, २७३ | ८ रा० १, २२० | ९ जा० मं० ६०
१० गी० ६, १३

* ऐसे रूप तुलसी की विशुद्ध अवधी बहुल रचनाओं में अधिक नहीं मिलते उदाहरणार्थ तुलसी के रामचरितमानस में ऐसे रूप दुर्लभ हैं।

धारैं बान कूल धनु भूषन जलचर भवंर सुभग सब *घाहैं*।[१]
सकल भुवन मंगल मदिर के द्वार बिसाल सुहाई *साहैं*।[२]
जातुधान तिय जानि वियोगिनि दुखई सीय सुनाइ *कुचाहैं*।[३]
करि आईं करिहैं करती हैं तुलसिदास पर *छाहैं*।[४]
तुलसिदास प्रभु कहौं ते *बातैं* जे कहि भजे सबेरे।[५]

(झ) केवल आकारान्त पुल्लिंग संज्ञाओ के बहुवचन-रूप बहुधा '-ए' के योग से बनाए गये हैं, जैसे 'तारा' से 'तारे' और 'चेरा' से 'चेरे' उदाहरणार्थ :—

प्रभुहि देखि सब नृप हियँ हारे। जनु राकेस उदय भएं *तारे*।[६]
निपट बसेरे अघ औगुन घनेरे बर नारिऊ अनेरे जगदंब चेरी *चेरे* हैं।[७]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से बहुवचन-सूचक प्रत्यय '-ए' का मूल सस्कृत तृतीया बहुवचन प्रत्यय—एभिः 7 एहि, एइ मे खोजा जा सकता है।

बहुवचन-सूचक '-एं' का सम्बन्ध सस्कृत नपुसकलिंग प्रत्यय '-आनि' से जोड़ा जाता है—स०—आनि 7 आइ 7 ऐ।

व्यापक रूप से प्रयुक्त इन नियमित रूपो के अतिरिक्त कुछ ऐसे बहुवचन-रूपों का व्यवहार भी मिलता है जो संस्कृत के विशुद्ध बहुवचन सज्ञा-रूपों के नितान्त समीप पड़ते हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों मे व्यवहृत 'नरा', 'गुनानी', 'नामानी' इत्यादि :—

तनु पोषक नारि *नरा* सगरे।[८]
राम अनत अनंत *गुनानी*। जन्म कर्म अनंत *नामानी*।[९]

उपर्युक्त पक्तियो के 'नरा' और 'नामानी' क्रमशः संस्कृत के 'नराः', तथा 'नामानि' शब्दों के समीपवर्ती रूप है। 'नामानी' के तोल में 'गुनानी' का प्रयोग सस्कृत 'गुणाः' से मेल नही खाता और इस दृष्टि से दोषपूर्ण है। छंदपूर्ति की सुविधा ही इसका मूल कारण है। कवि की असावधानी भी इसके मूल मे हो सकती है। यहाँ पर यह भी संकेत कर देना आवश्यक होगा कि केवल 'रामचरित-मानस' जैसी अनेक रूपात्मक भाषा वाली रचना मे ही ऐसे रूप अधिक उपलब्ध होगे। इनका महत्त्व वैविध्य के कुतूहल की दृष्टि से ही समझना चाहिए। इनके सहारे किसी नियम का अनुसन्धान करना व्यर्थ होगा।

वचन-सम्बन्धी अन्य स्फुट विशेषताओ के अन्तर्गत दो बाते उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह कि किसी आदरणीय व्यक्ति के लिए विशेषण और क्रिया के बहुवचन-रूपों का प्रयोग तुलसी की रचनाओं मे हुआ है, यद्यपि मूलतः सज्ञा के नाते वे एकवचन के ही रूप है। इन्ही के कारण ऊपर से देखने मे वे सज्ञा-रूप भी बहुवचन-रूप से प्रतीत होते हैं, जैसे निम्नलिखित

---

१ गी० ६, १३ २ गी० ६, १३ ३ गी० ६, १३
४ गी० ६, १३ ५ श्रीकृ० ३ ६ रा० १, २४५
७ क० ७, १७४ ८ रा० ७, १०२ ९ रा० ७, ५२

पंक्तियों में 'रामु', 'भरद्वाज' तथा 'रघुनायक' शब्द, जो क्रमशः 'सुखारे', 'उचारे' और 'धाए' के साथ प्रयुक्त होने के कारण आदरार्थ बहुवचन में प्रतीत होते हैं :—

भए विगत *स्रम रामु सुखारे*। *भरद्वाज* मृदु वचन *उचारे*।[1]
हेमु कुरग के संग सरासन सायक लै *रघुनायक धाए*।[2]

दूसरी बात यह है कि अर्थ में एकवचनपरक होते हुए भी 'प्रान' शब्द प्रायः सर्वत्र बहुवचन में ही प्रयुक्त हुआ है। इस बहुवचन-प्रयोग की सूचना भी साथ में व्यवहृत क्रिया के बहुवचन-रूपों से होती है। निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य हैं :—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित *प्रान* जाहि केहि बाट।[3]
मन ह्वौं तजी कान्ह ह्वौं त्यागी *प्रानौ* चलिहैं परिमिति पाई।[4]

भाववाचक संज्ञा—

भाववाचक संज्ञाओं के लिंग और वचन जातिवाचक संज्ञाओं की ही भाँति चलते हैं और इसलिए इनके विषय में विचार करना अनावश्यक होगा। भाववाचक संज्ञाओं की अनेक-रूपता तथा उसके मूल में विद्यमान तुलसी की वह भाषाधिकारसंपन्नता ही, जिसके बल पर ही वे विशेषण, क्रिया, सर्वनाम, जातिवाचक संज्ञा आदि सभी शब्दरूपों से भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण कर सके हैं, विशेष विवेचन की अपेक्षा रखती है। कहीं-कहीं तो स्वयं भाववाचक संज्ञाओं में दूसरे भाववाचक संज्ञा-प्रत्यय लगाना भी तुलसी की एक विशेषता है, जैसे 'सुन्दर' से बनी हुई भाववाचक संज्ञा 'सुन्दरता' से दूसरे भाववाचक संज्ञारूप 'सुन्दरताई' का निर्माण। तुलसी की रचनाओं में भाववाचक संज्ञाओं के रूपों की छानबीन करने पर जिन प्रमुख व्यापक नियमों का पता चलता है वे संक्षेप में आगे दिये जायँगे। विवेचन की सुविधा के लिए इन्हें क्रमशः चार वर्गों के अंतर्गत रखकर देखना युक्तिसंगत होगा —

अ—विशेषणमूलक भाववाचक संज्ञाएँ।
आ—क्रियामूलक भाववाचक संज्ञाएँ।
इ—सर्वनाममूलक भाववाचक संज्ञाएँ।
ई—जातिवाचकसंज्ञामूलक भाववाचक संज्ञाएँ।

अ—विशेषणमूलक भाववाचक संज्ञाएँ—

(क) गुणवाचक एवं परिमाणवाचक विशेषणों के साथ 'ता' प्रत्यय का योग करके भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'दीनता' 'लघुता' 'मूढ़ता' और 'पीनता' आदि जो क्रमशः दीन, लघु, मूढ़ और पीन से बने हैं :—

आरति बिनय *दीनता* मोरी। *लघुता* ललित सुबारि न थोरी।[5]

---

१ रा० २, १०७   २ क० ३, १   ३ रा० ५, ३०
४ श्रीकृ० २५   ५ रा० १, ४३

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागु *मूढ़तानुरागु* श्री हरे।[१]
नाहिन विराग जोग जाग भाग तुलसी के दया दान दूबरो हौं पाप ही की *पीनता*।[२]

उपर्युक्त भाववाचक संज्ञाओं का 'ता' विशुद्ध संस्कृत तद्धित प्रत्यय 'ता' (तल्) से सम्बंधित है जिसके योग से स्त्रीता, पुंस्ता, समता इत्यादि बनते हैं।*

(ख) इसी प्रकार 'ता' का योग करके कृदन्तमूलक विशेषणों से भी भाववाचक संज्ञारूप बनाए गए हैं, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'भवतव्यता' और 'लोकमान्यता' आदि :—

तुलसी नृपति *भवतव्यता* बस काम कौतुक लेखई।[3]
लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।[४]
ऐसे रूप प्रायः रामचरितमानस मे ही दृष्टिगोचर होते हैं।

(ग) गुणवाचक विशेषणों के साथ 'पन' अथवा 'पनु' प्रत्यय का योग करके भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण, जैसे 'परुष' से 'परुषपन' और कठोर से 'कठोरपनु' शब्दों का निर्माण; जिनका प्रयोग अधिकता से तो नहीं किन्तु कहीं-कहीं अवश्य मिल जाता है। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित पंक्तियों में :—

प्रेम न परखिय *परुषपन* पयद सिखावन एह।[५]
जनु *कठोरपनु* धरे सरीरू। सिखइ धनुपविद्या वर वीरू।[६]

'पन' अथवा 'पनु' का सम्बंध सं० त्व, त्वन 7 प्रा० प्पं, प्पणं से जोडा जाता है।

(घ) गुणवाचक एवं परिमाणवाचक विशेषणों के साथ '-आई' के योग से बनी हुई भाववाचक संज्ञाएँ, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'भलाई', 'बडाई' तथा 'अरुनाई' जो क्रमशः भल, बड† तथा अरुन से बने हैं) :—

मति कीरति गति भूति *भलाई*[७]
उबटौं न्हाहु गुहौं चोटिया, बलि, देखि भलो बर करिहि *बड़ाई*।[८]
अरुन चरन अगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक *अरुनाई*।[९]

कहीं-कहीं इसी प्रकार मूल गुणवाचक विशेषणों के प्रारभिक व्यजन को दीर्घ से ह्रस्व करने के उपरान्त उसके साथ '-आई' का योग करके भी भाववाचक सज्ञाओं का निर्माण करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है, जैसे निम्नलिखित पक्तियों मे व्यवहृत 'ढिठाई' और 'झुठाई' शब्द जो क्रमशः 'ढीठ' और 'झूठ' शब्दों से बने हैं :—

---

१ वि० ७४	२ क० ७, ६२	३ रा० २, २५
४ रा० १, १६१	५ दो० २६८	६ रा० २, ४१
७ रा० १, ३	८ श्रीकृ० १२	९ गी० १, १०६

* देखिये—काले-'हायर संस्कृत ग्रामर', पृ० २०५

† 'भला' और 'बडा' के स्थान पर 'भल' और 'बड' शब्दों का व्यवहार यहाँ पर जान बूझ कर किया गया है क्योंकि अवधी के इन्हीं मूल रूपों के आधार पर इनके अन्य विकारी रूपों का निर्माण मानना विशेष तर्कसंगत जान पडता है।

देखहु बनरन्ह केरि *ढिठाई* ।[1]
मूढ़ सिखिहि कहँ बहुत *झुटाई* ।[2]

हार्नली इस '-आई' प्रत्यय का सम्बन्ध सं० तद्धित ता 7 प्रा० दा या आ से मानते हैं। निरर्थक 'क' जोडने से सं० तिका 7प्रा० दिया या इआ, हिं० आई हो गया, जैसे सं० मिष्टता या मिष्टतिका* 7 प्रा० मिट्ठइआ, हिं० मिठाई हो गया। परन्तु चैटर्जी के अनुसार यह प्रत्यय मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाकाल का है और इसका सम्बन्ध 'धातु' के प्रेरणार्थक रूप से बनी हुई स्त्रीलिंग क्रियार्थक संज्ञाओं से है, जैसे सं० याचाविका† रूप से हिं० जचाई रूप बन सकता है।

(ङ) कहीं-कहीं गुणवाचक एवं परिमाणवाचक विशेषणों के साथ अन्त में 'ई' स्वर के योग से भी भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण हुआ है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में 'कठिनई' (कठिन + ई), सठई (सठ + ई) तथा 'अधिकई' (अधिक + ई) का प्रयोग :—

जड़ चेतनहिं ग्रथि परि गई। जदपि मृषा छूटत *कठिनई* ।[3]
तुम समुझत कत ? हौं ही नीके जानति नंदनंदन हो निपट करी *सठई* ।[4]
हितनि के लाह की उछाह की विनोद मोद सोभा की अवधि नहिं अब *अधिकई* है ।[5]

'ई' को 'आई' का ही छन्द सुविधा की दृष्टि से संक्षिप्त किया हुआ प्रत्यय मान सकते हैं। इसकी व्युत्पत्ति भी 'आई' की ही भाँति समझनी चाहिए।

अब दो ऐसे नियमों का उल्लेख किया जा रहा है जिनका अनुसरण केवल इने-गिने स्थलों पर कुछ विशिष्ट शब्दों के साथ हुआ है, किन्तु जो मौलिकता एवं कुतूहल की दृष्टि से ही नहीं वरन् तुलसी की एक विशिष्ट वैयक्तिक प्रवृत्ति के भी परिचायक होने के कारण कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं, वे ये हैं :—

(क) गुणवाचक विशेषण के साथ केवल 'प' प्रत्यय के योग से भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण, जैसे 'सयान' से 'सयानप' जिसका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है :—

भूप *सयानप* सकल सिरानी ।[6]
तुलसी प्रभु मुख निरखि रही चकि रह्यो न *सयानप* तन मन तीके ।[7]

उपर्युक्त प्रत्यय 'प' को भी 'पन' की भाँति सं० त्व, त्वन 7 प्रा० प्प, प्पण से उत्पन्न जानना चाहिए।

(ख) गुणवाचक विशेषण के साथ '-आत' प्रत्यय के योग से भाववाचक संज्ञा का निर्माण, निम्नलिखित पंक्तियों में आए हुए 'कुसलात' (कुसल + आत) शब्द में द्रष्टव्य है:—

गई समीप महेस तब हँसि पूँछी *कुसलाता* ।[8]
दच्छ न कछु पूछी *कुसलात* ।[9]

---

१ रा० ६, ४० २ रा० ६, ३४ ३ रा० ७, ११७
४ श्रीकृ० ३६ ५ गी० १, ६४ ६ रा० १, २५६
७ श्रीकृ० १० ८ रा० १, ५५ ९ रा० १, ६३

*हार्नली—ईस्टर्न हिंदी ग्रामर, २२३
† चैटर्जी—वे० लै० ,४०२

'कुसलात' शब्द का सम्बन्ध व्युत्पति की दृष्टि से सं० 'कुशलवार्ता' से जोड़ा जा सकता है।

आ—क्रियामूलक भाववाचक संज्ञाएँ

इनके सम्बन्ध मे जिन प्रमुख नियमो का अनुसरण किया गया है वे सक्षेप में नीचे दिए जा रहे हैं : –

(क) धातु के मूल रूप का ही 'भाववाचक संज्ञा' के रूप में व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पक्तियो मे प्रयुक्त 'सकुच', 'सोच' और 'पुलक' :—

सुनु मैया तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की *सकुच* वेचि सी खाई।[१]
को करि *सोच* मरै तुलसी हम जानकीनाथ के हाथ बिकाने।[२]
लोचन सजल तन *पुलक* मगन मन होत भूरिभागी जस तुलसी बखानि कै।[३]

(ख) मूल धातु मे 'आउ' का योग करके भाववाचक सज्ञाओ का निर्माण जैसे, निम्नलिखित पक्तियों मे प्रयुक्त 'दुराउ', 'बनाउ' और 'पछिताउ' :—

चाहउं तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन *दुराउ*।[४]
भोग पुनि पितु आयु को सोउ किए बनै *बनाउ*।[५]
दई सुगति सो न हेरि हरप हिय चरन छुए को *पछिताउ*।[६]

यही 'आउ' कहीं-कहीं 'आव' के रूप मे परिणत हो गया है, जैसे निम्नलिखित पक्तियों मे प्रयुक्त 'पछिताव' और 'बतबढाव' :—

सिय कर सोच जनक *पछितावा*।[७]
अब जनि *बतबढाव* खल करही।[८]

हार्नली *'आव' का सम्बन्ध स० त्व, त्वन 7 प्रा० त्त, त्तण या अअ, अअण 7 अप० अअउ, अअणु से जोडते हैं। 'अअउ' से 'आउ' या 'आव' हो जाना सभव है, जैसे स० उच्चकत्व 7 प्रा० उचअत्त या उचअअ 7 अप० उचअअउ 7 हिं० उचाव।

(ग) धातु के मूल रूप में (पूर्वोक्त 'पन' प्रत्यय की ही भाँति) 'पनी' के योग से भाववाचक सज्ञा बनाने की प्रवृत्ति निम्नलिखित पक्तियो मे प्रयुक्त 'जानपनी' शब्द में, जो 'जान' और 'पनी' के योग से बना हुआ है, प्रत्यक्ष है :—

दम दान दया नहि *जानपनी*।[९]
जानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गवाँर महा है।[१०]

---

१ श्रीकृ० ८ २ क० ७, १०५ ३ गी० २, ३१
४ रा० १, १४ ५ गी० ७, २५ ६ वि० १००
७ रा० १, २६० ८ रा० ६, ३० ९ रा० ७, १०३
१० क० ७, ३९

* हार्नली—ईस्टर्न हिन्दी ग्रामर, २२७

(घ) कहीं-कहीं मूल धातु के अन्तिम व्यंजन के साथ '-आन' जोड़ कर भाववाचक संज्ञा बनी है, जैसे 'बँध' से 'बँधान' अथवा 'बधान' जिनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है:—

नागर नट चितवहिं चकित डगहिं न ताल *बँधान*।[१]
उघटहिं छन्द प्रबंध गीत पद राग तान *बधान*।[२]

'आन' की व्युत्पत्ति भी सं० त्व, त्वन > प्रा० त्त, त्तण या अअ अअण > अप० अअ उ, अअणु से मान सकते हैं। 'अअणु' से 'आन' हो जाना बिल्कुल सम्भव है।

(ङ) कुछ विशिष्ट स्थलों पर मूल धातु के साथ 'नि' तथा 'नी' जोड़कर भी भाववाचक संज्ञाएँ बनाई गई हैं, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'जरनि' तथा 'करनी'.—

याके उए बरति अधिक अंग अंग दव वाके उए मिटति रजनि जनित *जरनि*।[३]
जौं *करनी* समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी।[४]

(च) मूल धातु के साथ '-आई' का योग करके भाववाचक संज्ञा के निर्माण के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत 'मचलाई' तथा 'लराई' :—

सहज भीरु कर वचन दृढाई। सागर सन ठानी *मचलाई*।[५]
सपनें जेहि सन होत *लराई*। जागे समुझत मन सकुचाई।[६]

(छ) 'सरहना' और 'करतूति' जैसे कुछ विशिष्ट शब्द भी, जो भाववाचक संज्ञाओं के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वस्तुत. क्रिया से ही व्युत्पन्न होने के कारण क्रियामूलक* भाववाचक संज्ञाओं के अन्तर्गत लिए जा सकते हैं उदाहरणार्थ .—

गिरिवर सुनिय *सरहना* राउर जहं तहं।[७]
निज करुना *करतूति* भगत पर चलत चलत चरचाउ।[८]

१ रा० १, ३०२ २ गी० १, २ ३ श्रीकृ० ३०
४ रा० ७, १ ५ रा० ५, ५६ ६ रा० ४, ७
७ पा० मं० १६ ८ वि० १००

* यहाँ पर क्रियाओं से बनी हुई अथवा क्रियामूलक भाववाचक संज्ञाओं तथा क्रियार्थक संज्ञाओं के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। इनमें साम्य दिखाई पड़ने का कारण यही है कि दोनों प्रकार के रूप क्रियाओं के मूल धातुओं से ही बनाए जाते हैं और दोनों में क्रिया का कुछ न कुछ भाव निहित रहता है। संक्षेप में इनके अन्तर को यों समझना चाहिए कि जाना, लेना, अटनु, मिलब आदि क्रियार्थक संज्ञाओं में (जिनके सम्बन्ध में हम आगे क्रियाप्रकरण के अंतर्गत विचार करेंगे) क्रिया के अर्थ की भावना अत्यन्त प्रबल रहती है, किन्तु क्रियामूलक भाववाचक संज्ञाओं का क्रिया से प्राय व्युत्पत्ति मात्र का ही सम्बन्ध रहता है। वस्तुत उनमें क्रियार्थ के स्थान में संज्ञार्थ का ही प्राधान्य सूचित होता है। इसीलिए कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि ऐसी बहुत सी भाववाचक संज्ञाओं की आधारभूत क्रियाएँ इतनी दूर जा पड़ती हैं कि उनकी ओर सहसा हमारा ध्यान ही नहीं जा पाता।

इ—सर्वनाममूलक भाववाचक संज्ञाएँ

इनका निर्माण विविध कारकों में प्रयुक्त सर्वनाम-रूपों से अलग अलग कुछ व्यापक नियमों के आधार पर किया गया है जिनका विवरण सोदाहरण आगे उपस्थित किया जाता है।

(क) निजवाचक सर्वनाम 'आप' के प्रथम स्वर को ह्रस्व करने के उपरान्त इसके साथ '-आन' का योग करके 'अपान' जैसा भाववाचक संज्ञारूप बनाया गया है जो 'अपनापन' का अर्थ व्यक्त करता है। सामान्यतः अप्रचलित होते हुये भी यह रूप तुलसी की रचनाओं में बहुलता के साथ प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है तुलसी के समय में इस शब्द का अधिक प्रचार रहा हो। इस विषय में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

देखि भानुकुलभूपनहिं बिसरा सखिन्ह *अपान*।[1]
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि *अपान*।[2]
तुलसिदास गुन सुमिरि राम के प्रेम मगन नहिं सुधि *अपान* की।[3]
उपजत ही अभिमान को खोवत मूढ़ *अपान*।[4]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अपान' का सम्बन्ध प्रा० अप्पं या अप्पण से जोड सकते हैं।

(ख) निजवाचक सर्वनाम 'आप' के सम्बन्धकारक में प्रयुक्त होने वाले रूप 'आपन' के प्रथम अक्षर को दीर्घ से ह्रस्व करने के उपरान्त 'पउ' अथवा 'पौ' प्रत्यय के योग से बनी हुई भाववचक संज्ञा 'अपनपउ' अथवा 'अपनपौ' का भी व्यवहार प्रचुर है; उदाहरणार्थ :—

हेतु *अपनपउ* जानि जियं थकित रहे धरि मौनु।[5]
धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरी *अपनपउ* पितु बस जाने।[6]
सदा रहहिं *अपनपौ* दुराएं। सब बिधि कुशल कुवेष बनाएँ।[7]
उर आनहिं प्रभु कृतहित जेते। सेवहिं तजे *अपनपौ* चेते।[8]
कुस साथरी देखि रघुपति की हेतु *अपनपौ* जानी।[9]

उक्त 'पउ' अथवा 'पौ' का मूल सं० त्व, त्वन 7 प्रा० प्पं, प्पण (7 प, पउ) में मानना उचित होगा।

(ग) संस्कृत सर्वनाम 'अस्मद्' की षष्ठी विभक्ति एकवचन के रूप 'मम' के साथ 'ता' प्रत्यय जोड़ कर भाववाचक संज्ञारूप 'ममता' का व्यवहार पूर्वप्रचलित परम्परागत रूप में ही हुआ है, उदाहरणार्थ :—

सबके *ममता* ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।[10]
तुलसिदास रोमेहु तनु ऊपर नयननि की *ममता* अधिकाई।[11]
ऐसेहुँ पितु ते अधिक गीध पर *ममता* गुन गरुआई।[12]

---

१ रा० १, २३३	२ रा० २, २४०	३ गी० ५, ११
४ दो० ४६५	५ रा० २, १६०	६ रा० १, २३४
७ रा० १, १६१	८ वि० १२६	९ गी० २, ६८
१० रा० ५, ४८	११ श्रीकृ० २५	१२ वि० १६४

सर्वनाम से बनी हुई यही कुछ भाववाचक संज्ञाएँ तुलसी में मिलती हैं, अन्य रूप प्रायः नहीं मिलते।

ई—जातिवाचकसंज्ञामूलक भाववाचक संज्ञाएँ :—

इसके संबंध में तुलसी की रचनाओं में उपलब्ध प्रमुख नियम नीचे दिये जाते हैं :—

(क) 'पन' प्रत्यय के योग से भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में 'सिसुपन' तथा 'बालपन' :—

सोइ *सिसुपन* सोइ सोभा सोई कृपाल रघुबीर।[1]
समुझी नहि तस *बालपन* तब अति रहेउं अचेत।[2]

(ख) 'प' प्रत्यय के योग से बनी हुई भाववाचक संज्ञाएँ, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'भायप' शब्द जो 'भाय' और 'प' के योग से बना है :—

भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुवास।[3]
भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूपन हरनू।[4]

(ग) '-आई' प्रत्यय को जोड कर भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण, जैसे लरिकाई, सेवकाई, तथा कलुपाई शब्द जिनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है और जो क्रमशः लरिका, सेवक तथा कलुप शब्दों से सम्बन्धित हैं :—

सोई *लरिकाई* मो सन करन लगे पुनि राम।[5]
लरिकाई बीती अचेत चित चचलता चौगुनी चाय।[6]
करहु सफल आपनि *सेवकाई*।[7]
भये सब साधु किरात किरातिनि राम दरस मिटि गइ *कलुषाई*।[8]

'लरिकाई' शब्द में '-आई' के स्थान में 'ई' प्रत्यय का योग प्रतीत होने के कारण 'लरिका' अर्थात् मूल शब्द का आकारान्त होना है। यहाँ पर ('लरिका+आई') दीर्घस्वर-संधि है।

(घ) कुछ जातिवाचक संज्ञाओं के साथ '-आई' प्रत्यय का योग होने से पूर्व मूल शब्द के प्रारम्भिक अक्षर को दीर्घ से ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे 'मिताई' और 'पहुनाई' जो क्रमश. 'मीत' और 'पाहुन' शब्दों से बने हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में :—

गरल सुधा रिपु करइ *मिताई*।
संग सुभामिनि भाइ भलो दिन द्वै जनु औध हुते *पहुनाई*।[10]

'-आई' प्रत्यय की व्युत्पत्ति स० तिका 7 प्रा० इआ से मानी जा सकती है।

---

१ रा० ७, ८१ — २ रा० १, २० क — ३ रा० १, ४२
४ रा० २, २२३ — ५ रा० ७, ८२ — ६ वि० ८३
७ रा० १, २५७ — ८ गी० २, ४६ — ९ रा० ५, ५
१० क० २, २

(ङ) कहीं कहीं जातिवाचक संज्ञाओ के रूपों के साथ केवल 'ई' का योग करके भी भाववाचक संज्ञा के रूप बनाए गए हैं, जैसे 'लरिका के अन्तिम अक्षर को दीर्घ से ह्रस्व करके और 'ई' जोड कर 'लरिकई' शब्द का निर्माण। इसी प्रकार 'पहुनई' शब्द भी बना है जिसमे पाहुन का 'पा' उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से ह्रस्व कर दिया गया है। इनका प्रयोग निम्न-लिखित पंक्तियो मे द्रष्टव्य है :—

रावरो भरोसो बल कै है कोऊ कियो छल कैधौं कुल को प्रभाव कैधो *लरिकई* है।[1]
वारहि वार पहुनई ऐहै राम लषन दोउ भाई।[2]

(च) '-औरी' प्रत्यय के योग से भी भाववाचक संज्ञारूप बनाया गया है और वह है 'ठगौरी' जो 'ठग' तथा 'औरी' के योग से बना है जिसका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियो मे हुआ है :—

राजिव नयन विधु बदन टिपारे सिर नखसिख अंगनि *ठगौरी* ठौर ठौर है।[3]
ऋषि नृप सीस *ठगौरी* सी डारी।[4]
तुलसिदास ग्वालिनी ठगी आयो न उतर कछु कान्ह *ठगौरी* लाई।[5]

'ठगौरी' शब्द का प्रयोग सूरदास जी ने प्रचुर मात्रा मे किया है, जैसे 'जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।'

इसके पश्चात् कुछ ऐसी भाववाचक संज्ञाओं के सम्बन्ध मे भी कुछ कहना है जो स्वतः भाववाचक संज्ञाओं से ही बनाई गई हैं। इनके विषय में इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा कि प्रायः विशेषणों से, विशेष कर गुणवाचक विशेषणों से, बनी हुई भाववाचक संज्ञाओ 'सुन्दरता', 'चचलता' और 'मनोहरता' आदि मे 'ई का योग करके इनके 'सुन्दरताई' 'चचलताई' और 'मनोहरताई' जैसे अन्य भाववाचक संज्ञा-रूप बन गये है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियो मे :—

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहि असि *सुन्दरताई*।[6]
अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि *चंचलताई*।[7]
क्यो कहौं चित्रकूट गिरि संपत महिमा मोद *मनोहरताई*।[8]

कारक-रचना

तुलसी की रचनाओ मे उपलब्ध संज्ञाओं की कारक-रचना के विवेचन मे जाने से पूर्व हिन्दी-व्याकरण के अन्तर्गत कारक, विभक्ति, परसर्ग एव कारक-चिह्न आदि पारिभाषिक शब्दों

---

१ गी० १, ८४ २ गी० १, ६६ ३ गी० १, ७१
४ गी० १, ६८ ५ श्रीकृ० ८ ६ रा० २, १९
७ वि० ६२ ८ गी० २, ४६

के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इनके विषय में वैयाकरणों तथा विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

(क) कारक—सस्कृत-व्याकरण मे कारक का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'क्रियान्वयित्व कारकत्व' अर्थात् क्रिया के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसे 'कारक' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार कारकों की सख्या ६ है, जिन्हें कर्ता, कर्म, सप्रदान, करण, अपादान तथा अधिकरण कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार सम्बन्धकारक की कोई सत्ता नहीं मानी जाती क्योंकि इसके अन्तर्गत क्रिया का कोई सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। डा० बाबूराम सक्सेना और प० किशोरीदास वाजपेयी जैसे विद्वानों को कारकों की यही परिभाषा मान्य है, परन्तु वैयाकरणों का दूसरा वर्ग, जिसमें प० कामताप्रसाद गुरु और डा० धीरेन्द्र वर्मा का नाम लिया जा सकता है, कारक की उक्त परिभाषा को नहीं स्वीकार करता। यहाँ पर कारक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—'सज्ञा (या सर्वनाम) के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है उस रूप को कारक कहते है।'* इसके अनुसार कारकों की सख्या ६ के स्थान पर ८ हो जाती है—कर्ता, कर्म, सम्प्रदान, करण, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन। हिन्दी-व्याकरण की व्यापक शब्द-रचना की परम्परा को देखते हुए यह दूसरी परिभाषा ही विशेष युक्ति-सगत जान पडती है।

(ख) विभक्ति—इसकी धारणा के विषय में भी कम मतभेद नहीं है। सस्कृत-व्याकरण में कारक और विभक्ति को पृथक्-पृथक् स्थान दिया गया है। कारकों की सख्या वहाँ ६ तथा विभक्तियों की ७ मानी जाती है। ये सातों विभक्तियाँ, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पचमी, षष्ठी और सप्तमी के नाम से सस्कृत-व्याकरण में प्रसिद्ध हैं, किन्तु हिन्दी में इस प्रकार की कोई परपरा नहीं दिखाई देती। सस्कृत में कारक और विभक्ति को पृथक मानने का प्रमुख कारण यह जान पडता है कि एक ही विभक्ति कई कारकों में आती है। सस्कृत वैसे भी प्रधानतः रूपान्तरशील भाषा है, अतः उसमें उक्त भेद मानना सर्वथा युक्तियुक्त है, परन्तु हिन्दी में प्रायः कारक और विभक्ति को एक मानने की प्रवृत्ति रही है। यह प्रवृत्ति कदाचित् अग्रेजी-व्याकरण के प्रभाव के कारण आई है क्योंकि पादरी आदम महोदय के हिन्दी-व्याकरण में तो, जो हिन्दी का प्रथम व्याकरण कहा जाता है, कारक-विवेचन के अन्तर्गत विभक्ति का नाम तक नहीं आया। यह प्रवृत्ति आगे भी चलती रही है, यहाँ तक कि इन दोनों शब्दों की एकता हिन्दी-वैयाकरणों के विचार में इस सीमा तक निश्चित हो चुकी थी कि व्यास जी जैसे सस्कृत विद्वान् ने भी 'भाषाप्रभाकर' के अन्तर्गत 'विभक्ति' के स्थान में 'कारक' शब्द का व्यवहार किया है। प० गोविन्द-नारायण मिश्र ने अपने 'विभक्ति-विचार' में लिखा है कि प० दामोदर शास्त्री ने भी

---

* प० कामता प्रसाद गुरु · हिन्दी व्याकरण, पृ० २४८

संभवतः सर्वप्रथम स्वरचित व्याकरण में कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों के प्रयोग का यथोचित खडन कर प्रथमा, द्वितीया आदि शब्दो का प्रयोग उनके बदले में करने के साथ ही इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन भी किया था।[1] परन्तु इस सुधार का अनुकरण प्रायः परवर्ती वैयाकरणो ने नहीं किया। बात यह है कि हिन्दी में सज्ञाओ की विभक्तियाँ (अर्थात् कारक-विशेष में प्रयुक्त संज्ञारूप-विशेष—इसी अर्थ में संस्कृत मे इस शब्द का व्यवहार प्रचलित है) की सख्या बहुत कम है। बहुधा विकल्प से कई कारकों में तो सज्ञाओं की विभक्तियों का सर्वथा लोप हो जाता है। कहीं-कहीं एक-एक विभक्ति कई-कई कारकों के अन्तर्गत उसी रूप मे प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि से केवल रूप के आधार पर विभक्तियों का वर्गीकरण करने से बड़ी गडबडी की आशंका है, अतः संस्कृत-रूपों की भाँति हिन्दी-रूपों के सुनिश्चित न होने के कारण विभक्तियों के स्थान में कारक शब्द का ही प्रयोग बहुतों को युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

हिन्दी के कतिपय वैयाकरणों ने कारक और विभक्ति का अन्तर दूसरे ढग से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है, जैसे प० केशवराम भट्ट ने पाँच विभक्तियाँ मानते हुए 'विभक्ति' शब्द का प्रयोग 'प्रत्यय' के अर्थ में किया है तथा क्रिया के सम्बन्ध से सज्ञा की जो विशेष अवस्थाएँ होती हैं उनको 'कारक' कहा है, किन्तु उन्होंने सम्बोधनकारक को संस्कृत के अनुसार प्रथमा तथा सम्बन्ध को षष्ठी विभक्ति मान लिया है जिसे हिन्दी-व्याकरण की रूप-रचना को देखते हुए उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि हिन्दी-व्याकरण में सम्बोधनकारक का रूप पाँचों विभक्तियों से भिन्न है तथा सम्बन्धकारक में तद्धित प्रत्यय 'का, के, की' का व्यवहार होता है और इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का सर्वथा अभाव है।

साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा ने 'व्याकरण सार' मे विभक्ति शब्द को रूपान्तर के अर्थ में प्रयुक्त किया है जो कारक का प्रत्यय लगने से पूर्व सज्ञाओ में हुआ करता है।[2] आधुनिक वैयाकरण पं० किशोरीदास वाजपेयी[3] का विचार है कि विभक्तियों से कारक का बोध होता है। उनके अनुसार 'ने, को, से, का, के, की, मे और पर' आदि कारकसूचक चिह्न ही विभक्तियाँ हैं। पं० कामता प्रसाद गुरु इसी वाद-विवाद के कारण इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "हिन्दी में विभक्ति और कारक का सूक्ष्म अन्तर मानने में बड़ी कठिनाई है। इससे हिन्दी-व्याकरण की क्लिष्टता बढती है और जब तक उनकी समाधानकारक व्यवस्था न हो तब तक केवल वाद-विवाद के लिए उन्हें व्याकरण में रखने से कोई लाभ नहीं है।"[4]

---

१ देखिए पं० कामता प्रसाद गुरु : हिन्दी व्याकरण पृ० २५०

२ देखिए पं० कामता प्रसाद गुरु : हिन्दी व्याकरण पृ० २५२

३ देखिए पं० किशोरीदास वाजपेयी : ब्रजभाषा का व्याकरण पृ० ३२

४ देखिए प० कामताप्रसाद गुरु : हिन्दी व्याकरण पृ० २५२

अस्तु, हम अन्य शब्दों के साथ संज्ञा या सर्वनाम के सम्बन्ध को 'कारक' कहेंगे और इस सम्बन्ध को प्रकाशित करने वाले संज्ञा के रूपान्तर की अवस्था को 'विभक्ति' कहेंगे। व्याकरण की वैज्ञानिक भाषा में हम उक्त परिभाषा उचित समझते हैं। साथ ही ने, को, का, के, की, में प्रभृति कारक-चिन्हों को विभक्तियों के नाम से पुकारना भी इस दृष्टि से उपहासास्पद ही प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत विवेचन में विभक्ति को उक्त अर्थ में ही ग्रहण किया जायगा।

परसर्ग और कारक-चिह्न

परसर्गों और कारक-चिह्नों के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा परसर्ग तथा कारक-चिह्न में कोई भी भेद नहीं करते। उनकी दृष्टि में 'ने, को, से' आदि कारक-चिह्न ही परसर्ग हैं। साथ ही ऐसे लोग 'पूतहि' 'मनहिं' आदि विकारी रूपों को परसर्ग-रहित मानते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि 'हि' और 'हिं' आदि प्रत्ययों को वे परसर्गों की श्रेणी में नहीं गिनते।[1] किन्तु पंडित किशोरीदास वाजपेयी जो कारक-चिह्नों को ही विभक्ति का नाम देते हैं, उक्त धारणा के प्रबल विरोधी हैं, जिसका प्रमाण उनके 'ब्रजभाषा का व्याकरण' के अन्तर्गत देखने को मिलता है।[2] इस प्रकार परसर्ग की समस्या हिन्दी-व्याकरण में विभक्ति से भी अधिक विवादास्पद हो जाती है। उपर्युक्त धारणाओं पर विचार करने पर यही जान

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—'ब्रजभाषा व्याकरण' पृ० ६०, ६१

२ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के 'ब्रजभाषा व्याकरण' में विवेचित 'हिं' और 'हि' से संयुक्त रूपों के सम्बन्ध में वाजपेयी जी लिखते हैं —

'यह 'हिं' या 'हि' विभक्ति अपनी अलग सत्ता रखती है और कर्म आदि कारकों में प्रयुक्त होती है, (क्रिया, विभक्ति, वर्तमान काल की) 'हि' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं, कोई वास्ता नहीं। यह संज्ञा-विभक्ति 'हिं' या 'हि' किसी क्रिया से बनी है, ऐसा समझ में नहीं आता। यह प्राकृत-अपभ्रंश आदि से होती हुई आई है।' इस विभक्ति के सम्बन्ध में भी डॉ० वर्मा को भ्रम है। विभक्ति को आप परसर्ग कहते हैं। डॉ० सक्सेना ने भी परसर्ग ही नाम रखा है। सो, इससे हमें कोई मतलब नहीं, कुछ भी कहें। भ्रम की बात देखिए—डॉ० वर्मा ब्रजभाषा-व्याकरण में लिखते हैं :—

'कर्म-सम्प्रदान एकवचन में परसर्गरहित 'तोहिं' और 'तोहि' वैकल्पिक रूप बराबर मिलते हैं।'

'जब कि 'हिं' तथा 'हि' स्वयं परसर्ग हैं तब ऐसा लिखना कैसा ? 'तोहि' परसर्गरहित कैसे ?'

—पं० किशोरीदास वाजपेयी—ब्रजभाषा का व्याकरण—पृ० २७८

पड़ता है कि संज्ञाओं के विभिन्न कारकों में प्रयुक्त रूपों का बोध कराने के लिए संज्ञाओं के उपरान्त अलग से जोड़े जाने वाले 'ने' 'को' 'से' आदि कारक-चिह्नों को परसर्ग कहना चाहिए और संयोगात्मक विकारी रूपों के (जिनके साथ परसर्ग का व्यवहार नहीं होता) साथ युक्त होने वाले 'हि', 'हिं' आदि प्रत्ययों को 'विभक्ति-सूचक प्रत्यय' के नाम से पुकारा जाय।

तुलसी की भाषा में उपलब्ध कारक-रचना का विश्लेषण करने से पहले उनकी एक विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर संकेत कर देना समीचीन होगा। वह यह कि सामान्यतः तुलसीदास जी ने अपने पूर्ववर्ती अवधी-कवि जायसी की भाँति अपने ग्रन्थों में परसर्गों का प्रयोग अल्प मात्रा में किया है। प्रायः या तो उनमें संज्ञाएँ अपने मूल रूप में ही प्रयुक्त हो गई हैं, अथवा विभिन्न कारकों में उनका अर्थबोध कराने के लिए उनके साथ विभक्ति-सूचक प्रत्यय लगाए गए हैं; उदाहरणार्थ 'हाटक धेनु बसन मनि नृप *बिप्रन्ह कहँ* दीन्ह'[1] अथवा 'तुलसी प्रभु गयो चहत *मनहुँ तें* सो तो है हमारे हाथ।'[2] इन पंक्तियों में 'बिप्रन्ह कहँ' तथा 'मनहुँ तें' जैसे रूप आए हैं जो 'कहँ' तथा 'तें' परसर्गों से युक्त रूप हैं। परन्तु तुलसी की शब्दावली में इन रूपों की अपेक्षा 'हि', 'हिं' आदि विभक्ति-सूचक प्रत्ययों से युक्त रूप कहीं अधिक मिलेंगे, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'रामहिं' और 'प्रभुहिं' जैसे रूप :—

पुनि पुनि *रामहिं* चितव सिय सकुचति मन सकुचै न।[3]
तुलसी *प्रभुहिं* देत सब आसन निज निज मन मृदु कमल कुटीर।[4]

उसी प्रकार ऐसे रूप भी बहुत बडी सख्या में मिलते हैं जिनमें संज्ञाओं के मूल रूपों का ही प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में व्यवहृत 'सैल', 'औषध', 'कपि', 'गिरि', 'रूपरासि', 'सिला', 'लवनि', आदि :—

देखा *सैल* न *औषध* चीन्हा। सहसा *कपि* उपारि *गिरि* लीन्हा।[5]
रूपरासि बिरची बिरंचि मनु *सिला लवनि* रति काम लही री।[6]

इस सम्बन्ध में डॉ० बाबूराम सक्सेना की उस गणना* का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा जिसके अनुसार रामचरितमानस की प्रथम ३०० पक्तियों के अन्तर्गत १८४ संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है जिनमें आधुनिक बोलचाल की प्रवृत्ति के अनुसार जाने कितने परसर्गों की आवश्यकता पड़ जाती; परन्तु तुलसीदास जी ने उनमें से केवल ४५ सज्ञाओं के साथ परसर्गों का व्यवहार किया है। उनकी गणना† के अनुसार जायसी ने तो पद्मावत की प्रथम तीन सौ पक्तियों के अन्तर्गत प्रयुक्त ६१ संज्ञाओं में केवल २४ संज्ञाओं के साथ परसर्ग का व्यवहार किया है। तुलसीदास भी इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए दिखाई देते हैं।

---

१ रा० १, १९३ २ श्रीकृ०, ४३ ३ रा० १, ३२६
४ गी० १, ५२ ५ रा० ६, ५८ ६ गी० १, १०४
*डॉ० बाबूराम सक्सेना : एवोल्यूशन आफ अवधी, पृ० २१३
† ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २१३

अस्तु, अब हम कारक-रचना के विश्लेषण पर आते हैं। इसके अन्तर्गत क्रमशः आठों कारकों में प्रयुक्त रूपों तथा उनकी व्युत्पत्ति पर संक्षेप में विचार किया जायगा।

कर्ताकारक

सामान्य रूप से किसी भी आधुनिक आर्यभाषा में कर्ताकारक का बोध कराने के लिए किसी परसर्ग का व्यवहार नहीं होता। केवल पश्चिमी हिंदी के सकर्मक भूतकालिक क्रिया तथा मराठी के एकवचन रूपों के साथ 'ने' और मराठी के बहुवचन रूपों के साथ 'नी' परसर्ग का प्रचलन मिलता है।[1] तुलसी की भाषा में अवधी बोली का प्राधान्य होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि 'ने' परसर्ग का उसमें अभाव हो क्योंकि अवधी में उसकी कोई सत्ता नहीं है। यहाँ पर केवल दो प्रकार से कर्ताकारक के रूपों का विधान दिखाई देता है। प्रायः तो ऐसा होता है कि संज्ञा के मूल रूप (एकवचन) अथवा विकारी एवं अविकारी बहुवचन रूप ही कर्ताकारक के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं जिनमें किसी विभक्ति-सूचक प्रत्यय अथवा परसर्ग का योग नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहाँ संज्ञाओं के अंतिम अक्षर के साथ चंद्रविन्दु अथवा अनुस्वार के द्वारा सूचित किए गए अनुनासिक ध्वनि के संयोग से इन रूपों का निर्माण हुआ है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में प्रयुक्त होने वाले संज्ञा-रूपों की कर्ताकारक-रचना के सम्बन्ध में लागू होती हैं। इनका संक्षिप्त निर्देश नीचे किया जाता है—

(क) पुल्लिंग एकवचन संज्ञारूपों का मूल रूप में व्यवहार—जिनमें किसी परसर्ग अथवा विभक्ति-सूचक प्रत्यय का योग नहीं है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त भूप, नगर, अंग और कनक :—

> *भूप* बिलोकि लिये उर लाई।[2]
> *नगर* सोहावन लागत बरनि न जातै हो।[3]
> सीय *अंग* सखि कोमल *कनक* कठोर।[4]

(ख) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित स्त्रीलिंग एकवचन रूपों का मूल रूप में व्यवहार, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त सीता, सीय और साति :—

> सो छबि *सीता* राखि उर रटति रहति हरि नाम।[5]
> *सीय* सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ।[6]
> तुलसी जबहिं *साँति* गृह आई। तब उर ही उर फिरी दोहाई।[7]

(ग) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित पुल्लिंग विकारी बहुवचन रूपों का व्यवहार, उदाहरणार्थ आगे की पंक्तियों में प्रयुक्त सिसुन्ह, बेदन और ऋषयनि—

---

१ पंडित कामता प्रसाद गुरु : हिंदी व्याकरण पृ० २५५
२ रा० १, ३५६   ३ रा० ल० न० २   ४ बरवै० २
५ रा० ३, २९ ख   ६ जा० म० १२१   ७ वै० सं० ६०

बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि *सिसुन्ह* हयसाला।[1]
हौं नहिं अधम सभीत दीन? किधौं बेदन मृषा पुकारो।[2]
जे पूजी कौसिक मख *ऋषयनि* जनक गनप संकर गिरिजा हैं।[3]

(घ) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित पुल्लिंग बहुवचन अविकारी रूपों का व्यवहार, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त वचन, सोच और कपि :—

ताके *वचन* बान सम लागे।[4]
सोच सकल मिटिहैं राम भलो मानिहैं।[5]
जै जै जानकीस जै जै लषन कपीस कहि कूदैं *कपि* कौतुकी नचत रेत रेत हैं।[6]

(च) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित स्त्रीलिंग बहुवचन विकारी रूपों का व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त सखिन्ह और जुबतिन्ह :—

तासु दसा देखी *सखिन्ह* पुलक गात जलु नैन।[7]
दल फल फूल दूब दधि रोचन *जुबतिन्ह* भरि भरि थार लये।[8]

(छ) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित स्त्रीलिंग बहुवचन अविकारी रूपों का व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत नारि, रानी और ग्वालिनि :—

चलीं मुदित परिछन करन गजगामिनि वर *नारि*।[9]
पानी पानी पानी सब *रानी* अकुलानी कहैं
जाति हैं परानी गति जानि गज चाल है।[10]
सुनि सुनि बचन चातुरी *ग्वालिनि* हँसि हँसि बदन दुरावहिं।[11]

(ज) पुल्लिंग संज्ञाओं के साथ अनुनासिक ध्वनि का योग, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त जोगीं, रोगीं और रायँ :—

पावा परम तत्व जनु *जोगीं*। अमृत लहेउ जनु संतत *रोगीं*।[12]
तबहिं *रायँ* प्रिय नारि बोलाई।[13]

(झ) स्त्रीलिंग संज्ञाओं के साथ अनुनासिक ध्वनि का योग, जैसे आगे की पंक्तियों में व्यवहृत कन्याँ, कौसल्याँ और मकरी :—

---

१ रा० ६, २४ २ वि० ९४ ३ गी० ७, १३
४ रा० ६, ४९ ५ वि० १३५ ६ क० ५, २९
७ रा० १, २२८ ८ गी० १, २ ९ रा० १, ३१७
१० क० ५, १० ११ श्रीकृ० ४ १२ रा० १, ३५०
१३ रा० १, १९०

काहु न लखा सो चरित बिसेषा। सो सरूप *नृपकन्याँ* देखा।[१]
कौसल्याँ अब काह बिगारा।[२]
सर पैठत कपि पद गहा *मकरीं* तब अकुलान।[३]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से उक्त अनुनासिक अंश[*] संस्कृत-संज्ञाओं के कतिपय विभक्ति-रूपों के साथ प्रयुक्त होने वाले अनुस्वार का अवशेष कहा जा सकता है।

कर्मकारक

इस कारक के रूपों का निर्माण भी विभिन्न स्थलों में विभिन्न प्रकार से हुआ है। इसका संक्षिप्त निर्देश सोदाहरण किया जा रहा है।

(क) परसर्ग एवं विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित पुल्लिंग एकवचन संज्ञाओं के मूल रूप का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

जो भजै *भगवान* समान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।[४]
काल न देखत काल बस बीस बिलोचन अंधु।[५]

(ख) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित पुल्लिंग बहुवचन विकारी रूपों का प्रयोग उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

अग्या पुनि पुनि *भाइन्ह* दीन्ही।[६]
काकपच्छ ऋषि परसत पानि सरोजनि।
लाल कमल जनु लालत बाल *मनोजनि*।[७]
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति अभय दान *देवन* दीन्हो।[८]

(ग) परसर्ग तथा विभक्ति-सूचक प्रत्यय से रहित पुल्लिंग बहुवचन अविकारी रूपों का प्रयोग; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे।[९]

---

१ रा० १, १३४   २ रा० २, ४१   ३ रा० ६, ५७
४ क० ७, ३३   ५ रामाज्ञा० ५, ३, ६   ६ रा० १, ३५६
७ जा० म० ७१   ८ वि० १३८   ९ रा० १, २१४

*यह अनुनासिक अंश केवल एकवचन संज्ञा-रूपों में ही मिलता है। विशेष रूप से यहाँ पर इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक होगा कि ऐसे सानुनासिक रूपों का व्यवहार कर्ताकारक अथवा अन्य कारकों में (जैसा हम आगे देखेंगे) विशेषतया गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित रामचरितमानस में ही दृष्टिगोचर होता है जिसके पाठ का आधार प्रस्तुत विवेचन में लिया गया है। मानस के अन्य अनेक संस्करणों में तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली (दूसरा खंड) में यह विशेषता नहीं मिलती। अतः यह नियम मौलिक प्रतीत होते हुए भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

नीले पीले कमल से कोमल कलेवरनि तापस हूँ
वेप किए *काम* कोटि फीके हैं ।[1]
चंड बाहुदंड बल चंडीस कोदंड खंड्यो
व्याही जानकी जीते *नरेस* देस देस के ।[2]

(घ) परसर्ग तथा विभक्तिसूचक प्रत्यय से रहित स्त्रीलिंग एकवचन रूपों का व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों में अकित शब्द—

राजा सब रनिवास बोलाई । *जनकपत्रिका* बांचि सुनाई ।[3]
गौतम की *तीय* तारी मेटे अघ भूरि भारी लोचन अतिथि भए जनक जनेस के ।[4]
कवित *रीति* नहिं जानउँ कवि न कहावउँ ।[5]

(च) परसर्ग तथा विभक्तिसूचक प्रत्यय से रहित स्त्रीलिंग बहुवचन अविकारी रूपों का प्रयोग; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरो में अकित शब्द :—

हृदयँ सुमिरि सब *सिद्धि* बोलाई । भूप पहुनई करन पठाई ।[6]
दु *दुभी* बजाइ गाइ हरपि बरषि फूल सुरगन नाचैं नाच नायक हू नाक के ।[7]
दइ जनक तीनिहुँ *कुवँरि* कुवंर बियाहि सुनि आनन्द भरी ।[8]

(छ) परसर्ग तथा विभक्तिसूचक प्रत्यय से रहित स्त्रीलिंग बहुवचन विकारी रूपों का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अकित शब्द :—

सुन्दर वधुन्ह सासु लै सोईं । फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोईं ।[9]
रोषे माषे लपन अकनि अनखौहीं *बातें* तुलसी विनीत बानी बिहँसि ऐसी कही ।[10]

(ज) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के योग से बने हुए पुल्लिंग संज्ञारूपों का प्रयोग, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियो के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल ।[11]
ललित *सुतहि* लालत सचु पाए ।[12]
बिनइ *गुरुहि गुनिगनहि गिरिहि गननाथहि* ।
हृदय आनु सिय राम धरे *धनुभाथहि* ॥[13]

(झ) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के योग से बने हुए स्त्रीलिंग रूपों का व्यवहार; जैसे आगे की पक्तियो के टेढ़े अक्षरों मे अकित शब्द :—

---

१ गी० २, ३०   २ क० १, २१   ३ रा० १, २६५
४ क० १, २१   ५ पा० म० २   ६ रा० १, ३०६
७ गी० १, ९२   ८ जा० म०, १७१   ९ रा० १, ३५८
१० क० १, १९   ११ रा० १, २५८   १२ गी० १, २९
१३ पा० म० १

सतरूपहि बिलोकि कर जोरें। देबि मांगु बर जो रुचि तोरें।'
पर अपवाद विवाद विदूषित *बानिहि*।
पावनि करउँ सो गाइ भवेस *भवानिहि*।[२]
तब जनक आयसु पाइ कुलगुरु *जानिकिहि* लै आयऊ।[३]

यत्र तत्र 'हि' के स्थान मे 'ही' प्रत्यय का योग भी देखने को मिलता है (छंद पूर्ति के प्रयास में ही ऐसे रूपों का प्रयोग संभव हो सका है), जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

हंसहि बक दादुर *चातकही*। हँसहि मलिन खल विमल बतकही।[४]
मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेहु राखु *सरीरही*।[५]
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि *बबूरही*।[६]

(ट) पुल्लिंग संज्ञा-रूपों के साथ विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हिं' के योग से कर्मकारक-रूपों का निर्माण* उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

माघ मकरगत रवि जब होई। *तीरथपतिहिं* आव सब कोई।[७]
पुर नर नारि निहारहिं *रघुकुलदीपहिं*। दोसु नेहबस देहिं बिदेह *महीपहिं*।[८]
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित *कंचनहिं* कसैहौं।[९]

कुछ स्थलों पर स्त्रीलिंग संज्ञाओं के साथ भी 'हिं' के योग से कर्मकारक रूप बनाए गये हैं, जैसे निम्नलिखित पंक्तियो के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

तौ कत बिप्र व्याध *गनिकहि* तारेहु कछु रही सगाई।[१०]
भेंटि *उमहिं* गिरिराज सहित सुत परिजन।[११]
चलीं लेवाइ *जानकिहि* भा मनभावत।[१२]

१	रा० १, १५०	२	पा० मं० ४	३	जा० मं० ६०
४	रा० १, ६	५	रा० ४, १०	६	रा० १, ४४
७	रा० १, ४४	८	जा० म० ७३	९	वि० १०५
१०	वि० ११२	११	पा० म० १६०	१२	जा० म० ११६

*यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तुलसी ने विभक्तिसूचक प्रत्यय का व्यवहार केवल सज्ञाओं के एकवचन रूपों के साथ ही किया है। बहुवचन रूप या तो अकेले ही अपने मूल रूप में प्रयुक्त हुए हैं अथवा उनके साथ परसर्गों का योग हुआ है, जैसा हम आगे देखेंगे। उनके साथ विभक्तिसूचक प्रत्ययों का व्यवहार न करना तुलसी की एक प्रमुख विशेषता है जिसका एक प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि बहुवचन रूपों का एक बहुत बड़ा भाग स्वयं ही प्रत्यययुक्त रहता है और इसीलिए उसके साथ पुनः प्रत्यय का योग एक भद्देपन की सृष्टि करता है।

(ठ) 'को' परसर्ग के योग से तुलसी ने प्रायः अपनी व्रजभाषाकृतियों में कर्मकारक-रूपों का निर्माण किया है।* मानस जैसे अवधीबहुल-ग्रंथों मे इस परसर्ग का व्यवहार बहुत कम दिखाई देगा। इस परसर्ग से युक्त रूपो के कुछ उदाहरण निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अशो में द्रष्टव्य हैं :—

"सिगरियै हौं ही खैहौ *बलदाऊ को* न दैहौं" '*सो क्यौ*' भट्ट तेरो कहा कहि इत उत जात।[1]

राजमराल के वालक पेलि के पालत लालत *खूसर को*।[2]

कहीं कही 'को' के स्थान पर 'कों' परसर्ग का व्यवहार भी देखने को मिलता है; जैसे निम्नलिखित पक्ति के टेढे अक्षरो में अकित अश—

को सुनइ काहि सोहाइ घर चित चहत *चंद्रललाम कों*।[3]

(ड) 'कहँ' परसर्ग का व्यवहार कर्मकारकरूपो के निर्माण मे तुलसी की लगभग सभी रचनाओं के अन्तर्गत बहुलता से किया गया है। इसका प्रयोग 'को' परसर्ग की भाँति सीमित नही है। 'कहँ' ही कहीं-कहीं 'कहुँ' के रूप मे व्यवहृत मिलता है। दूसरे परसर्ग 'कहुँ' के प्रयोग को व्यापक नियम के रूप में न ग्रहण करते हुये एक स्फुट नियम अथवा अपवाद के रूप में ही समझना उपयुक्त होगा; यह भी संकेत कर देना उचित जान पड़ता है। दोनों प्रकार के रूपो के उदाहरण दिये जाते हैं :—

अ—'कहँ' के योग से बने हुए कर्मकारकरूप; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरो में अंकित अश:—

तेहि *रावन* कहँ लघु कहसि नर कर करसि वखान।[4]
तुलसिदास तजि आस त्रास सव ऐसे *प्रभु* कहँ गाउ।[5]
देइ सुअरघ *राम* कहँ लेइ वैठाइय हो।[6]

'कहुँ' के योग से बने हुए कर्मकारकरूप; जैसे निम्नलिखित पंक्तियो के टेढ़े अक्षरों में अकित अश :—

महामत्त *गजराज* कहुँ बस कर अंकुस खर्व।[7]
काम जारि *रति* कहुँ बर दीन्हा।[8]
जब लगि भजत न *राम* कहुँ सोकधाम तजि काम।[9]

उक्त नियमित रूपों के अतिरिक्त तुलसी की सस्कृतमिश्रित शब्दावली के अन्तर्गत कुछ स्थलो पर सस्कृत की विशुद्ध द्वितीया विभक्ति के रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं जो प्रस्तुत

---

*इस 'को' परसर्ग का आधुनिक खड़ीबोली में भी प्रचुरता से व्यवहार होता है किंतु अवधी में इसका पूर्ण बहिष्कार है।

१ श्रीकृ० २ २ क० ७, १०२ ३ पा० म० ३६
४ रा० ६, २५ ५ गी० ५, ४५ ६ रा० ल० न० ४
७ रा० १, २५६ ८ रा० १, ८६ ९ रा० ५, ४६

व्याकरणिक विवेचन में विशेष महत्त्व के न होते हुए भी वैविध्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों मे अंकित शब्द :—

पाणि चाप सर कटि तूणीरं। नौमि निरंतर श्री *रघुवीरम्*।[1]
नौमि *नारायण* नरं करुणायन ध्यानपारायण ज्ञानमूलम्।[2]
चरणारविंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभम्।[3]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से कर्मकारकसम्बन्धी प्रत्यय तथा परसर्ग पर्याप्त महत्त्व रखते हैं; किन्तु इनमें तथा सम्प्रदानकारक के रूपो मे प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों एव परसर्गों मे बहुत कुछ साम्य पाया जाता है, अतः पहले सम्प्रदानकारक-रूपों का विवेचन कर देने के उपरान्त दोनों कारको के विभक्तिसूचक प्रत्ययो तथा परसर्गों की व्युत्पत्ति पर एक साथ विचार करना अधिक युक्तिसगत होगा।

संप्रदानकारक

इस कारक के रूपों का निर्माण प्रायः कर्मकारक-रूपो के प्रत्यय 'हि' और 'हिं' तथा परसर्ग 'कहँ', 'कहुँ' से ही हुआ है। केवल 'को' ऐसा कर्मकारक-परसर्ग है जिसका व्यवहार सम्प्रदानकारक-रूपों के लिये तुलसी ने अत्यन्त अल्प मात्रा मे किया है। कुछ और भी अर्द्धसार्थक एव सार्थक परसर्गों का सहारा लेकर सम्प्रदानकारक-रूप निर्मित किये गये हैं जो उनके कुछ मौलिक प्रयोगों में गिने जा सकते हैं। इनमे 'लगि', 'लागि', 'हित' तथा 'हेतु' प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। क्रमशः उनका सोदाहरण विवेचन किया जाता है :—

(क) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के योग से बने हुए रूपो का प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों मे अंकित शब्द :—

सब लच्छन सपन्न कुमारी। होइहि सतत *पियहि* पियारी।[4]
तऊ न होत कान्ह को सो मन सबै *साहिबहि* सोहै।[5]

(ख) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हिं' के योग से बने हुए रूपों का प्रयोग; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

तुलसी के मत *चातकहिं* केवल प्रेम पियास।[6]
धनु चढाइ *कौतुकहिं* कान लगि तानेउ।[7]

(ग) 'कहँ' परसर्ग के सहारे सम्प्रदानकारक-रूपों का निर्माण, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरो में अंकित अंश :—

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व *बिजय कहँ* कीन्ही।[8]
भवसरिता कहँ नाव सत यह कहि औरनि समझावत।[9]

---

१ रा० ३, ११ २ वि० ६० ३ श्रीकृ० २३
४ रा० १, ६७ ५ श्रीकृ० ३५ ६ दो० ३०८
७ जा० म० ११५ ८ रा० १, २३० ९ वि० १८५

तुलसी दिन भल *साहु* कहँ भली चोर कहँ राति ।[१]

(घ) 'कहुँ' परसर्ग के योग से सम्प्रदानकारक-रूपों का निर्माण; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों मे अंकित अंश :—

नर तनु *भववारिधि* कहुँ बेरो ।[२]
एहि सरीर बसि सखि वा *सठ* कहुँ कहि न जाइ जो निधि फबि आई ।[३]

(च) 'लगि' का परसर्ग के रूप में व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पंक्तियो के टेढ़े अक्षरों मे अंकित अंश :—

मैं तुम्हरे *संकलप लगि* दिनहि करवि जेवनार ।[४]
राम प्रसाद माल *जूठनु लगि* त्यों न ललकि ललचानी ।[५]
तुलसी प्रभु झूठे *जीवन लगि* समय न धोखा लैहौ ।[६]

(छ) 'लागि' परसर्ग के योग से संप्रदानकारक-रूपों का निर्माण; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश:—

तासु बचन अति सियहि सुहाने । *दरस लागि* लोचन अकुलाने ।[७]
जो *बर लागि* करहु तप तौ लरिकाइय ।[८]
निज आंसिक *सुख लागि* चतुर अति कीन्हीं है प्रथम निसा सुभ सुंदर ।[९]

'लागि' परसर्ग ही छंदपूर्ति के प्रयास मे यत्र-तत्र प्रायः चौपाई छंदो में 'लागी' के रूप में प्रयुक्त हो गया है जिसका समुचित ध्यान न रहने से अर्थ-विभ्रम की संभावना रहती है । इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

सो मम *हित लागी* जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता ।[१०]
राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम *पन लागी* ।[११]
तब लगि रहहु दीन *हित लागी* । जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी ।[१२]

(ज) 'हित' का परसर्ग के रूप में प्रयोग करके संप्रदानकारक-रूपों का निर्माण; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश:—

विप्र धेनु सुर *संत हित* लीन्ह मनुज अवतार ।[१३]
तुलसिदास तनु तजि *रघुपति हित* कियो प्रेम परवान ।[१४]
स्वारथ *परमारथ हित* एक उपाय । सीय राम पद तुलसी प्रेम बढ़ाय ।[१५]

---

१ दो० १४८ | २ रा० ७, ४४ | ३ श्रीकृ० २५
४ रा० १, १६८ | ५ वि० १७० | ६ गी० ३, १३
७ रा० १, २२६ | ८ पा० मं० ५१ | ९ श्रीकृ० ३१
१० रा० १, १४२ | ११ रा० २, २६४ | १२ रा० ३, ८
१३ रा० १, १९२ | १४ गी० २, ५१ | १५ बरवै० ४५

(झ) 'हेतु' शब्द का सम्प्रदानकारक के परसर्ग के रूप में व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंशः—

जग *हित* हेतु बिमल बिधु पूषन ।[१]
तेहि सरीर हर हेतु अरंभेउ बड तपु ।[२]
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।[३]

(ट) 'को' परसर्ग के योग से बने हुए सम्प्रदानकारक रूपों की अल्पसंख्यकता के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। इस नियम का अनुसरण जिन विरले स्थलों पर तुलसी ने किया है उसके एकाध उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंशो मे मिल जायँगे'—

कृसगात ललात जो *रोटिन* को घरबात धरे खुरपा खरिया ।[४]
भगतन को हित कोटि मातु पितु औरन्ह को कोटि कृसानु हैं ।[५]
आरत दीन *अनाथन* को रघुनाथ करैं निज हाथ की छाहैं ।[६]

व्युत्पत्ति—कर्म तथा सम्प्रदानकारक के विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' और 'हिं' तथा परसर्ग कहँ, कहुँ, को, लगि, लागि, हित और हेतु मे से अधिकांश की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों तथा भाषावैज्ञानिकों में पर्याप्त मतभेद मिलता है। अतः इन पर संक्षेप में क्रमश. विचार किया जायगा।

'हि' और 'हिं' की व्युत्पत्ति डॉ० सक्सेना के कथनानुसार डॉ० चटर्जी ने एक कल्पित रूप 'धि' (पाली 'धि') से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस अनुमान को सर्वप्रथम हार्नली ने प्रस्तुत किया था और जार्ज ग्रियर्सन ने भी उसे स्वीकार कर लिया था, किंतु डॉ० सक्सेना के विचार से इसके इस रूप का पाली में व्यवहार नहीं मिलता। उन्होने इसीलिए अवधी के इस अत्यन्त प्रचलित विभक्तिसूचक प्रत्यय का सम्बन्ध 'धि' से न जोडकर संस्कृत-सर्वनाम की सप्तमी विभक्ति में मिलनेवाले स्मिन् 7 म्हि (7 हिं, हि) से मानना अधिक युक्तिसंगत समझा है।[७] रूप-सामीप्य के विचार से सक्सेना जी का ही मत अधिक स्वाभाविक जान पडता है।

कहँ, कहुँ तथा को—ये तीनों परसर्ग एक ही मूल से व्युत्पन्न जान पडते हैं क्योंकि अधिकांश विद्वान 'को' को 'कहँ' तथा 'कहुँ' का ही एक रूप मानते हैं। उनकी व्युत्पत्ति के विषय में उपलब्ध विभिन्न मतों का उल्लेख करके हम इस सम्बन्ध में निर्णय करेंगे। इन मतों को प्रस्तुत करने वालों में ट्रम्प, बीम्स, हार्नली, केलाग, डॉ० चटर्जी, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, जार्ज ग्रियर्सन, काल्डवेल तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

ट्रम्प महोदय के अनुसार इन परसर्गों की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कृत' से हुई है। उनका अनुमान है कि जब 'कृत' की 'ऋ' का लोप हुआ होगा तो 'त' महाप्राण हो गया होगा और इस प्रकार 'कहँ' तथा 'कहुँ' रूपों का विकास हुआ होगा। 'को' भी उनके अनुसार 'कृत' से ही व्युत्पन्न हुआ है जो प्राकृत में कितो 7 किओ होकर क्रमशः 'को' का रूप धारण कर सकता

---

१ रा० १, २० २ पा० म० ३६ ३ रा० २, ११३
४ क० ६, ४६ ५ गी० ५, ३५ ६ क० ६, ११
७ डॉ० बाबू राम सक्सेना . एवोल्यूशन आफ अवधी पृ० १२३-१२४

है।[१] यह मत वैज्ञानिक कसौटी पर खरा नहीं उतरता। 'कृत' से 'ऋ' लुप्त होने पर 'त' का महाप्राण होना अस्वाभाविक जान पडता है। रहा 'को' के पूर्व-रूपों का प्रश्न, वह भी असदिग्ध नही कहा जा सकता है। डा० वर्मा[२] का तो स्पष्ट प्रतिवाद है कि वस्तुतः प्राकृत मे कत और कद रूप मिलते हैं, फिर भी 'को' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे ट्रप का अनुमान, उनके 'कहॅ' तथा 'कहुँ' से सम्बन्धित अनुमान की अपेक्षा, अधिक बल रखता है।

बीम्स[३] तथा हार्नली[४] 'को' 'कहॅ' तथा 'कहुँ' का सम्बन्ध संस्कृत 'कक्ष' से जोडते हैं। केलाग[५] भी ट्रप से सहमत थे किंतु बाद में बीम्स और हार्नली के ही मत को मानने लगे थे। डा० चटर्जी[६] जैसे आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी इस व्युत्पत्ति को ठीक समझते हैं; यद्यपि 'कृत' वाली व्युत्पत्ति को भी असभव नहीं समझते। इस मत के अनुसार 'को' का सभावित इतिहास इस प्रकार है:—

स० कक्ष 7 कक्ख, काख 7 काह 7 कह, कहुँ, को

कहॅ तथा कहुँ इस दृष्टि से 'को' के पूर्ववर्ती रूप हुए। अर्थ की दृष्टि से 'कक्ष' जिसका अर्थ 'बगल में' होता है 'को' से, जो अर्थ की दृष्टि से 'निकट' और 'ओर' का द्योतक है, अधिक साम्य रखता है, यह तर्क भी इस मत के प्रतिपादक प्रस्तुत करते हैं।[७] यहीं पर यह भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि डॉ० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर[८] इस व्युत्पत्ति को निर्मूल सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जिस अर्थ में 'को' विभक्ति आती है उस अर्थ में कहीं भी कक्ष और काख आदि का प्रयोग सस्कृत तथा अन्य मध्यकालीन भाषाओं के साहित्य में नही हुआ है। कहने का तात्पर्य यह कि उक्त मत भी विवादरहित नहीं है, यद्यपि ट्रप के मत की अपेक्षा इस मत की मान्यता कहीं अधिक है इसमें कोई सदेह नही।

काल्डवाल महोदय 'को' का सम्बन्ध द्राविड के कर्म और सप्रदान के रूपो मे प्रयुक्त 'कु'[९] से जोडते हैं जिसकी ओर ग्रियर्सन ने भी सकेत किया है। यद्यपि यह सुदूरवर्ती भाषा

---

१ ट्रंप : सिंधी ग्रामर पृ० ११५

२ वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, २४६

३ बीम्स : क० ग्रामर—भाग २, ५६

४ हार्नली : ई० हि० ग्रामर; ३७५

५ केलाग : हिंदी ग्रामर, पृ० १३०

६ चटर्जी : बें० लैं०, ५६५

७ बीम्स : क० ग्रामर, भाग २, पृ० २५२-२५६

८ Bhandarkar—Wilson Philological Lectures (on Sanskrit and the derived languages delivered in 1877—1914) p. 246

९ ब्रज में बोला जाता है 'राम कूँ देखि ले।' साहित्यिक ब्रजभाषा में 'कूँ' 'कौ' के रूप में आ गया है (देखिए पं० किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा का व्याकरण' पृ० ८७ इस 'कूँ' का द्राविड 'कु' से साम्य ध्यान देने योग्य है जिससे 'को' की व्युत्पत्ति काल्डवाल ने मानी है।

का रूप है, किंतु फिर भी यह 'को' से इतना अधिक निकट पड़ता है कि इस व्युत्पत्ति को भी असंभव नहीं कहा जा सकता। कहँ तथा कहुँ परसर्गों का इस मत से कोई भी सम्बन्ध जोड़ना उचित न होगा। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कहँ, कहुँ तथा 'को' की व्युत्पत्ति सं० कृत, सं० कक्ष तथा द्राविड 'कु' आदि विभिन्न रूपों से विभिन्न विद्वान मानते हैं, किन्तु अर्थ और रूप-साम्य की दृष्टि से 'कक्ष' से ही उक्त परसर्गों का सम्बन्ध जोड़ना उचित होगा।

केवल सम्प्रदानकारक-रूपों में प्रयुक्त होने वाले परसर्गों के अन्तर्गत लगि, लागि, हित और हेतु की व्युत्पत्ति संक्षेप में नीचे दी जाती है :—

लगि तथा लागि—इन परसर्गों का सम्बन्ध सं० लग्न > प्रा० लग्ग, लग्गि (> हि० लगि, लागि) से जोड़ा जा सकता है।

हित, हेतु—वैसे तो ये दोनों संस्कृत और हिंदी के सार्थक शब्द हैं, किंतु ये सम्प्रदान-कारक के परसर्गों के रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं। इस रूप में इनका मूल प्राकृत की चतुर्थी विभक्ति के 'हिंतो' में खोजा जा सकता है।

करणकारक

इस कारक के रूपों का निर्माण विविध नियमों का अनुसरण करते हुए किया गया है। इनके प्रमुखतः तीन प्रकार मिलते हैं:—

१ जहाँ पर शब्दों के मूल रूप एकवचन अथवा बहुवचन एवं विकारी रूप (बहुवचन) ही करणकारक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं और उनमें किसी विभक्तिसूचक प्रत्यय अथवा परसर्ग का योग नहीं है।

२. जिन शब्दों के साथ अनुनासिक ध्वनि का योग करके उन्हें करणकारक का रूप दिया गया है।

३. वे रूप जिनके विधान में परसर्गों का सहारा लिया गया है।

परसर्गों में 'ते', 'सो' और 'से' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विभक्तिसूचक प्रत्ययों का योग इस कारक के रूपों में नहीं दिखाई पड़ता। विकारी बहुवचन रूपों के निर्माण में जो प्रत्यय आये हैं, उन्होंने विभक्तिसूचक प्रत्ययों का अर्थ अन्य कारक-रूपों के प्रत्ययों की भाँति यहाँ भी व्यक्त किया है, किंतु उन्हें किसी विशेष कारक के अन्तर्गत विभक्तिसूचक प्रत्यय की संज्ञा देना हम उचित नहीं समझते। इसके पक्ष में दो प्रमुख कारण उपस्थित किये जा सकते हैं—(१) ये किसी विशेष कारक रूप में सीमित न होकर सभी कारकों में समान रूप से व्यवहृत हुए हैं। (२) इन प्रत्ययों से युक्त बहुवचन-रूपों के साथ सभी परसर्गों का व्यवहार यत्र-तत्र हुआ है जब कि विभक्तिसूचक प्रत्ययों के योग से बने हुए संयोगात्मक रूप, जिनके साथ किसी अन्य परसर्ग की आवश्यकता नहीं पड़ती, स्वयं कारक-रूप की पूर्णता को अभिव्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त तीन प्रकार के रूपों के अतिरिक्त कतिपय रूप संस्कृत संज्ञाओं की तृतीया विभक्ति के रूपों से लगभग पूर्ण साम्य रखते हैं, किन्तु इन रूपों का तुलसी की भाषा के

व्याकरण की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है। केवल विविधरूपता की दृष्टि से उनका भी उल्लेख आवश्यक जान पडता है। उक्त सारे रूपों का सोदाहरण विश्लेषण आगे किया जाता है।

(क) पुल्लिंग एकवचन संज्ञारूपों का मूल रूप में, बिना किसी विभक्तिसूचक प्रत्यय अथवा परसर्ग के योग के व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

सोभा रजु मंदर सिगारू। मथै *पानि पंकज* निज मारू।[१]
सखि यहि *मग* जुग पथिक मनोहर बधु बिधुबदनि समेत सिधाए।[२]
राम *प्रसाद* दास तुलसी उर राम भगति जोग जागिहै।[३]

(ख) पुल्लिंग बहुवचन विकारी संज्ञारूपों का व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

निज *नयनन्हि* देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु।[४]
पानही न *चरन सरोजनि* चलत मग कानन पठाए पितु मातु कैसे ही के हैं।[५]
काकपच्छ ऋषिन परसत *पानि सरोजनि*।[६]

(ग) पुल्लिंग बहुवचन अविकारी संज्ञारूपों का प्रयोग; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

नहि चितव जब करि कोपि कपि गहि *दसन* लातन्ह मारहीं।[७]
कंत बीस *लोचन* बिलोकिए कुमंत फल
ख्याल लंका लाई कपि रॉड़ की सी झोपरी।[८]
भरिगे *रतन पदारथ* सूप हजार हो।[९]

(घ) स्त्रीलिंग एकवचन संज्ञारूपों का, बिना किसी विभक्तिसूचक प्रत्यय अथवा परसर्ग के, मूल रूप मे व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

जेहि *कृपा* व्याध गज बिप्र खल नर तरे
तिन्हहिं समान मानि मोहि उद्धरहुगे।[१०]
चलीं संग लै सखीं सयानी। गावत गीत मनोहर *बानी*।[११]
लोकरीति विदित बिलोकियत जहाँ तहाँ
स्वामी के सनेह स्वान हू को सनमानु है।[१२]

(च) विभक्तिसूचक प्रत्यय एव परसर्ग के योग के बिना स्त्रीलिंग बहुवचन विकारी संज्ञारूपों का व्यवहार; उदाहरणार्थ आगे की पंक्तियों के टेढे अक्षरो में अंकित शब्द :—

---

१ रा० १, २४७   २ गी० २, ३५   ३ वि० २२४
४ रा० १, ८८   ५ गी० २, ३०   ६ जा० मं० ७१
७ रा० ६, ८५   ८ क० ६, २७   ९ रा० ल० न० १६
१० वि० २११   ११ रा० १, २४८   १२ क० ७, ६४

बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।[१]
सुघर सरस *सहनाइन्ह* गावहि समय निसान।[२]

(छ) कहीं-कहीं अनुनासिक ध्वनि के संयोग से भी करणकारक-रूपों का निर्देश किया गया है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

रामहिं चितव *भायँ* जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया।[३]
राम *कृपाँ* नासहि सब रोगा।[४]
तुम्हरी *कृपाँ* सुलभ सोउ मोरे।[५]

(ज) 'तें' परसर्ग का व्यवहार प्रचुरता से हुआ है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

राम *कृपा तें* पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं।[६]
मद मोह लोभ बिषाद क्रोध *सुबोध तें* सहजहि गए।[७]
तुलसी राम *कृपालु तें* भलो होइ सो होइ।[८]

(झ) 'सों' परसर्ग भी 'तें' के समान ही व्यवहृत हुआ है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित स्थल :—

एक एक सों मर्दहि तोरि चलावहिं मुंड।[९]
प्रीति *राम सों* नीति पथ चलिय रागरिस जीति।[१०]
मति *रामहिं सों* गति *रामहि सों* रति *राम सों* रामहिं को बलु है।[११]

(ट) 'सन' परसर्ग 'तें' से भी अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुआ है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

भलि रचना मुनि *नृप सन* कहेऊ।[१२]
बामदेव सन काम बाम होइ बरतेउ।[१३]
बड़े भाग अनुराग *राम सन* होय।[१४]

(ठ) 'सैं' परसर्ग का प्रयोग भी कहीं-कहीं 'मानस' में मिल जाता है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

कहेहु दंडवत *प्रभुहिं सैं* तुम्हहि कहउँ कर जोरि।[१५]
जिमि कोउ करै *गरुड सैं* खेला।[१६]

---

१ रा० ५, ५६ क　२ गी० ७, २१　३ रा० १, २४२
४ रा० ७, १२२　५ रा० १, १४　६ रा० १, ११२
७ वि० १३६, १०　८ दो १००　९ रा० ६, ४४
१० दो० २८६　११ क० ७, ३७　१२ रा० १, २४४
१३ पा० मं० २६　१४ बरवै० ६३　१५ रा० ७, १६
१६ रा० ६, ५१

(ङ) संस्कृत-मंज्ञाओं की तृतीया विभक्ति के रूपों का व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित शब्द :—

मृग लोग कुभोग *सरेन* हिए।[1]
जाहु *सुखेन* बनहिं बलि जाऊं।[2]
धर्म धुर धीर रघुवीर भुजबल अतुल *हेलया* दलित भूभार भारी।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों मे प्रयुक्त सरेन, सुखेन और हेलया क्रमशः संस्कृत के सरं, सुख और हेला की तृतीया विभक्ति के रूपो से लगभग पूर्ण साम्य रखते हैं।

अपादानकारक

प्रायः इस कारक के रूप करणकारक-रूपों के साथ साम्य रखते हैं और केवल अर्थ-वैभिन्न्य के सहारे ही दोनों का अन्तर स्पष्ट होता है। 'ते', 'तें' तथा 'सों' इस कारक के प्रमुख परसर्गों के रूप मे व्यवहृत हुए हैं। विभक्तिसूचक प्रत्यय तथा परसर्ग से रहित रूपों का प्रयोग इस कारक में अन्य कारकों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। संस्कृत की पंचमी विभक्ति के कुछ रूप कहीं कहीं रामचरितमानस में विशेष रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। इन अपादान कारक-रूपों के सम्बन्ध में केवल एक बात विशेष महत्त्व रखती है और वह है 'चाहि' का अपादानकारक के परसर्ग के रूप में 'की अपेक्षा' के अर्थ में व्यवहार। इसका प्रयोग अवधी बोली से अधिक सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि तुलसी के रामचरितमानस मे ही नहीं वरन् मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत में भी इसका प्रयोग हुआ है। संक्षेप में तुलसी की शब्दावली के अन्तर्गत उपलब्ध अपादानकारक-रूपों का निर्देश सोदाहरण नीचे किया जाता है।

(क) 'ते' परसर्ग का व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहु अबहिं *भवन ते* आए।[4]
उलटा जपत *कोल ते* भए ऋपिराउ।[5]
पुरुखा ते सेवक भए *हर ते* भे हनुमान।[6]

(ख) 'ते' के सानुनासिक रूप 'तें' का परसर्ग के रूप मे प्रयोग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों मे अंकित अंश :—

तुम्ह सहित *गिरि तें* गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।[7]
गए कर ते *घर तें आँगन तें ब्रजहू तें* ब्रजनाथ।
तुलसी प्रभु गयो चहत *मनहुँ तें* सो तो है हमारे हाथ॥[8]
पुर तें निकसी रघुवीरवधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।[9]

---

१ रा० ७, १४	२ रा० २, ५७	३ वि० ४४
४ रा० १, १४५	५ बरवै० ५४	६ दो० १४३
७ रा० १, ६६	८ श्रीकृ० ४२	९ क० २, ११

(ग) 'सा' परसर्ग का प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पंक्तिया के टेढे अक्षरो मे अंकित स्थलः—

काहे अतिकाय काहे काहे रे अकंपन अभागे तिय त्यागे भोंड़े भागे जात *साथ सों* ।[१]

(घ) 'चाहि' शब्द का अपादानकारक के परसर्ग के रूप में व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियो के टेढे अक्षरो मे अंकित स्थल :—

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल *कुसुमहु चाहि* ।
चित खगेस अस राम कर समुझि परै कहु काहि ॥[२]
कहँ धनु *कुलिसहु चाहि* कठोरा । कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ।[३]
धरनी धनु धाम सरीर भलो *सुरलोकहु चाहि* इहै सुख स्वै ।[४]

छन्दपूर्ति के प्रयास मे इसी 'चाहि' शब्द के दीर्घस्वगत रूप 'चाही' का व्यवहार भी हुआ है, जैसे निम्नलिखित पंक्ति के टेढे अक्षरो मे अंकित अंश :—

अरि बल दैव जियावत जाही। मरनु नीक तेहि *जीवन चाही* ।[५]

(च) संस्कृत शब्दो की पञ्चमी विभक्ति के रूपो का तत्समरूप मे प्रयोग भी कहीं-कहीं मिल जाता है, जैसे निम्नलिखित पंक्ति के अन्तर्गत 'पदात्' जो संस्कृत 'पद' की पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का रूप है ·—

ते पाइ सुर दुर्लभ *पदादपि** परत हम देखत हरी ।[६]

व्युत्पत्ति—करणकारक और अपादानकारक के रूपों में व्यवहृत सभी परसर्गों—ते, तें, सों, सौं, सन तथा चाहि—की व्युत्पत्ति पर विचार किया जा रहा है ।

ते, तें—का सम्बन्ध केलाग संस्कृत के प्रत्यय 'तः' से मानते हैं जो अपादान के अर्थ मे पितृतः (पिता से) जैसी सज्ञाओ में प्रयुक्त मिलता था ।

डॉ० चटर्जी इसे संस्कृत 'अन्ते' से व्युत्पन्न मानते हैं । संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त 'तरित.' की सप्तमी विभक्ति के रूप 'तरिते' से भी हार्नली जैसे कुछ विद्वान इसका सम्बन्ध जोडते हैं जो क्रमश. प्राकृत मे 'तरिए', 'तए' और 'ते' के रूप मे होते हुए विकसित हुआ होगा । केलाग भी इस मत से असहमत नहीं जान पडते ।[७] इन परसर्गों का मूल प्राकृत 'हिंतो' मे भी खोजा जा सकता है । संस्कृत 'तेन' से भी उक्त ते, तें को व्युत्पन्न मान सकते हैं । अन्तिम अनुमान रूप-साम्य तथा अर्थ विधान दोनों दृष्टियों से अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

सों, सैं, सन—'सो' की व्युत्पत्ति डॉ० चटर्जी के अनुसार सं० सम और सम से हुई है । वे 'से' का सम्बन्ध स० सम हि 7 प्रा० सम्अइ से मानते हैं । उनका यही विचार 'सै' की

---

१ क० ५, १२ २ रा० ७, १६ ३ रा० १, २५८
४ क० ७, ४१ ५ रा० २, २१ ६ रा० ७, १३
७ केलाग · हिन्दी ग्रामर पृ० १३२
* पदात + अपि = पदादपि

व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी लागू किया जा सकता है। हार्नली[1] 'से' का सम्बन्ध प्राकृत 'सतो' से और सं०√अस् से जोडते हैं और बीम्स[2] सस्कृत समं से। 'सो' और 'सैं' को इसी 'से' का ही एक विकारी रूप समझना चाहिए। 'सम' परसर्ग भी इसी से निकला हुआ होगा। बीम्स का मत हार्नली की अपेक्षा अधिक मान्य है क्योंकि तर्कसम्मत एव व्यावहारिक होने के साथ ही साथ इस मत की पुष्टि कुछ प्राचीन ग्रथो से भी हो जाती है। उदाहरणार्थ हिंदी के प्राचीनतम कहे जाने वाले महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' मे भी कई स्थलो पर 'सम' का प्रयोग 'से' के अर्थ में हुआ है, जैसे निम्नलिखित पक्तियो के टेढे अक्षरो में अकित अश :—

कहै *केति सम* कन्त। १।११
बलि लग्गौ जुध *इंद्र सम*।...२।२८

चाहि—इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुमान है कि "यह शायद सस्कृत 'चापि' से निकला है, बंगला में यह 'चेये' बोला जाता है।"[†] शुक्ल जी का यह अनुमान वैज्ञानिक दृष्टि से विश्वसनीय एवं युक्तिसगत नहीं जान पडता। √चाह से ही इसे व्युत्पन्न मानना उचित होगा।

सम्बन्धकारक

इस कारक के रूपों का निर्माण तुलसी की शब्दावली मे जिन प्रमुख परसर्गो के सहारे हुआ है उनमे क, की, के, कें, कै, कइ, को, कर, केर, केरा, केरि, केरी, केरे, तथा केरो उल्लेखनीय हैं। अपवादस्वरूप केवल कुछ स्थलो पर रामचरितमानस के अन्तर्गत विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि', जिसका व्यवहार प्रायः कर्म और संप्रदानकारक के रूपों में हुआ है, के योग से भी सम्बन्धकारक रूप बनाए गये हैं जिनका बोध, बिना अर्थ पर विचार किए, सहज ही मे नहीं हो पाता। सम्बन्धकारक के रूपों की सबसे बडी विशेषता यही है कि उनमे प्रयुक्त होने वाले परसर्गों की सख्या अन्य सभी कारक-रूपो की अपेक्षा कहीं अधिक है। भाषा की गठन मे भी इनका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रायः इनके द्वारा भाषा के भेदक लक्षणो पर विशेष प्रकाश पडता है। सस्कृत-सज्ञाओ की षष्ठी विभक्ति मे प्रयुक्त होने वाले रूपों का व्यवहार, यत्र-तत्र रामचरितमानस को तथा विनयपत्रिका के संस्कृत श्लोको वाले अश को छोड कर, अन्यत्र नही दिखाई पड़ता। विभक्तिसूचक प्रत्यय तथा परसर्ग से रहित रूपो के प्रयोग पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध हो जाते हैं। उक्त सभी रूपो का सोदाहरण निर्देश सक्षेप मे किया जाता है।

(क) 'क' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पक्तियो के टेढे अक्षरों में अकित अश:—

जो यह साँची है सदा तौ नीको *तुलसीक*।[3]
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।[4],
आजु अवधपुर आनन्द नहछू *राम क* हो।[5]

---

१ हार्नली : ई० हिं० ग्रामर, ३७६

२ बीम्स : क० ग्रामर भाग २, ५८

३ रा० १, २६ ४ रा० २, १८३ ५ रा० ल० न० १२

† रामचंद्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, भूमिका—पृ० १८६

उपर्युक्त पक्तिया के 'तुलसीक' और 'अरिहुक' शब्दों के अन्तर्गत 'क' यद्यपि विभक्ति-सूचक प्रत्यय की भाँति प्रयुक्त जान पडता है किंतु है यह परसर्ग, ही जैसा 'राम क' में दृष्टि-गोचर होता है।

(ख) 'की' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पक्तियो के टेढे अक्षरो मे अकित अश :—

जानत *जन की* पीर प्रभु भजिहि दारुण विपति।[१]

तुलसिदास सब दोष दूरि करि प्रभु अब लाज करहु निज *पन की*।[२]

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागु मूढ़तानुरागु श्रीहरे।[3]

(ग) 'के' परसर्ग का व्यवहार जैसे निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले अश मे :—

सेवक स्वामि सखा सिय *पी* के। हित निरुपधि सब विधि *तुलसी* के।[४]

सिय रघुबर के भए उनींदे नैन।[५]

भागीरथी जल पान करौं अरु नाम द्वै *राम* के लेत नितैहौं।[६]

यत्र-तत्र 'के' का अनुनासिक रूप 'कें' भी रामचरितमानस मे मिल जाता है, जैसे :—

जीतहु मनहि सुनिअ अस *रामचंद्र* कें राज।[७]

(घ) 'कै' परसर्ग का प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले अश :—

त्रेता भइ *कृतजुग* कै करनी।[८]

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माह। देखहु आपनि मूरति *सिय* कै छाहं।[९]

दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो।[१०]

(च) 'कइ' का परसर्ग के रूप में प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पक्तिया के टेढे अक्षरों मे अकित अश :—

उमा *सत कइ* इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई।[११]

सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावऊ।[१२]

'कइ' को 'कै' का ही, उच्चारण-सुविधा अथवा अनुलेखन-पद्धति के वैभिन्न्य के फल-स्वरूप आया हुआ, दूसरा रूप समझना चाहिए।

(छ) 'को' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पक्तियो के टेढे अक्षरों वाले अश :—

बंदउं नाम राम *रघुबर* को। हेतु कृसानु भानु *हिमकर* को।[१३]

बासव बरुन बिधि वन ते सुहावनो *दसानन* को कानन *बसत* को सिंगारु सो।[१४]

भरम धुरीन धीर बीर *रघुबीर* जू को कोटि राज सरिस *भरत* जू को राजु भो।[१५]

---

१ रा० १, १८४ — २ गी० २, ७१ — ३ वि० ७४
४ रा० १, १५ — ५ बरवै० १८ — ६ क० ७, १०२
७ रा० ७, २२ — ८ रा० ७, २३ — ९ बरवै० १७
१० रा० ल० न० १६ — ११ रा० ५, ४१ — १२ रा० ५, २
१३ रा० १, १६ — १४ क० ५, १ — १५ गी० २, ३३

(ज) 'कर' का परसर्ग के रूप में प्रयोग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश में :—

सिय कर सोचु जनक पछितावा। *रानिन्ह कर* दारुन दुख दावा।[1]

कोटि *जनम कर* पातक दूरि सो जाइय हो।[2]

सीय बरन सम केतकि अति हिय हारि। किहेसि *भवँर कर* हरवा हृदय विदारि।[3]

(झ) 'केर' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

तहँ करि *मुनिन्ह केर* संतोषा। चला बिमानु तहाँ ते चोखा।[4]

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न *जीवन्ह केर* कलेसा।[5]

सुनहु *असंतन्ह केर* सुभाऊ।[6]

'केरा' परसर्ग का (जो 'केर' का ही दीर्घस्वरांत रूप है और छंदपूर्ति के प्रयास में 'केरा' हो गया है) व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

प्रभु कह गरल बन्धु *ससि केरा*।[7]

धुवाँ देखि *खरदूषन केरा*।[8]

(ट) 'केरि' परसर्ग का व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश:—

भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर *मुनिबरन्ह केरि* कदराई।[9]

सीता केरि करेहु रखवारी।[10]

'केरि' परसर्ग के ही दीर्घस्वरांत रूप 'केरी' का परसर्ग के रूप में व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

काई कुमति *केकई केरी*।[11]

मन मेरे मानहि सिख मेरी। जो निजु भगति चहै *हरि केरी*।[12]

(ठ) 'केरे' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश :—

ए किरीट *दसकन्धर केरे*।[13]

एहि विधि जनम करम *हरि केरे*।[14]

(ड) 'केरो' परसर्ग का व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश :—

ठौर ठौर साहिबी होति है ख्याल *काल कलि केरो*।[15]

(ढ) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के सहयोग से संबंधकारक के रूपों का निर्माण; जैसे आगे की पंक्तियों में 'उमहि' तथा 'सुतहि'—

---

१ रा० १, २६० २ रा० ल० न० १ ३ बरवै० ३२
४ रा० ६, १२० ५ रा० ७, ७६ ६ रा० ७, ३६
७ रा० ६, १२ ८ रा० ३, २१ ९ रा० १, २०७
१० रा० ३, २७ ११ रा० १, ४१ १२ वि० १२६
१३ रा० ६, ३२ १४ रा० १, १४० १५ वि० १४६

उमहि नाम तब भयउ अपरना।[1]
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा।[2]

व्युत्पत्ति—सम्बन्धकारकरूपों के निर्माण में प्रयुक्त क, की, के, कर, केर, केरि, केरे, केरो आदि की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इस सम्बन्ध में प्रचलित प्रमुख मतों का निर्देश नीचे किया जा रहा है :—

(१) बीम्स[3] तथा हार्नली[4] के मतानुसार ये सारे परसर्ग सं० कृतः तथा प्राकृत केरो या केरक से सम्बन्धित हैं। हार्नली के विचार से इनका क्रमिक विकास इस प्रकार हुआ होगा—सं० कृत 7 प्रा० करितो, करियो, केरको 7 पुरानी हिंदी का केरओ, केरो 7 हिं० केर, का इत्यादि। 'क' को 'का' का ही संक्षिप्त रूप जानना चाहिये।

केलाग[5] भी का, कौ, को, कर, केरो और केरा आदि सभी परसर्गों का विकास इसी प्रकार प्राकृत 'केरक' जैसे रूपों से सिद्ध करते हैं।

डॉ० चटर्जी[6] 'क' परसर्ग की व्युत्पत्ति प्रा० 'क्क' से मानते हैं क्योंकि उनके विचार से 'कृतः' के प्राकृतरूप 'कअ' से आधुनिक काल तक आते आते 'क' बना रहना संभव नहीं प्रतीत होता।

पिशेल तथा कुछ अन्य संस्कृत विद्वानों की धारणा के अनुसार हिन्दी 'केर' संस्कृत 'कार्य' से व्युत्पन्न है।[7]

भंडारकर[8] इन परसर्गों की व्युत्पत्ति 'कार्य' के अतिरिक्त सम्बन्धसूचक प्रत्ययों से युक्त संस्कृत की कर्तृवाचक संज्ञाओं 'वचनकर' और 'प्रभाकर' आदि में स्थित 'कर' से भी मानते हैं। उनकी धारणा है कि 'कृत' की अपेक्षा 'कर' वर्तमान सम्बन्धकारक के परसर्गों के अधिक समीप पड़ता है।

बीम्स और हार्नली का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

अधिकरणकारक

इस कारक के रूपों के निर्माण में तुलसी ने प्रायः मं, मे, मो, महँ, महुँ, माँह, माहि, माहीं, माझ, मझारी, पर, पहँ, पहिं, पाहीं आदि को परसर्ग के रूप में व्यवहृत किया है।

इन परसर्गयुक्त रूपों के अतिरिक्त विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के योग से बने हुए रूप भी उपलब्ध होते हैं। यत्र-तत्र केवल शब्दों के अंतिम अक्षर को अनुनासिक रूप देकर भी अधिकरणकारक से सम्बन्ध रखने वाले रूपों के बनाने की प्रवृत्ति मिलती है।

---

१ रा० १, ७४ २ रा० १, १५३
३ बीम्स—क० ग्रामर भाग २, ६६
४ हार्नली—ई० हि० ग्रामर, ३७७
५ केलाग—हिंदी ग्रामर, १५६
६ डॉ० चैटर्जी—बें० लैं०, ५०३
७ डॉ० वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, २५१
८ Bhandarkar—Wilson Philological Lectures (1877-1914)

संस्कृत संज्ञाओं की सप्तमी विभक्ति के रूपों का भी न्यूनाधिक व्यवहार कई स्थलों पर देखने को मिल जाता है। साथ ही बिना किसी विभक्तिसूचक प्रत्यय अथवा परसर्ग का प्रयोग किए ही केवल शब्दों के मूल रूपों द्वारा अधिकरणार्थ की अभिव्यक्ति करना तुलसी की भाषा की सामान्य प्रकृति के अनुसार ही हुआ है। यह विशेषता कारकरूपों के संबंध में सर्वत्र समान रूप से दिखाई देती है जैसा पिछले विवेचन से स्पष्ट है।

नीचे अधिकरणकारक के प्रमुख रूप संक्षेप में उदाहरण सहित दिये जा रहे हैं।

(क) 'में' परसर्ग का व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

तिहूँ काल तिहुँ *लोक में* एक टेक रावरी तुलसी से मन मलीन को।[1]
सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की
चले कहत चाय सों सिरानो पथ *छन में*।[2]
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन *मंदिर में* बिहरैं।[3]

(ख) 'मैं' का परसर्ग के रूप में व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश—

दोष दुख दारिद दलैया दीनबंधु राम
तुलसी न दूसरो दयानिधान *दुनी मैं*।[4]
आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन
सूकर के सावक ढका ढकेल्यो *मन मैं*।[5]
गिरो हिय हहरि 'हराम हो हराम हन्यो'
हाय हाय करतो परीगो *कालफँग मैं*।[6]
तुलसी बिसोक ह्वै त्रिलोकपति लोक गयो
नाम के प्रताप बात विदित है *जग मैं*।[7]

(ग) 'मो' का परसर्ग के रूप में प्रयोग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

तनु पोषक नारि नरा सगरे। परनिंदक जे *जग मो* बगरे।[8]
जोगिजन *मुनिमंडली मो* जाहि रीतो ढारि।[9]

(घ) 'महँ' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

कबहुँ *दिवस महँ* निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।[10]
केहि *गिनती महँ* गिनती जस बन घास।[11]
कौसिल्या कल कनक *अजिर महं* सिखवति चलन अँगुरियां लाए।[12]

---

१ वि० २७४ २ क० ५, ३१ ३ क० १, ३
४ क० ७, २१ ५ क० ७, ७६ ६ क० ७, ७६
७ क० ७, ७६ ८ रा० ७, १०२ ९ श्रीकृ० ५३
१० रा० ४, १५ ११ बरवै० ५६ १२ गी० १, २६

'महँ' का ही कहीं कहीं 'महुँ' परसर्ग के रूप में प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी ।[१]
तन महुँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं ।[२]
उठे हरषि *सुखसिंधु महँ* चले थाह सी लेत ।[३]

(च) 'माँह' परसर्ग का व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्ति के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

गरब करहु रघुनंदन जनि *मन माँह* ।[४]

(छ) 'माहिं' परसर्ग का प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

अस बिचारि *मन माहिं* भजिय महामायापतिहिं ।[५]
सती बसहिं कैलास तब अधिक सोच *मन माहिं* ।[६]

'माहिं' का ही दीर्घस्वरांत रूप 'माहीं' भी यत्र-तत्र छंद-सुविधा के अनुसार प्रयुक्त हुआ है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

यहि संदेस सरिस *जग माहीं* । करि बिचारि देखेउँ कछु नाहीं ।[७]
ऐसो को उदार *जग माहीं* ।[८]
दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर *मंदिर माहीं* ।[९]

(ज) 'माझ' शब्द का परसर्ग के रूप में व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

कुंभकरन मन दीख बिचारी । हति छन *माझ* निसाचर धारी ।[१०]
तन महुं प्रबिसि निसरि सर जाहीं । जिमि दामिनि *घन माँझ* समाहीं ।[११]
समुझि राम प्रताप कपि कोपा । *सभा माझ* पन करि पद रोपा ।[१२]

(झ) 'मझारी' शब्द का परसर्ग के रूप में व्यवहार, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश:—

गिरि त्रिकूट एक *सिंधु मझारी* ।[१३]
गर्जि परे कपि *कटक मझारी* ।[१४]

(ट) 'पर' (जो आधुनिक खडीबोली में भी 'में' के साथ-साथ बहुलता से प्रयुक्त होता है) का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

---

१ रा० २, ३०१ २ रा० ६, ६६ ३ रा० १, ३०७
४ बरवै० १७ ५ रा० १, १४० ६ रा० १, ५८
७ रा० ७, २ ८ वि० १६२ ९ क० १, १७
१० रा० ६, ६६ ११ रा० ६, ६६ १२ रा० ६, ३४
१३ रा० १, १७८ १४ रा० ६, ४४

जाहि *दीन पर* नेह करहु कृपा मर्दन मयन ।[1]
निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि ।[2]
डारौं वारि अंग *अंगनि पर* कोटि कोटि सत मार ।[3]

(ठ) 'पहँ' 'पहि' और 'पाहीं' परसर्गों का प्रयोग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों मे अंकित अंश :—

महराज *राम पहँ* जाउगो ।[4]
गै जननी *सिसु पहि* भयभीता ।[5]
संभु गए *कुंभज ऋषि पाहीं* ।[6]

(ड) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के योग से बने हुए रूप; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

तदपि मनाग *मनहि* नहिं पीरा ।[7]
जो फलु चहिअ *सुरतरुहिं* सो बरबस *बबूरहिं* लागई ।[8]

(ढ) शब्दों के अंतिम अक्षर को अनुनासिक रूप देकर अधिकरणकारक-रूपों का निर्माण, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश:—

हियँ हरषहिं बरसहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि-बृंद ।[9]
सबरी देखि राम *गृहँ* आए । मुनि के वचन समुझि *जियँ* भाए ।[10]
मोरे *जियँ* भरोस दृढ़ नाहीं ।[11]

(त) संस्कृत-संज्ञाओं की सप्तमी विभक्ति के रूपों का व्यवहार; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

कबिहिं अगम जिमि ब्रह्मसुख अहमम मलिन *जनेषु* ।[12]
तदपि अनुज श्री सहित खरारी । बसतु *मनसि* मम काननचारी ।[13]
जनक *सदसि* जेते भले भले भूमिपाल किए बलहीन बल अपनो बढ़ायो है ।[14]
देहि कामारि *सियरामपदपंकजे* भक्तिमनवरत गत भेद माया ।[15]
जग्योपवीत विचित्र हेममय मुक्तामाल *उरसि* मोहिं भाई ।[16]
कहै तुलसी दास क्यों मतिमंद सकल *नरेसु* ।[17]

(थ) विभक्तिसूचक प्रत्यय एवं परसर्ग से रहित केवल मूल एकवचन शब्द-रूपों का व्यवहार; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि ।[18]

---

१ रा० १ प्रारम्भिक सोरठा १-४ २ वि० १५८ ३ गी० २, २९
४ गी० ५, ३० ५ रा० १, २०१ ६ रा० १, ४८
७ रा० १, १४५ ८ रा० १, ६६ ९ रा० १, २२३
१० रा० ३, ३४ ११ रा० ३, १० १२ रा० २, २२५
१३ रा० ३, ११ १४ क० १, १० १५ वि० १०
१६ गी० १, १०६ १७ गी० ७, ९ १८ रा० १, २६५

(च) संस्कृत-संज्ञाओं के सम्बोधन-रूपों का प्रयोग, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा ।[१]
सखि यहि मग जुग पथिक मनोहर बधु बिधुबदनि समेत सिधाये ।[२]
दास तुलसी चरन सरन सीदत *विभो* पाहि दीनार्त्त-संताप-हाता ।[३]

सम्बोधनकारक के उक्त नियमित रूपों के अतिरिक्त तुलसी की कुछ रचनाओं के अन्तर्गत ऐसे स्थलों पर, जहाँ सम्बोधित व्यक्ति के सूचक शब्दों का अभाव है, कुछ विशिष्ट निरर्थक अथवा सार्थक शब्द सम्बोधनार्थसूचक चिह्नों के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं, इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय शब्द हैं 'री' और 'रे'। इनके प्रयोग के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

(क) 'री' का प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

स्याम गौर धनु बान तून धर चित्रकूट अब आइ रहे *री* ।[४]
खायो कै खवायो कै बिगार्‌यो ढार्‌यो लरिका *री*
ऐसे सुत पर कोह कैसो तेरो हियो है।[५]
लोचनाभिराम घनस्याम रामरूप सिसु
सखी कहैं सखी सों तू प्रेम पय पालि *री* ।[६]

(ख) 'रे' का व्यवहार उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढे अक्षरों में अंकित अंश :—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे ।[७]
मारग अगम संग नहिं सवल नाउ गाउं कर भूला रे ।[८]
तुलसिदास भव त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे ।[९]

व्युत्पत्ति—सम्बोधनकारक-रूपों के साथ प्रयुक्त हे, रे और री आदि के अन्तर्गत 'हे' और 'रे' अपने इन्हीं रूपों में संस्कृत-संज्ञाओं के भीतर उपलब्ध होते हैं। 'री' 'रे' का ही स्त्रीलिंगसूचक रूप है, अतः इन रूपों का सम्बन्ध संस्कृत रूपों से ही जुड जाता है। अन्य कारक-रूपों की भाँति इन रूपों की व्युत्पत्ति विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखती।

सर्वनाम

तुलसी की भाषा में उपलब्ध सर्वनाम-रूपों के विश्लेषण के पूर्व हिन्दी में सर्वनाम-रूपों की जटिलता के विषय में संकेत कर देना आवश्यक जान पडता है। इस सम्बन्ध में

१ रा० ३, २९ — २ गी० २, ३५ — ३ वि० ४०
४ गी० २, ४२ — ५ श्रीकृ० १६ — ६ क० १, १२
७ क० ७, ४८ — ८ वि० १८९ — ९ वि० १८९

निम्नलिखित बातें प्रमुख रूप से ध्यान देने योग्य हैं :—

१—बहुत से प्राचीन विभक्तिसूचक प्रत्यय, जिनका प्रयोग संज्ञाओं के साथ अब कहीं नहीं मिलता है, सर्वनामों में प्रायः नियमित रूप से प्रयुक्त होते हैं।

२—कतिपय राजस्थानी प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य बोलियों की शब्दावली में लिंग-भेद सर्वनामों से प्रायः विलुप्त हो गया है।

३—अन्यपुरुषवाचक सर्वनाम का पृथक अस्तित्व स्पष्ट नहीं रह गया। इसका बोध भी प्रायः सम्बन्धवाचक 'जो' की तोल में प्रयुक्त होने वाले नित्यसम्बन्धी सर्वनाम 'सो' तथा दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम 'वह' के रूपों से होने लगा है।

इस प्रकार की विषमताएँ और जटिलताएँ एकदम से नहीं आ गईं; इनका आभास पहले से ही साहित्यिक रचनाओं में होने लगा था, जिसका पता हमें तुलसी की भाषा में उपलब्ध सर्वनामों को देखने से भी चलता है। हम इस जटिलता के विषय में इतना ही निर्देश करके, वर्गीकरण, कारकरचना तथा व्युत्पत्ति आदि प्रमुख बातों को ध्यान में रखते हुये, तुलसी द्वारा प्रयुक्त सर्वनाम-रूपों पर विचार करेंगे।

वर्गीकरण :—आजकल साहित्यिक हिन्दी में उपलब्ध सर्वनामों के ८ प्रमुख भेद मिलते हैं :—

१—पुरुषवाचक (मैं, तू) २—सम्बन्धवाचक (जो) ३—नित्यसम्बन्धी (सो) ४—निश्चयवाचक (यह, वह) ५—प्रश्नवाचक (कौन, क्या) ६—अनिश्चयवाचक (कोई) ७—निजवाचक (अपना) ८—आदरवाचक (आप)।

इसी वर्गीकरण के आधार पर तुलसी की भाषा में प्रयुक्त सर्वनामों के मूल रूपों का उल्लेख क्रमशः नीचे किया जाता है।

पुरुषवाचक :—'मैं' प्रायः इसी रूप में तथा कहीं-कहीं 'हौं' के रूप में व्यवहृत हुआ है। 'तू' के स्थान में 'तैं' तथा 'तू' का प्रधान रूप से और 'तूँ' का गौण रूप से केवल यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। उत्तमपुरुषवाचक 'मैं' का बहुवचन रूप 'हम' तथा मध्यमपुरुषवाचक 'तैं' एवं 'तू' का बहुवचन रूप 'तुम्ह' मिलता है। 'हम' तथा 'तुम्ह' अपवाद-रूप में कहीं-कहीं एकवचन-रूपों के लिए भी आये हैं, किन्तु उनकी गणना नियमित रूप-रचना के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। आदरवाचक 'आप' को भी, जिसका 'आपु' रूप तुलसी की भाषा में बहुलता से प्रयुक्त मिलता है, मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम के अन्तर्गत ही रखना चाहिये।

संबंधवाचक—'जो' के लिए तुलसी ने प्रधानतया 'जो' तथा 'जेहि' का और गौणतया 'जोई' का प्रयोग किया है। बहुवचन में इसके दो रूप मिलते हैं, 'जे' तथा 'जिन्ह'।

नित्यसंबन्धी और दूरवर्ती निश्चयवाचक—इन दोनों प्रकार के सर्वनामों के लिए तुलसी ने एक ही प्रकार के रूपों का व्यवहार किया है। आजकल के दूरवर्ती निश्चयवाचक 'वह' का प्रयोग विरल है, प्रायः सर्वत्र 'सो' के द्वारा ही दोनों प्रकार के सर्वनामरूपों का बोध कराया गया है। अन्यपुरुषवाचक सर्वनाम की सूचना भी इसी शब्द के द्वारा हो जाने के कारण उसकी भी कोई पृथक् सत्ता शेष नहीं रह गई। 'सो' का बहुवचन-रूप 'ते' मिलता है। उक्त प्रमुख रूपों के अतिरिक्त 'सो' के स्थान में 'तेहि' और 'ते' के स्थान में तिन्ह, तेइ, और उन्ह का भी यत्र-तत्र प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

दूरवर्ती निश्चयवाचक—'वह' के विषय में ऊपर विवेचन हो चुका है। अब रह जाता है केवल निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम, जिसके रूप (एकवचन में) 'यह' तथा (बहुवचन में) 'ए' और 'इन्ह' मिलते हैं। 'यह' के स्थान में यत्र-तत्र 'एहा' और 'एहि' भी प्रयुक्त हुए हैं।

प्रश्नवाचक—इसके अंतर्गत प्रायः 'कवन', 'को' तथा 'का' का व्यवहार दिखाई देता है। ('कवन तथा 'को' से आधुनिक खड़ीबोली 'कौन' का तथा 'का' से 'क्या' का अर्थ ग्रहण किया जाता है)। बहुवचन में इनका 'के' रूप मिलता है। इन प्रमुख रूपों के अतिरिक्त एकवचन में कहीं-कहीं केइ, केहि जैसे रूपों का भी व्यवहार हुआ है।

अनिश्चयवाचक—इसके अंतर्गत प्रधान रूप से 'कोउ' तथा 'कोई' और गौण रूप से 'काहु' तथा 'एक' का प्रयोग वर्तमान खड़ीबोली 'कोई' के अर्थ में तथा 'काऊ' का प्रयोग खड़ीबोली 'कुछ' के अर्थ में हुआ है। इनके एकवचन और बहुवचन के रूपों में कोई मौलिक भेद नहीं दृष्टिगोचर होता।

निजवाचक—इसके अंतर्गत 'आप', 'आपुन' और आपुनु जैसे रूपों का प्रयोग मिलता है। प्रायः इनका व्यवहार सर्वत्र एकवचन में ही हुआ है।

तुलसी द्वारा प्रयुक्त सर्वनामों के मूल रूपों के सामान्य वर्गीकरण के पश्चात् उनकी कारकरचना की विशेषताओं तथा विभिन्न कारकों में प्रयुक्त विभक्तिसूचक प्रत्ययों एवं परसर्गों से युक्त रूपों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

उत्तमपुरुषवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के अन्तर्गत मूल रूपों का ही प्रयोग हुआ है, एकवचन में 'मैं' तथा 'हौं' का और बहुवचन में 'हम' का। कहीं-कहीं 'हम' एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

(क) 'मैं' का प्रयोग :—

नाथ न मैं समुझे मुनि बैना।[१]
सिला साथ पाथ गुह गीध को मिलाप
सबरी के पास आप चलि गए हौ सो सुनी मैं।[२]
मैं तोहि अब जान्यो संसार।[३]

(ख) 'हौं' का व्यवहार :—

घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिवाहु न हौं करौं।[४]
हौं सब विधि राम रावरो चाहत भयो चेरो।[५]
चलत महि मृदु चरन अरुन बारिज बरन
भूपसुत रूपनिधि निरखि हौं मोही।[६]

---

१ रा० १, ७१ २ क० ७, २१ ३ वि० १८८
४ रा० १, ९६ ५ वि० १४६ ६ गी० २, १८

(ग) 'हम' का बहुवचन में व्यवहार :—

राजकुमारि बिनय *हम* करहीं ।[1]
तुलसी परमेस्वर न सहैगो *हम* अबलनि सब सही है ।[2]
बर मिलौ सीतहि साँवरो *हम* हरषि मंगल गावहीं ।[3]

(घ) 'हम' का एकवचन में व्यवहार :—

अब उर राखेहु जो *हम* कहेऊ।[4]
सुनहु भरत *हम* झूठ न कहहीं ।[5]
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़ *हम* केहि भाँति निबहते ?[6]

(च) इनके विशुद्ध संस्कृत बहुवचन-रूप 'वयं' का व्यवहार भी यत्र-तत्र हो गया है; जैसे विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्ति में :—

धीर गंभीर मन पीर कारक तत्र के वराका *वयं* विगत-सारा ।[7]

उक्त सभी रूपों के बलात्मक (Emphatic) रूप भी उपलब्ध होते हैं जो प्रायः 'हु' और 'हुँ' अथवा 'हू' और 'हूँ' प्रत्ययों के सहारे, जिनसे खड़ीबोली के 'भी' का अर्थ सूचित किया गया है, बनाए गये हैं; उदाहरणार्थ 'हौंहु', 'हमहुँ', 'हमहू' तथा 'महूँ' का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

हौंहु कहावत सब कहत राम सहत उपहास ।[8]
भली कही आली ! *हमहुँ* पहिचाने ।[9]
हमहू उमा रहे तेहि संगा ।[10]
महूँ सनेह सकोचवस सनमुख कही न बैन ।[11]

कर्मकारक—इसके अंतर्गत एकवचन में सामान्यतः 'मोहि', इसी के अनुनासिक रूप 'मोहिं' तथा दीर्घस्वरान्त रूप 'मोही' का और बहुवचन में 'हमहि' तथा 'हमहिं' रूपों का प्रयोग मिलता है, किंतु कहीं-कहीं 'हौं' तथा 'हम' अपने मूल कर्ताकारक-रूपों में ही व्यवहृत हो गये हैं जिन्हें अर्थ की दृष्टि से ही अपवादस्वरूप कर्मकारकरूपों के अन्तर्गत ग्रहण करना पडा है। उत्तमपुरुष एकवचन के अतर्गत कर्ताकारक 'महूँ' की तोल में ही कर्मकारकरूप 'मोहू' का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। इन विकारी रूपों के अतिरिक्त परसर्गयुक्त रूप भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं जिनमें मोकहँ, मोको, हमको इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनका सोदाहरण विश्लेषण क्रमशः किया जा रहा है।

---

१ रा० २, ११६ २ श्रीकृ० ४२ ३ जा० मं० ६३
४ रा० १, ७७ ५ रा० २, २१० ६ वि० ६७
७ वि० ६० ८ रा० १, २८ ९ श्रीकृ० ३८
१० रा० ६, ८१ ११ रा० २, २६०

(क) 'मोहि' का प्रयोग :—

जाहि बिबाहहु सैलजहि यह *मोहि* मॉगे देहु ।[१]

जानिअ सत्य *मोहि* निज दासी ।[२]

को तुम्ह तात कहाँ ते आए । *मोहि* परम प्रिय वचन सुनाए ।[३]

(ख) 'मोहिं' का व्यवहार :—

कनक सलाक,कला ससि दीपसिखाउ ।

तारा सिय कहँ लछिमन *मोहिं* वताउ ।[४]

सुन्दर मुख *मोहि* देखाउ, इच्छा अति मोरे ।[५]

जनकसुता कव सासु कहै *मोहि* राम लषन कहैं मैया ।[६]

(ग) 'मोही' का प्रयोग :—

कहिअ बुझाइ कृपानिधि *मोही* ।[७]

परम प्रसन्न जानु मुनि *मोही* ।[८]

(घ) बहुवचन रूप 'हमहि' का व्यवहार एकवचन मे कहीं-कहीं हुआ है, उदाहरणार्थ :—

तुम्ह जो *हमहि* बड़ि बिनय सुनाई । कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि वडाई ।[९]

हँसेहु *हमहि* सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ।[१०]

सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु *हमहि* कृपा करि देहु ।[११]

(च) बहुवचन रूप 'हमहिं' का एकवचन में प्रयोग :—

तदपि *हमहिं* त्यागहु जनि रघुपति दीनबंधु दयालु मेरे बारे ।[१२]

हमहिं आज लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ ।[१३]

(छ) 'हमहि' का बहुवचन में प्रयोग :—

हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु ।[१४]

(ज) 'मोको' का व्यवहार :—

मोको बिधुबदन बिलोकन दीजै ।[१५]

कीजै *मोको* जमजातनामई ।[१६]

(झ) 'कहँ' परसर्ग के साथ 'मोहि' का प्रयोग :—

सब *मोहि* कहँ जानै दृढ़ सेवा ।[१७]

(ञ) कर्ताकारक-रूप 'हौं' का कर्मकारक में प्रयोग :—

केहि अपराध *नाथ हौं त्यागी* ।[१८]

---

१ रा० १, ७६ २ रा० १, १०८ ३ रा० ७, २

४ बरवै० ३१ ५ श्रीकृ० १ ६ गी० २, ५५

७ रा० १, ४६ ८ रा० ३, ११ ९ रा० २, १०३

१० रा० १, १३५ ११ रा० १, १५० १२ गी० २, २

१३ पा० म० ८१ १४ रा० २, २५० १५ गी० २, १२

१६ वि० १७१ १७ रा० ३, १६ १८ रा० ५, ३१

(ट) कर्ताकारक-रूप 'हम' का कर्मकारक में प्रयोग :—

हम लखि लखहि *हमार* लखि *हम हमार* के बीच।[1]

तजे राम *हम* जानि कलेसू।[2]

(ठ) संस्कृत के उत्तमपुरुष एकवचन के कर्मकारकरूप 'माम्' का प्रयोग विनयपत्रिका के स्तुतिपदों में यत्र-तत्र मिल जाता है; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

पाहि *मामीस* संताप-संकुल सदा दास तुलसी प्रनत रावनारी।[3]

हृदय अवलोकि यह सोकसरनागतं पाहि *मां* पाहि भो विस्वभर्त्ता।[4]

संप्रदानकारक के रूपों के निर्माण में उत्तमपुरुषवाचक सर्वनाम के अन्तर्गत एकवचन में 'मो' अथवा 'मोहि' के साथ यथास्थान को, कहुँ, लगि, लागि, निति आदि परसर्गों का व्यवहार हुआ है। बहुवचन में 'हमहिं', 'हम कहँ', 'हम कहुँ' रूप मिलते हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

(क) 'मोको' का प्रयोग :—

मोको और ठौर न सुटेक एक तेरिए।[5]

मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।[6]

स्वारथ रत तब, अबहुँ एक रस, *मोको* कबहुँ न भयो तापहर।[7]

(ख) 'मो कहुँ' का प्रयोग :—*मो कहुँ* काह कहब रघुनाथा।[8]

(ग) 'मोहि लगि' का व्यवहार :—*मोहि लगि* सहेउ सबहि संतापू।[9]

(घ) 'मोहि लागि' का प्रयोग :—*मोहि लागि* दुख सहिअ प्रभु सज्जन दीनदयाल।[10]

(च) 'मोहि निति' का प्रयोग :—*मोहि निति* पिता तजेउ भगवाना।[11]

(छ) 'हमहिं', 'हम कहँ' तथा 'हम कहुँ' का व्यवहार :—

भूमिदेव नरदेव सचिव परसपर कहत *हमहिं* सुरतरु सिव धनु भो।[12]

हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा।[13]

नाहिं त *हम कहुँ* सुनहु सखि इन्ह कर दरसन दूरि।[14]

उपर्युक्त रूपों के साथ लगने वाले परसर्गों में 'निति' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है जिसका प्रयोग आजकल भी बैसवाडी अवधी में 'नीतिन' के रूप में प्रचलित है।

करणकारक के अन्तर्गत प्रमुख रूप से 'मो सन', 'मोहि सन', 'मो पहिं', 'मो पाहीं', 'मोहि पाहीं', 'मोपै', 'हमसों' और 'हम सन' उल्लेखनीय हैं। इनके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

---

१ दो० १६   २ रा० २, ७८   ३ वि० ५४

४ वि० ५६   ५ वि० १८१   ६ वि० २२६

७ श्रीकृ० ३१   ८ रा० २, ७०   ९ रा० २, ३१२

१० रा० १, १६७   ११ रा० १, २०६   १२ गी० १, ६४

१३ रा० १, १५६   १४ रा० १, २२२

(क) 'मो सन' का प्रयोग :—सो *मो सन* कहि जात न कैसे ।[1]

सोइ लरिकाई *मो सन* करन लगे पुनि राम ।[2]

(ख) 'मोहि सन' :—*मोहि सन* करहिं विविध विधि क्रीडा ।[3]

तुम्ह पाई सुधि *मोहि सन* आजू ।[4]

(ग) 'मो पहिं' :—*मो पहिं* होइ न प्रति उपकारा ।[5]

(घ) 'मो पाहीं' :—ता ठाकुर को रीझि निवाजिबो कह्यो क्यो परत *मो पाहीं* ।[6]

(च) 'मोहि पाहीं' :—मुख छवि कहि न जाइ *मोहि पाहीं* ।[7]

(छ) 'मोपै' :—

तुलसी दास स्यामसुन्दर विरह की दुसह दसा सो *मोपै* परति नही वरनि।[8]

तो क्यों कटत सुकृत-नख तें *मोपै* बिटप बृंद अघ-बन के ।[9]

(ज) 'हम सों' :—*हम सों* कहत विरह स्रम जैहै गगन कूप खनि खोरे ।[10]

(झ) 'हम सन' :—केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू । *हम सन* सत्य मरम किन कहहू ।[11]

अपादानकारक के रूपों में केवल एक ही रूप ध्यान देने योग्य है, वह है निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'मोतें' :—

मो ते संत अधिक करि लेखा ।[12]
देखो मैं दसकंठ, सभा सब, *मोतें* कोउ न सबल तो ।[13]
को जग मंद मलिनमति *मो तें* ।[14]

सम्बन्धकारक में प्रयुक्त होने वाले रूपों की सख्या सबसे अधिक है । विविधरूपता के विचार से भी उनका विशेष महत्त्व है । इनमें प्रमुखतः उल्लेखनीय रूप ये हैं :—

एकवचन में मो, मोर, मोरा, मोरि, मोरी, मोरे, मोरें, मेरी, मेरे, मेरो तथा 'मम' (संस्कृत तत्सम रूप) और बहुवचन में (कहीं-कहीं एकवचन में भी) हमार, हमारा, हमारि, हमारी, हमारे, हमारें, हमारो तथा 'अस्मद्' (संस्कृत) की षष्ठी विमक्ति का विकृत बहुवचन रूप 'असमाक' हैं । स्फुट रूपों में मोहिं, हमरि, हमरे, हमरें तथा हमरो और बलात्मक रूपों के अन्तर्गत मोरेहु, मोरेहुँ, मोरिऔ, मेरियै तथा हमरउ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं । कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं ।

---

१ रा० १, ३   २ रा० ७, ८२   ३ रा० ७, ७७
४ रा० २, १६   ५ रा० ७, १२५   ६ वि० ४
७ रा० १, २३३   ८ श्रीकृ० ३०   ६ वि० ६६
१० श्रीकृ० ४४   ११ रा० १, ७८   १२ रा० ३, ३६
१३ गी० ५, १३   १४ रा० १, २८

(क) मो :—तुम्ह सम पुरुष न *मो* सम नारी ।[१]
माधव ! *मो* समान जग माहीं ।[२]
लोभ-मोह-काम-कोह-दोषकोष *मोसो* कौन ?
कलि हू जो सीखि लई मेरियै मलीनता ।

(ख) मोर :—जनहि *मोर* बल निज बल ताही ।[४]
मोर कठोर सुभाव हृदय खसि आयउ ।[५]
त्रिषय बिमुख मन *मोर* सेइ परमारथ ।
इन्हहि देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ ।[६]

(ग) मोरा ('मोर' का ही दीर्घस्वरान्त रूप जो छंद की मात्रा-पूर्ति की दृष्टि से प्रयुक्त हो गया है) :— भ्रष्ट होइ स्रुति मारग *मोरा* ।[७]
एकहि भाँति भलेहि भल *मोरा* ।[८]
सनमुख होइ न सकत मुख *मोरा* ।[९]

(घ) मोरि :—देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि *मोरि* ।[१०]
ब्याह समय सिख *मोरि* समुझि पछितैहहु ।[११]
सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी *मोरि* ।[१२]

(च) मोरी :—ब्याह समय सोहत बितान तर उपमा कहुँ न लहत मति *मोरी* ।[१३]
बिनय सुनहु रघुकुलमनि *मोरी* ।[१४]
बार बार बिनती सुनि *मोरी* । करहु चाप गुरुता अति थोरी ।[१५]

(छ) मोरे :—खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन *मोरे* ।[१६]
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई ।[१७]
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय *मोरे* ।[१८]

(ज) मोरें :—*मोरें* जान भरत रुचि राखी । जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी ।[१९]

(झ) मेरी :—*मेरी* टेव बूझि हलधर को संतत संग खेलावहि ।[२०]
अँधियारे *मेरी* बार क्यों ? त्रिभुवन-उजियारे ![२१]
जिनकी भाल लिखी लिपि *मेरी* सुख की नहीं निसानी ।[२२]

---

१ रा० ३, १७ — २ वि० ११४ — ३ क० ७, ६२
४ रा० ३, ४३ — ५ पा० मं० ४६ — ६ जा० मं० ५०
७ रा० ७, १०७ — ८ रा० २, २६१ — ९ रा० ५, ३२
१० वि० १५८ — ११ पा० मं० ६२ — १२ रा० ४, ६
१३ गी० १, १०३ — १४ रा० २, २०४ — १५ रा० १, २५७
१६ गी० ३, २ — १७ रा० ७, १ — १८ वि० ११४
१९ रा० २, २५८ — २० श्रीकृ० ४ — २१ वि० ३३
२२ वि० ५

(ञ) मेरे :—ए सब सखा सुनहु मुनि *मेरे*। भये समर सागर कहँ बेरे।[1]
भलो भली भांति है जो *मेरे* कहे लागिहै।[2]
प्रातकाल रघुवीर बदन छवि चितै चतुर चित *मेरे*।[3]

(ट) मेरो :—बारक कहिये कृपालु तुलसिदास *मेरो*।[4]
सन्मुख मरुत अनुग्रह *मेरो*।[5]
कह्यो *मेरो* मानि हित जानि तू सयानी बड़ी
बड़े भाग पायो पूत विधि हरि हर ते।[6]

(ठ) 'मम' :—*मम* हृदय कंज निवास करु कामादि खल दल गजन।[7]
सोइ सेवक प्रियतम *मम* सोई। *मम* अनुसासन मानै जोई।[8]
मम हृदय भवन प्रभु तोरा।[9]

(ड) हमार :—पन *हमार* सेवक हितकारी।[10]
गिरिजहि लागि *हमार* जिवन सुख संपति।[11]
हम लखि लखहि *हमार* लखि हम *हमार* के बीच।[12]

(ढ) हमारा :—देखहु मुनि अबिवेकु *हमारा*।[13]
अजहूँ मानहु कहा *हमारा*।[14]
प्रात लेइ उठि नाम *हमारा*। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।[15]

(ण) हमारि :—यह *हमारि* अति बड़ सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई।[16]

(त) हमारी :—कोटि जतन करि सपथ कहैं हम मानै कौन *हमारी*।[17]
जन्म कोटि लगि रगर *हमारी*। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।[18]
सो करउ अघारी चिंत *हमारी* जानिअ भगति न पूजा।[19]

(थ) हमारे :—मग नर नारि निहारत सादर कहैं बड भाग *हमारे*।[20]
जननि जनक गुरबधु *हमारे*।[21]
तुलसी प्रभु गयो चहत मनहुँ तें सो तो है *हमारे* हाथ।[22]

(द) हमारें :—भाग *हमारें* आगमनु राउर कोसलराय।[23]

(ध) हमारो :—जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो *हमारो*।[24]

१	रा० ७, ८	२	वि० ७०	३	गी० ७, १२
४	वि० ७८	५	रा० ७, ४४	६	श्रीकृ० १७
७	वि० ४५	८	रा० ७, ४३	९	वि० १२५
१०	रा० १, १२९	११	पा० मं० २०	१२	दो० १९
१३	रा० १, ७८	१४	रा० १, ८०	१५	रा० ५, ७
१६	रा० २, २५१	१७	श्रीकृ० ६	१८	रा० १, ८१
१९	रा० १, १८६	२०	गी० १, ५८	२१	रा० ७, ४७
२२	श्रीकृ० ४३	२३	रा० २, १३५	२४	वि० १७४

हम पँख पाइ पींजरनि तरसत अधिक अभाग *हमारो*।[1]
समुझे सहे *हमारो* है हित विधि बामता विचारि।[2]

(न) अस्माक :—अनघ अविछिन्न सर्वज्ञ सर्वेस खलु सर्वतोभद्र दाताऽ*स्माकं*।[3]

(प) मोहि :— वहुत बात रघुनाथ तोहि *मोहि* अब न तजे बनि आवै।[4]
तोहि *मोहि* नाते अनेक मानिये जो भावै।[5]
कहेउ भूप *मोहि* सरिस सुकृत किये काहु न।[6]

(फ) हमरि :— *हमरि* वेर कस भयो कृपनतर।[7]

(ब) हमरे :— *हमरे* जान जनेस वहुत भल कीन्हेउ।[8]
ज्ञान बिराग कालकृत करतब *हमरेहि* सिर धरिवे हो।[9]

(भ) हमरें :— *हमरें* जान सदा सिव जोगी।[10]
हमरें कुल इन्ह पर न सुराई।[11]

(म) हमरो :— सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों *हमरो* मन मोहैं।[12]
(य) मोरेहु :— *मोरेहु* कहे न संसय जाहीं।[13]
(र) मोरेहुँ :— *मोरेहुँ* मन अस आव मिलिहि बर बाउर।[14]
(ल) मेरिऔ :— *मेरिऔ* सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।[15]
(व) मेरियै :— चूक चपलता *मेरियै* तू बड़ो बड़ाई।[16]
(स) हमरेउ :— जा करि तैं दासी सो अबिनासी *हमरेउ* तोर सहाई।[17]

अधिकरणकारक में प्रयुक्त रूपों के अन्तर्गत मो पर, मोहि पर, मो पै, मोहि पाहीं तथा 'हम पर' उल्लेखनीय हैं। कुछ विशिष्ट स्थलों पर 'मोरे' जैसा सम्बन्धकारक-रूप भी व्यवहृत हुआ है। रूपरचना की दृष्टि से नहीं वरन् अर्थ की दृष्टि से इसे भी इस श्रेणी में ले लेना अनुचित नहीं जान पडता। अस्तु इनके भी कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

(क) मो पर :—*मो पर* कीवे तोहि जो करि लेहि भिया रे।[18]
सदा सो सानुकूल रह *मो पर*।[19]
सुनि सुग्रीव साँचेहू *मो पर* फेर्यो बदन बिधाता।[20]

---

१ गी० २, ६६ — २ श्रीकृ० २७ — ३ वि० ५१
४ वि० ११३ — ५ वि० ७६ — ६ जा० मं० १७
७ वि० ७ — ८ जा० मं० ७५ — ९ श्रीकृ० ३६
१० रा० १, ६० — ११ रा० १, २७३ — १२ क० २, २१
१३ रा० १, ५२ — १४ पा० मं० १६ — १५ वि० ४१
१६ वि० ३५ — १७ रा० १, १८४ — १८ वि० ३३
१९ रा० १, १७ — २० गी० ६, ७

(ख) मोहि पर .—सपनेहुँ साचेहुँ *मोहि पर* जौं हर गौरि पसाउ।[१]
प्रीति प्रतीति *मोहि पर* तोरे ।[२]
(ग) मो पै .—लेन असीस सीय आगे करि *मो पै* सुत वधू न आई ।[३]
(घ) मोहि पाहीं .—तब लगि बैठ अहउँ बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु *मोहि पाहीं*।[४]
(च) हम पर .—जो अनाथ हित *हम पर* नेहू ।[५]
(छ) मोरे .—जौ तुम तजहु भजौं न आन प्रभु यह प्रमान पन *मोरे*।[६]

व्युत्पत्ति—उत्तमपुरुषवाचक सर्वनाम-रूपों के अन्तर्गत व्युत्पत्ति के विचार से मैं, हौं, हम, मोर तथा हमार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मोरे, हमारे, हमारी आदि सम्बन्धकारक-रूप 'मोर' तथा 'हमार' के ही विभिन्न रूपान्तर हैं जो बहुधा छन्द-सुविधा के अनुकूल विकृत कर लिये गये हैं। शेष अन्य रूपों के सम्बन्ध में, जो हि, हिं के योग से निर्मित हुये हैं (जैसे 'मोहि', 'हमहिं आदि), वे ही नियम लागू होते हैं जिनका विवेचन संज्ञाओं के कर्मकारक एव सम्प्रदानकारक रूपों में प्रयुक्त विभक्ति-सूचक प्रत्ययों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे किया जा चुका है।

मैं—इसका सम्बन्ध प्रायः सस्कृत के उत्तमपुरुषवाचक सर्वनाम 'अस्मद्' की तृतीया विभक्ति के एकवचन रूप 'मया' से जोडा जाता है जिसके दो रूप 'मइ' तथा 'मए' प्राकृत में और 'मइ' तथा 'मई' ये दो रूप अपभ्रश मे उपलब्ध होते हैं। इसके विकास को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

स० मया 7 प्रा० मइ, मए 7 अप० मइ, मई 7 हिं० मै।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस सर्वनाम के सस्कृत कर्ताकारक-रूप 'अह' से इसका कोई सम्बन्ध नही है।[७] डा० सुनीति कुमार चटर्जी के मत से 'मैं' का अनुनासिक अंश सस्कृत तृतीया 'एन' के प्रभाव के कारण आया है।[८]

हौं—'हौं' की व्युत्पत्ति सस्कृत के प्रचलित रूप 'अह' अथवा सम्भावित रूप अहम से है। शौरसेनी प्राकृत में इसके दो रूप 'अहम' तथा 'अहअ' और अपभ्र श में 'हमु' तथा 'हउं' मिलते हैं। अपभ्रंश 'हमु' से ही 'हौं' का विकास हुआ होगा।[९] अपभ्रश 'हउ' आकृति तथा उच्चारण में 'हौं' के अधिक निकट है; अतः इसी रूप से 'हौं' को विकसित मानना अधिक युक्तिसङ्गत होगा।

हम —का सम्बन्ध प्राकृत 'अम्हे' अथवा 'म्हे' से जोडा जाता है जिसके 'म' और 'ह' में स्थान-परिवर्तन हो गया है।[१०] डॉ० श्यामसुन्दर दास के कथनानुसार मार्कण्डेय ने

---

१ रा० १, १५ २ रा० १, १६२ ३ गी० २, ५१
४ रा० १, ५२ ५ रा० १, १४६ ६ वि० ११२
७ बीम्स : क० ग्रामर भाग २, पैरा नं० ६३
८ डॉ० चटर्जी : बें० लै०, पैरा नं० ५३६
९ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, पैरा नं० २८८
१० ,, ,, , पैरा नं० २८६

'प्राकृत-सर्वस्व' के १७ वें पाद के ४८ वें सूत्र मे 'अस्मद्' के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया है[1] जो प्रस्तुत 'हम' से बहुत अधिक साम्य रखता है। अतः 'हम' की व्युत्पत्ति प्रा० अम्हे, म्हे से है।

मोर तथा हमार—'र' से युक्त इन सभी सम्बन्धकारक-रूपों का सम्बन्ध प्राकृत के 'मह केरो', 'मह करो' से माना जा सकता है। 'मोर' तथा 'हमार' का विकास क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है :—

मम करको 7 मम अरओ 7 मोर।

अम्ह करको 7 अम्ह अरओ 7 अम्हारो 7 हमारो, हमार।[2]

मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के अन्तर्गत एकवचन मे तैं, तू (कही कहीं 'तू' का अनुनासिक रूप 'तूँ' मिलता है), 'तुम' तथा 'तुम्ह' का और बहुवचन में केवल 'तुम्ह' का व्यवहार हुआ है। 'तू' के आदरसूचक रूप 'आप' के स्थान पर सर्वत्र 'आपु' प्रयुक्त हुआ है। 'आपु' का दीर्घस्वरात रूप 'आपू' मानस की चौपाइयों में मिल जाता है। 'आपु' का दूसरा रूप 'रावरे' भी उल्लेखनीय है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'तैं' और 'तू' का प्रयोग प्रायः अपने से छोटे, अन्तरंग व्यक्ति, देवी-देवता अथवा आराध्य को सम्बोधित करते समय तथा कहीं कहीं किसी के प्रति तुच्छता का भाव प्रकट करने के लिए किया गया है। सामान्य प्रसंगों में 'तुम' और 'तुम्ह' का ही व्यवहार बहुलता से मिलता है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

(क) तैं:—तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना।[3]

जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए।[4]

बालि दलि काल्हि जलजान पाषान किय कंत भगवंत तैं तउ न चीन्हे।[5]

तुच्छतासूचक 'तैं' का प्रयोग :—कह दसकंध कवन तैं बंदर।[6]

इन महँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख।[7]

(ख) तू :—तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।[8]

लोचनाभिराम घनस्याम रामरूप सिसु सखी कहैं सखी सों तू प्रेम पय पालि री।[9]

छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू दे री मैया "ले कन्हैया" "सो कब" "अबहि तात"।[10]

---

1 डॉ० श्यामसुंदरदास : हिन्दी भाषा और साहित्य पृ० २६२

2 डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, पैरा नं० २६२

3 रा० ४, ३ 4 वि० ८० 5 क० ६, १६

6 रा० ६, २० 7 रा० ६, २४ 8 वि० ७६

9 क० १, १२ 10 श्रीकृ० २

मानस के अंतर्गत प्रायः सर्वत्र 'तू' रोषावेश में ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे :—

को तू अहसि सत्य कहु मोहीं ।[1]
तू छल बिनय करसि कर जोरे ।[2]

पहली पंक्ति में भरत का कैकेयी के प्रति और दूसरी में परशुराम का राम के प्रति रोषावेश व्यक्त हुआ है।

(ग) 'तू' के अनुनासिक रूप 'तूँ' का व्यवहार :—तूँ गरीब को निवाज हौं गरीब तेरो ।[3]

जननी तूँ जननी भई विधि सन कछु न बसाइ ।[4]
तो को मोसे अति घने मोको एकै तूँ ।[5]

(घ) *तुम* :—तुम सबके जीवन के जीवन सकल सुमङ्गलदाई ।[6]

निज घर की बरबात विलोकहु हौ *तुम* परम सयानी ।[7]
प्रीति नीति गुन सील धर्म कहँ *तुम* अवलंब दिये हौ ।[8]

रामचरितमानस में 'तुम' का अभाव उल्लेखनीय है। उसमें सर्वत्र 'तुम' के स्थान में 'तुम्ह' मिलता है, जिसका प्रयोग 'तुम' के साथ-साथ अन्य ग्रंथों में दिखाई पड़ता है।

(च) तुम्ह :—तुम्ह प्रभु पूरनकाम, चारि-फल-दायक ।[9]

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू ।[10]
तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देत अभिमत माँगे ।[11]

(छ) बहुवचन रूप 'तुम्ह' का प्रयोगः—*तुम्ह* अति कीन्हि मोरि सेवकाई ।[12]

ताते मोहिं तुम्ह अति प्रिय लागे ।[13]

(ज) आपु :—विनयपत्रिका दीन की, बापु ! *आपु* ही बाँचो ।[14]

सुजस तिहारो भरो भुवननि भृगुनाथ
प्रगट प्रताप *आपू* कह्यौ सो सबै सही ।[15]
देखिय *आपु* सुवन सेवा सुख मोहिं पितु को सुख दीजै ।[16]

(झ) आपू :—मोहिं लगि सहेउ सबहिं संतापू। बहुत भाँति दुख पावा *आपु* ।[17]

(ञ) रावरे :—पै तौलौं जौलौं *रावरे* न नेकु नयन फेरे ।[18]

धाव रे बुझाव रे कि बावरे हौ *रावरे* या
औरै आगि लागि न बुझावै सिंधु सावनो ।[19]

'रावरे' का व्यवहार अधिकांशतः संबंधकारकरूप 'आपका, आपके अथवा आपकी' के अर्थ

---

१ रा० २, १६२ २ रा० १, २८१ ३ वि० ७८
४ रा० २, १६१ ५ वि० १५० ६ गी० १, १६
७ वि० ५ ८ गी० २, ७५ ९ जा० म० २४
१० रा० २, २०८ ११ गी० १, ११२ १२ रा० ७, १६
१३ रा० ७, १६ १४ वि० २७७ १५ क० १, १९
१६ गी० ३, १४ १७ रा० २, ३१२ १८ वि० ७८
१९ क० ५, १८

में और न्यूनाशतः करणकारकरूपों में 'सों' परसर्ग के साथ हुआ है। यह तुलसी की भाषा पर मैथिली बोली के प्रभाव के द्योतक लक्षणों में से एक है। करणकारक तथा संबंध कारक के उक्त रूपों का विश्लेषण हम आगे प्रसंगानुसार करेंगे।

कर्मकारक के अंतर्गत प्रयुक्त होने वाले रूपों में तुमहि, तोहि, तोहिं, तुम्हहिं, तुम्हहि तोकों और तुम्ह कहुं प्रधान रूप से तथा 'तू' और 'तुम' गौण रूप से उल्लेखनीय हैं। आदरार्थक प्रयोगों के रूप में 'रौरेहि' (आपको) की चर्चा की जा सकती है। इनमें 'तू' 'तुम' तथा 'रौरेहि'—इन तीनों को ही अनियमित एवं स्फुट रूप समझना चाहिए क्योंकि मूलतः ये इस कारक के भीतर नहीं आते। 'तू' और 'तुम' तो स्पष्टतः कर्ताकारक के रूप हैं, जो केवल अर्थ की दृष्टि से कहीं कहीं कर्मकारक मे प्रयुक्त हो गये हैं। उक्त रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे है।

(क) तुमहिं :—*तुमहिं* बिलोकि आन की ऐसी क्यो कहिहै बरनारी।[1]
देखो देखो बन बन्यो आज उमाकंत।
मनो देखन *तुमहिं* आई ऋतु बसंत।[2]
तुम अति हित चितइहौ नाथ तन बार बार प्रभु *तुमहिं* चितैहै।[3]

(ख) तोहि :—सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावउँ *तोहि*।[4]
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो *तोहि*।[5]

(ग) तोहिं :—अगम जो अमरनि हूँ सो तनु *तोहिं* दियो।[6]
तुलसिदास प्रभु सरन सबद सुनि अभय करैंगे *तोहिं*।[7]
सुरतरु तर *तोहिं* दारिद सताइहै।[8]

(घ) तुम्हहिं :—सुमिरहिं सुकृत *तुम्हहिं* जन तेइ सुकृतीबर।[9]

(ङ) तुम्हहि :—औरु *तुम्हहि* को जाननिहारा।[10]
तौं लौं *तुम्हहि* पत्यात लोग सब सुसुकि सभीत सॉचु सो रोये।[11]

(च) तोको :—चारि फल त्रिपुरारि *तोको* दिये कर नृप घरनि।[12]
कौन जाने कौने तप कौने जोग जाग जप
कान्ह सो सुवन *तोको* महादेव दियो है।[13]

(छ) तुम्ह कहुँ :—रायँ राजपद *तुम्ह कहुँ* दीन्हा।[14]

(ज) कर्ताकारक रूप 'तू' का कर्मकारक में व्यवहार :—
मुँह लाये मूड़हि चढ़ी अंतहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई।[15]

---

१ श्रीकृ० ६ २ वि० १४ ३ गी० ५, ५१
४ रा० १, ७२ ५ रा० ६, २० ६ वि० १३५
७ गी० ६, १ ८ वि० ६८ ९ पा० मं० ८५
१० रा० २, १२७ ११ श्रीकृ० ११ १२ गी० १, २५
१३ श्रीकृ० १६ १४ रा० २, १७४ १५ श्रीकृ० ८

(झ) कर्ताकारक 'तुम' का कर्मकारक में प्रयोग :—

जा कारन पठये *तुम* माधव सो सोचहु मन माहीं ।[1]

(ञ) रौरेहि —जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि *रौरेहि* ।[2]

संप्रदानकारक-रूपों का निर्माण प्रायः कर्मकारक-रूपों की पद्धति पर हुआ है। इनमें तोहि, तोही, तुम्हहि, तोको, तुम कहँ, तुम्ह कौं तथा 'तुम्ह कहुँ' का उल्लेख किया जा सकता है। विशेष ध्यान देने योग्य रूप है 'तुम्हहि लागि' जो केवल इसी कारक में प्रयुक्त हुआ है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

(क) तोहि :— तुलसी *तोहि* बिसेपि बूझिये एक प्रतीति प्रीति एकै बल ।[3]

(ख) तोही :— मोरे नहिं अदेय कछु *तोही* ।[4]

(ग) तुम्हहि :— *तुम्हहि* देत अति सुगम गोसाईं ।[5]

(घ) तोको :— *तोको* मोसे अति घने मोको एकै तूँ ।[6]

(ङ) तुम कहँ :—अगम न कछु जग *तुम कहँ* मोहि अस सूझइ ।[7]

(च) तुम्ह कौं :—धर्म सुजस प्रभु *तुम्ह कौं* इन्ह कहँ अति कल्यान ।[8]

(छ) तुम्ह कहुँ :—हइ *तुम्ह कहुँ* सब भाँति भलाई ।[9]

(ज) तुम्हहि लागि :—*तुम्हहि लागि* धरिहउँ नर वेसा ।[10]

करणकारक के रूपों के अन्तर्गत तोसों, तोहि सों, तुम सों, तुम्ह सों, तुम तें, तुम्ह तें, तुम्ह सन तथा 'तुम्ह पाहीं' प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं। आदरार्थ में प्रयुक्त होने वाले 'रावरे सों' की चर्चा भी इसके साथ की जा सकती है। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

(क) तोसों :—*तोसों* हौं फिरि फिरि हित सत्य बचन कहत ।[11]

(ख) तोहि सों :—केहि भाँति कहौं, सजनी ! *तोहि सों*
मृदु मूरति द्वै निवसीं मन मोहै ।[12]

(ग) तुम सों :—रामचंद्र रघुनायक *तुम सों* हौं बिनती केहि भाँति करौं ।[13]

(घ) तुम्ह सों :—सहि देख्यो, *तुम्ह सों* कह्यो, अब नाकहि
आई, कौन दिनहु दिन छीजै ?[14]

(च) तुम तें :—*तुम तें* कहा न होय हा हा सो बुझैये मोहि
हौं ही रहौं मौन ह्वै बयो सो जानि लुनिये ।[15]

---

१ श्रीकृ० ३३ २ पा० मं० ६१ ३ वि० २४
४ रा० १, १४६ ५ रा० १, १४६ ६ वि० १५०
७ पा० म० ५० ८ रा० १, २०७ ९ रा० २, १७४
१० रा० १, १८७ ११ वि० १३३ १२ क० २, २५
१३ वि० १४१ १४ श्रीकृ० ७ १५ क० इ० बा० ४४

(छ) तुम्ह तें :—*तुम्ह तें* सुगम सब देव देखिबे को अब

जस हंस किये जोगवत जुग पर को।[१]

(ज) तुम्ह सन :—*तुम्ह सन* मिटहिं कि बिधि के अंका।[२]

(झ) तुम्ह पाहीं :—कवन सो काज कठिन जग माहीं।

जो नहि होइ तात *तुम्ह पाहीं*।[३]

अपादानकारक के रूप इतनी अल्प मात्रा में मिलते हैं कि रूप-निर्माण की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है केवल एक रूप 'तुम्ह तें' का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा; उदाहरणार्थ :—

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी।[४]

संबंधकारक के अंतर्गत बहुत अधिक संख्या में रूपों का मिलना स्वाभाविक ही है। इनमें निम्नलिखित रूप उल्लेखनीय हैं :—

तुअ, तुव, तोर, तोरा, तोरि, तोरी, तोरे, तोरें, तेरी, तेरे, तेरो, तिहारी, तिहारे, तिहारो, तुम्हार, तुम्हारा, तुम्हारि, तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारो, तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरें, तोहारा, तोहिं तथा तव (संस्कृत-तत्सम रूप)। इनमें 'तोहिं' विशुद्ध संबंधकारक-रूप न होते हुए भी केवल अर्थ के विचार से इस वर्ग में रख लिया गया है। इसे इस कारक का सामान्य रूप न समझना चाहिये। उक्त रूपों के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं।

(क) तुअ :—आजु लगे कीन्हिउँ *तुअ* सेवा।[५]

(ख) तुव :—तुव को 'तुअ' का ही एक दूसरा रूप समझना चाहिये। मानस में 'तुअ' तथा अन्य ग्रंथों में 'तुव' का व्यवहार अधिक देखने को मिलता है; उदाहरणार्थ :—

जो कलिकाल प्रबल अति होतो *तुव* निदेस तें न्यारो।[६]

सिय *तुव* अंग रंग मिलि अधिक उदोत।[७]

(ग) तोर :—कहसि न रिपुदल तेज बल बहुत चकित चित *तोर*।[८]

प्रनतपाल पन *तोर* मोर पन जिअउँ कमल पद देखे।[९]

ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी *तोर*।[१०]

(घ) तोरा :—तत्व प्रेम कर मम अरु *तोरा*। जानत प्रिया एकु मन मोरा।[११]

मम हृदय भवन प्रभु *तोरा*।[१२]

(च) तोरि :—राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस *तोरि*।[१३]

काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि *तोरि*।[१४]

---

१ गी० १, ६७ २ रा० १, ६७ ३ रा० ४, ३०
४ रा० २, १२६ ५ रा० १, २७५ ६ वि० ६४
७ बरवै० ६ ८ रा० ५, ५३ ९ वि० ११३
१० दो० १ ११ रा० ५, १५ १२ वि० १२५
१३ रा० ५, ४१ १४ वि० १५८

(छ) 'तोरि' के दीर्घस्वरत रूप 'तोरी' का व्यवहार :—

अब मोहि संभुचाप गति *तोरी*।[१]

पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करौं जेहि पूजा *तोरी*।[२]

(ज) तोरे :—मम समान पुन्यपुंज बालक नहिं *तोरे*।[३]

राम प्रताप नाथ बल *तोरे*। करहि कटकु बिनु भट बिनु घोरे।[४]

दुख सुख सहौं रहौं सदा सरनागत *तोरे*।[५]

(झ) तोरें :—सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह *तोरें*।[६]

अब कछु नाथ न चाहिय मोरें। दीनदयालु अनुग्रह *तोरें*।[७]

(ञ) तेरी :—सुनु मैया! *तेरी* सौं करौं याकी टेव लरन की, सकुच बेचि सी खाई।[८]

तेरी महिमा ते चलैं चिचिनी चियाँ रे।[९]

कहैं मोहि मैया कहौं मै न मैया भरतु की बलैया लैहो भैया *तेरी* मैया कैकेई है।[१०]

(ट) तेरे :—अबहीं तें ये सिखे कहा धौं चरित ललित सुत *तेरे*।[११]

तेरे स्वामी राम से स्वामिनी सिया रे।[१२]

बाहँ-पगार द्वार *तेरे* तैं सभय न कबहूँ फिरि गए।[१३]

(ठ) तेरो :—खायो खोंची माँगि मैं *तेरो* नाम लिया रे।[१४]

खायो, कै खवायो, कै बिगार्‌यो, ढार्‌यो लरिका री,

ऐसे सुत पर कोह, कैसो *तेरो* हियो है?[१५]

जनक को सिया को हमारो *तेरो* तुलसी को सबको भावतो ह्वैहै मै जो कह्यो कालि री।[१६]

(ड) तिहारी :—अब सब साँची कान्ह *तिहारी*।[१७]

आदि अंत मध्य राम साहिबी *तिहारी*।[१८]

(ढ) तिहारे :—सूत मागध बंदि बदत बिरुदावली, द्वार सिसु-अनुज प्रियतम *तिहारे*।[१९]

ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज *तिहारे*।[२०]

महरि *तिहारे* पाँव परौं अपनो ब्रज लीजै।[२१]

(ण) तिहारो :—इहै जानि कै तुलसी *तिहारो* जन भयो,

न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम।[२२]

---

१ रा० १, २५८   २ रा० २, १०२   ३ श्रीकृ० १
४ रा० २, १६२   ५ वि० १०६   ६ रा० २, २०५
७ रा० २, १०२   ८ श्रीकृ० ८   ९ वि० ३३
१० क० २, ३   ११ श्रीकृ० ३   १२ वि० ३३
१३ गी० ५, ३२   १४ वि० ३३   १५ श्रीकृ० १६
१६ क० १, १२   १७ श्रीकृ० ६   १८ वि० ७८,
१९ गी० १, ३४   २० क० २, २८   २१ श्रीकृ०
२२ वि० ७७

सुजस *तिहारो* भरो भुवननि भृगुनाथ प्रगट प्रताप आपु कह्यो सो सबै सही।[1]

(त) तुम्हार :— राम सरूप *तुम्हार* वचन अगोचर बुद्धि पर।[2]
राखनहार *तुम्हार* अनुग्रह घर बन।[3]
जो मन मान *तुम्हार* तौ लगन लिखायहु।[4]

(थ) तुम्हारा :— लखन कहेउ मुनि सुजस *तुम्हारा*। तुम्हहि अछत को बरनै पारा।[5]
चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होय *तुम्हारा*।[6]

(द) तुम्हारि :— कथा *तुम्हारि* सुभग सरि नाना।[7]
तुलसिदास सीदत निसि दिन देखत *तुम्हारि* निठुराई।[8]

(ध) तुम्हारी :— पूजिहि मन कामना *तुम्हारी*।[9]
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहि कृपा *तुम्हारी*।[10]

(न) तुम्हारे — रघुनाथ *तुम्हारे* चरित मनोहर गावहि सकल अवधवासी।[11]
जाउँ कहाँ तजि चरन *तुम्हारे*।[12]
पूछन जोग न तनय *तुम्हारे*।[13]

(प) तुम्हारो :— मसक विरंचि विरंचि मसक सम करहु प्रभाव *तुम्हारो*।[14]

(फ) तुम्हरी :— *तुम्हारी* कृपा सुलभ सोउ मोरे।[15]

(ब) तुम्हरे :— मुनिवर *तुम्हरे* वचन मेरु महि डोलइ।[16]
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहि मोह मार मद मान।[17]
तुम्हरे आश्रम अवहिं ईस तप साधहिं।[18]

(भ) तुम्हरें :— *तुम्हरें* बल मैं रावनु मार्यो।[19]

(म) तुम्हरो :— नन्द विरोध कियो सुरपति सों सो *तुम्हरो* बल पाई।[20]
मैं *तुम्हरो* लै नाम ग्राम इक उर आपने बसावौं।[21]
तुलसी जदपि पोच तउ *तुम्हरो* और न काहू केरो।[22]

(य) तोहारा :— परसु सहित बड़ नाम *तोहारा*।[23]

(र) तोहिं :— बहुत नात रघुनाथ *तोहिं* मोहि अब न तजे बनि आवै।[24]

---

१ क० १, १६ — २ रा० २, १२६ — ३ जा० मं० २८
४ पा० मं० ८७ — ५ रा० १, २७४ — ६ वि० १२५
७ रा० २, १२८ — ८ वि० ११२ — ९ रा० १, २३६
१० वि० १२० — ११ गी० ७, ३८ — १२ वि० १०१
१३ रा० १, २६२ — १४ वि० ६४ — १५ रा० १, १४
१६ जा० मं० १०२ — १७ रा० १, १२८ — १८ पा० मं० २३
१९ रा० ६, ११८ — २० श्रीकृ० १८ — २१ वि० १४५
२२ वि० १४५ — २३ रा० १, २८२ — २४ वि० ११२

स० त्वया 7 प्रा० तइ, तए 7 अपभ्रंश तईं 7 तैं।

तू का सम्बन्ध स० त्व 7 प्रा० तुम, तुअ 7 अप० तुहु से सिद्ध है।

'तुम' तथा इसके कुछ अन्य रूप जैसे 'तुव' तथा 'तुअ' आदि की व्युत्पत्ति उपर्युक्त प्राकृत रूपों 'तुम' तथा 'तुअ' से स्पष्ट ही है।

तुम्ह का सीधा सम्बन्ध प्रा० 'तुम्हे' और 'तुम्ह' से तथा इसी के कर्म-सम्प्रदानकारक-रूप 'तुम्हहिं' का सम्बन्ध प्राकृत एव अपभ्रंश के 'तुम्हहिं' से जान पडता है।

तोर, तुम्हार—इन रूपों की व्युत्पत्ति 'मोर' और हमार' आदि रूपों की ही भाँति प्राकृत रूपों से मानी जा सकती है :—

तव करको 7 तव अरओ 7 तोर।

तुम्ह करको 7 तुम्ह अरओ 7 तुम्हारो 7 तुम्हार।

आपु का सम्बन्ध स० 'आत्मन्' शब्द के प्राकृत रूपान्तर 'अप्पा' से स्थापित होता है। अर्थ की दृष्टि से इस मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम के सारे रूपों मे बहुत समानता पाई जाती है। 'आपु' का व्यवहार आधुनिक हिंदी के 'आप' की ही भाँति सर्वत्र अबाध रूप से—निज-वाचक और आदरवाचक—दोनों ही सर्वनामों में हुआ है।

राउर, रावरे—इन रूपों का मूल किसी सस्कृत अथवा पूर्ववर्ती प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के सर्वनाम-रूपों में खोजना व्यर्थ होगा। हमारे विचार से इसका सम्बन्ध सस्कृत 'राजन् शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन-रूप राजा—7 प्रा० राआ—, राओ—से जोडना असगत न होगा। सम्भव है कि पहले सम्बोधन में प्रयुक्त होकर कालान्तर में यही आदरार्थक मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम के रूप मे भी व्यवहृत होने लगा हो और फिर धीरे धीरे यत्र-तत्र जनभाषा के प्रवाह मे आकर 'राउर' और 'रावरे' आदि रूपों में परिणत हो गया हो। यहाँ पर इस बात की ओर सकेत कर देना अप्रासगिक न होगा कि बिहारी बोलियों में राउर या रउआ का ही अधिक व्यवहार होता है और 'तुम' शब्द तुच्छार्थ मे प्रयुक्त होता है।

अन्यपुरुषवाचक, परवर्ती निश्चयवाचक अथवा नित्यसंबंधी सर्वनाम

इन तीनों सर्वनामों की रूपरचना के सादृश्य के सम्बन्ध में पीछे निर्देश किया जा चुका है* अतः यहाँ पर पुनः उसके विवेचन में न पड कर विविध कारकों में व्यवहृत उनके विविध रूपों के प्रयोग का क्रमश. सोदाहरण विश्लेषण किया जाता है।

कर्ताकारक में प्रमुखतः इसके रूप एकवचन के अतर्गत सो, तेइँ या तिहिं, सोइ, सोई और 'वह' मिलते हैं। 'वह' रूप का प्रयोग अन्य रूपों की भाँति व्यापक नहीं है। बलात्मक रूपों मे 'सोउ' तथा 'सोऊ' रूप उल्लेखनीय हैं। उक्त सभी रूपों के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

(क) सो :—आसिष देइ गई *सो* हरषि चलेउ हनुमान।[1]

हित लागि कहेउ सुभाय *सो* बड़ विषम बैरी रावरो।[2]

---

१ रा० ५, २   २ पा० म० ५४

रावरी सपथ राम नाम ही की गति मेरे
इहाँ झूठो झूठो सो तिलोक तिहूँ काल है।[1]

(ख) तेइँ :—राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु *तेइँ* कीन्ह।[2]

(ग) तेहिं :—*तेहिं* दोउ बंधु बिलोके जाई।[3]
मागा राम तुरत *तेहि* दीन्हा।[4]

(घ) सोइ :—जेहि अनुराग लागु चितु *सोइ* हितु आपन।[5]
बहुरि लषन पायन्ह *सोइ* लागा।[6]
अंबरीष हित लागि कृपानिधि *सोइ* जनम्यो दस बार।[7]

(ङ) सोई :—देखत सुनत समुझत हू न सूझै *सोई*
कबहूँ कह्यो न काल हू को काल कालिह है।[8]
तासु प्रभाव जान नहिं *सोई*।[9]
जाहि लगै पर जानै *सोई* तुलसी सो सुहागिन नंदलला की।[10]

'सोई' को 'सोइ' का ही छंदपूर्ति के कारण आया हुआ दीर्घस्वरांत रूप समझना चाहिए, न कि सर्वथा कोई भिन्न रूप।

(च) वह :—निसि मलीन *वह* निसि दिन यह बिकसाइ।[11]

(छ) सोउ :—सिव साधु निंदकु मंद अति जो सुनै *सोउ* बड़ पातकी।[12]

(ज) सोऊ :—गीध को कियो सराध भीलिनी को खायो फल,
सोऊ साधु सभा भली भाँति मानियत है।[13]

कर्ताकारक में इस सर्वनाम के जो बहुवचन रूप मिलते है वे हैं ते, तिन, तिन्ह, उन, उन्ह और वै। वै का व्यवहार व्यापक नही है। अन्य बलात्मक एव स्फुट रूपों के अंतर्गत तेइ, तेई, तेऊ और ओऊ उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

(क) ते :—*ते* धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये।[14]
ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।[15]
जिन लगि निज परलोक बिगार्‌यो *ते* लजात होत ठाढ़ ठायँ।[16]

(ख) तिन :—*तिन* कही जग में जगमगति जोरी एक
दूजो को कहैया औ सुनैया चखचारिषो।[17]
अपनाए सुग्रीव बिभीषन, *तिन* न तज्यो छल छाउ।[18]

१	क० ७, ६५	२	रा० २, १११	३	रा० १, २२८
४	रा० ४, ५	५	पा० मं० ३७	६	रा० २, १११
७	वि० ६८	८	क० ७, १२०	९	रा० १, १४६
१०	क० ७, १३४	११	बरवै० ३	१२	पा० मं० ७४
१३	वि० १८३	१४	पा० मं० १२७	१५	रा० १, ११५
१६	वि० ८३	१७	क० १, १६	१८	वि० १००

जिन देखे, सखी! सतभायहुतें, तुलसी *तिन* तौ मन फेरि न पाए।[1]

रामचरितमानस में सामान्यतः 'तिन' के लिए 'तिन्ह' रूप व्यवहृत हुआ है जैसे:—

तिन्ह :—व्याधि असाधि जानि *तिन्ह* त्यागी।[2]
तिन्ह सब सोक रोग सम त्यागे।[3]
भूप द्वार *तिन्ह* खबर जनाई।[4]

(ग) उन :—रुचिर रूप आहार वस्य उन पावक लोह न जान्यो।[5]

मानस में 'उन्ह' रूप का बाहुल्य है, जैसे :—

छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।[6]

(घ) वै :—गज बाजि घटा भले भूरि भटा वनिता सुत भौंहँ तकै सब वै।[7]
तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले जडतावस ते न कहैं कछु वै।[8]

(ङ) तेइ :—तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग-रए।[9]
भए निसाचर जाइ तेइ महावीर बलवान।[10]
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़भागी।[11]

(च) तेई —नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे।[12]

(छ) तेउ :—हहिं पुरारि तेउ एक-नारिव्रत-पालक।[13]
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा।[14]
जग-जय-मद निदरेसि, पायेसि फर तेउ।[15]

(ज) तेऊ :—भूरि भाग तुलसी तेऊ जे सुनिहैं गाइहैं बखानिहैं।[16]
बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ।[17]

(झ) ओऊ :—कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ।[18]
जद्यपि मीन पतंग हीनमति मोहिं नहिं पूजहि ओऊ।[19]

कर्मकारक के अंतर्गत प्रयुक्त होने वाले रूप पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते है। इनमें सो, सौं, ताहि, ताही, तेहि, तेही, ओही, सोइ, सोई, सोऊ (अंतिम तीन बलात्मक रूप हैं) एकवचन के अंतर्गत। तथा ते, तिन्हहि, तिन्हही, तिन्हैं, तिन्ह कहँ, तिन्ह कहुँ, तिनहुँ को (अंतिम तीन में से प्रथम दो परसर्गयुक्त हैं तथा तीसरा बलात्मक रूप है) बहुवचन के अंतर्गत उल्लेख- नीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

---

१ क० २, २४ २ रा० २, ५१ ३ वि० १२७
४ रा० १, २६० ५ वि० ६२ ६ रा० ३, २२
७ क० ७, ४१ ८ क० ७, ४० ९ गी० १, ४३
१० रा० १, १२२ ११ वि० ६५ १२ क० ७, ११८
१३ जा० मं० १०४ १४ रा० २, १२७ १५ पा० म० २६
१६ गी० १, ७८ १७ रा० १, ७ १८ रा० १, १६५
१९ वि० ९२

(क) सो :—अब जो कहहु *सो* करउँ बिलंब न यहि घरि ।[1]
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी ।[2]
सो पुरइहि जगदीस पैज पन राखिहि ।[3]
(ख) सों :—बाँहबोल दै थापिए जो निज बरिआईं ।
बिनु सेवा *सों* पालिए सेवक की नाईं ।[4]

इस सानुनासिक 'सों' को वैकल्पिक रूप में ग्रहण करना चाहिए न कि किसी नियमित प्रयोग के अंतर्गत, क्योंकि इसका व्यवहार व्यापक नहीं है ।

(ग) ताहि :—*ताहि* प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा ।[5]
ताहि बाँधिबे को धाई, ग्वालिनी गोरसहाँई,
लै लै आईं बावरी दाँवरी घर घर ते ।[6]
पात-माथे चढ़ै तृन तुलसी जो नीचो ।
बोरत न बारि *ताहि* जानि आपु सींचो ।[7]
(घ) ताही :—नृप बहुभाँति प्रसंसेउ *ताही* ।[8]
'ताही' को 'ताहि' का ही (छंदपूर्ति के प्रयास में प्रयुक्त) दीर्घस्वरात-रूप समझना चाहिये ।

(ङ) तेहि :—करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन *तेहि* नाच नचायो ।[9]
तेहि बिलोकि माया सकुचाई ।[10]
उथपै *तेहि* को जेहि नाम थप्यो थपिहै तिहि को हरि जो हरिहै ।[11]
उपर्युक्त पंक्ति में आए हुए 'तिहि' को अनुलेखन-विभिन्नता के फलस्वरूप आया हुआ 'तेहि' का ही एक दूसरा रूप समझना चाहिए ।
(च) तेही :—कीन्ह निषाद दंडवत *तेही* ।[12]
(छ) ओही :—काहू बैठन कहा न *ओही* ।[13]
(ज) सोइ :—नारद कहा सत्य *सोइ* जाना ।[14]
ऊधौ हैं बड़े कहैं *सोइ* कीजै ।[15]
सुख स्वारथ परिहरि करिहौं *सोइ* ज्यों साहिबहि सुहाउँगो ।[16]
(झ) सोई :—भाषाबद्ध करबि मैं *सोई* ।[17]
पन को न मोह न बिसेष चिंता सीता हू की
सुनिहै पै *सोई* सोई जोई जेहि बई है ।[18]

---

१ पा० मं० ८२ २ रा० १,१४६ ३ जा० मं० ७६
४ वि० ३५ ५ रा० ७, १० ६ श्रीकृ० १७
७ वि० ७२ ८ रा० १, १६० ९ वि० ९८
१० रा० ७, ११६ ११ क० ७, ४७ १२ रा० २, १११
१३ रा० ३, २ १४ रा० १, ७८ १५ श्रीकृ० ४६
१६ गी० ५, ३० १७ रा० १, ३१ १८ गी० १, ६४

(ञ) सोऊ :—जाहि दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोऊ ।[१]

(ट) ते :—जेहि जोग जे तेहि भाँति *ते* पहिराइ परिपूरन किये ।[२]

ते भरतहिं भेंटत सनमाने । राजसभा रघुबीर बखाने ।[३]

प्रभु तरु तर कपि डार पर *ते* किय आपु समान ।[४]

(ठ) तिन्हहिं :—*तिन्हहिं* बिलोकि बिलोकति धरनी ।[५]

कृपासिंधु फेरहि *तिन्हहि* कहि बिनीत मृदु बैन ।[६]

(ड) तिन्हही :—बिषय भोग बस करहिं कि *तिन्हही* ।[७]

(ढ) तिन्हहिं :—मिलहि जोगी जरठ *तिन्हहिं* दिखाउ निरगुन-खानि।[८]

तिन्हही और तिन्हहिं वस्तुतः 'तिन्हहि' के ही विभिन्न रूपान्तर हैं, अतः ये रूप-भिन्नता की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखते ।

(प) तिन्हें :—तिरछे करि नैन दै सैन *तिन्हैं* समुझाइ कछू मुसुकाइ चलीं ।[९]

(फ) तिन्ह कहँ :—भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं। *तिन्ह कहँ* मंद कहत कोउ नाहीं।[१०]

(ब) तिन्ह कहुँ :—कस्यप अदिति महा तपु कीन्हा। *तिन्ह कहुँ* मैं पूरब बर दीन्हा ।[११]

(म) तिनहु को :—प्रेम लखि कृष्ण किये आपने *तिनहुँ* को,

सुजस संसार हरिहर को जैसो ।[१२]

सम्प्रदानकारक के रूपों के अन्तर्गत विशेष रूप से ताहि, ताही, ताको, ताकहँ, तेहि लगि, तेहि लागि, ताहि लगि एकवचन में और 'तिन्ह कहँ' और 'तिन्ह कहुँ' बहुवचन में उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

(क) ताहि :—माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम ।

तुलसी जेहि न सोहाइ *ताहि* बिधि बाम ।[१३]

धूरि मेरु सम जनक जमु *ताहि* ब्याल सम दाम ।[१४]

(ख) ताही :—गरुड़ सुमेरु रेनु सम *ताही* ।[१५]

बिषय नींब कटु लगत न *ताही* ।[१६]

'ताही' को 'ताहि' का ही (छन्द-सुविधा के अनुकूल प्रयुक्त) दूसरा रूप समझना चाहिए।

(ग) ताको :—जद्यपि *ताको* सोइ मारग प्रिय जाहि जहाँ बनि आई ।[१७]

जाको मन जासों बँध्यो *ताको* सुखदायक सोइ ।[१८]

---

१ वि० ७८ — २ गी० १, ५ — ३ रा० १, २६
४ रा० १, २६ — ५ रा० २, ११७ — ६ रा० २, ११२
७ रा० २, ८४ — ८ श्रीकृ० ५२ — ९ क० २, २२
१० रा० १, ६६ — ११ रा० १, १८७ — १२ वि० १०६
१३ बरवै० ५० — १४ रा० १, १७५ — १५ रा० ५, ५
१६ वि० १०४ — १७ वि० १२७ — १८ वि० १,१

(थ) ता कहँ :—*ता कहँ* यह बिसेष सुखदाई ।[1]
जो जेहि कला कुसल *ता कहँ* सोइ सुलभ सदा सुखकारी ।[2]

(च) तेहि लगि :—कलप एक *तेहि लगि* अवतारा ।[3]

(छ) तेहि लागि :—जनि *तेहि लागि* बिदूषहि केही ।[4]

(ज) ताहि लगि :—कीजै राम बार यहि मेरी ओर चख कोर
ताहि लगि रंक ज्यो सनेह को ललात हौ ।[5]

(झ) तिन्ह कहँ :—काल रूप *तिन्ह कहँ* मैं भ्राता ।[6]

(ञ) तिन्ह कहुँ :—*तिन्ह कहु* मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ।[7]

करणकारक के रूपों में प्रमुखतः तेहिं, तेहि सन (परसर्गयुक्त रूप) तथा तेन (संस्कृत तत्समरूप) एकवचन के अंतर्गत और तिनहिं तथा 'तिन्ह तें' (परसर्गयुक्त रूप) बहुवचन के अंतर्गत उल्लेखनीय हैं। बलात्मक रूपों में 'तेही सन' तथा 'ताही सों' जैसे परसर्गयुक्त रूपों की गणना की जा सकती है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

(क) तेहिं :—*तेहिं* करि बिमल बिवेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भव मोचन ।[8]
(ख) तेहि सन :—*तेहि सन* नाथ मयत्री कीजे ।[9]
(ग) तेन :—*तेन* तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं *तेन* सर्वं कृतं कर्मजालं ।[10]
(घ) तिनहिं :—परम पुनीत संत कोमल चित *तिनहिं* तुमहिं बनि आई ।[11]
(च) तिन्ह तें :—टरेउ न चाप *तिन्ह तें* जिन्ह सुभटनि कौतुक कुधर उखारे ।[12]
(छ) तेही सन .—जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि *तेही सन* काम ।[13]
(ज) ताही सों —नाथ बयर कीजे *ताही सों*। बुधि बल सकिअ जीति जाही सो ।[14]

अपादानकारक मे प्रयुक्त रूपो की सख्या—परिणाम और विविधता—दोनों ही दृष्टियों से कोई विशेषता नहीं रखती। करणकारक से ही मिलते-जुलते कुछ रूपों का व्यवहार यत्र-तत्र मिल जाता है जिनमें 'तेहि सन, तेहि ते, तिन्ह तें (बहुवचन रूप) तथा ताहू तें (बलात्मक रूप) जैसे परसर्ग-युक्त रूप उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

(क) तेहि सन :—*तेहि सन* जागबलिक पुनि पावा ।[15]

(ख) तेहि तें : पाट कीट तें होइ *तेहि तें* पाटंबर रुचिर ।[16]
तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी ।[17]

१	रा० ७, १२८	२	वि० १६७	३	रा० १, १२४
४	वि० १२६	५	क० ७, १२३	६	रा० ७, ४१
७	रा० १, ३८	८	रा० १, २	९	रा० ४, ४
१०	वि० ४६	११	वि० ११२	१२	गी० १, ६६
१३	रा० १, ८०	१४	रा० ६, ६	१५	रा० १, ३०
१६	रा० ७, ९५ ख	१७	रा० ३, २८		

(ग) तिन्ह तें :—*तिन्ह तें* अधिक रम्य अति बंका।[1]

(घ) ताहू तें —*ताहू तें* परम कठिन जान्यो सखि तज्यो पिता तव भयो व्योमचर।[2]

सम्बन्धकारक के जिन रूपों का व्यवहार प्रचुरता से मिलता है उनमें एकवचन के अंतर्गत ताकी, ताके, ताकें, ताको, तासु, तासू, तेहि, ताकर, ताकरि, तेहि कै, तेहि केरी और वाके और बहुवचन के अंतर्गत उन्ह की, उन्ह कै, उन्ह कर, तिन्ह की, तिन के, तिन्ह की, तिन्ह के, तिन्ह कै, तिन्ह कर, तिन्ह केरी तथा तिन्ह केरे तथा बलात्मक रूप 'ताहू केरे' उल्लेखनीय हैं। उक्त रूपों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

(क) ताकी :—कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि
बीरता बिदित *ताकी* देखिए चहतु हौं।[3]
ताकी पैज पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की।[4]
ताकी सिख ब्रज न सुनैगो कोऊ भोरे।[5]

(ख) ताके :—ताके जुग पद कमल मनावउँ।[6]
तुलसी फल *ताके* चार्‌यो मनि मरकत पंकजराग।[7]
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम।[8]

(ग) ताकें :—सुनु मुनि मोह होइ मन *ताकें*।[9]

(घ) ताको :—*ताको* लिए नाम राम सबको सुढर ढरत।[10]
सोई हौं बूझत राजसभा 'धनु को दल्यो'? हौं दलिहौं बल *ताको*।[11]
साखी वेद पुरान हैं तुलसी तन ताको।[12]

(च) तासु :—मैना *तासु* घरनि घर त्रिभुवन तियमनि।[13]
तासु दसा देखी सखिन्ह पुलकगात जलु नैन।[14]
तुलसी तकु *तासु* सरन जातें सब लहत।[15]

(छ) तासू :—नृप उत्तानपाद सुत *तासू*।[16]

'तासू' को 'तासु' से भिन्न कोई रूप न समझ कर उसी का एक दीर्घ-स्वरांतरूप समझना चाहिए जो छंद-सुविधा के अनुकूल व्यवहृत हो गया है।

(ज) तेहि :—जाकी ओर बिलोकहि मन *तेहि* साथहि हो।[17]
बेद बिदित *तेहि* दसरथ नाऊँ।[18]

१	रा० १, १७८	२	श्रीकृ० ३१	३	क० १, १८
४	वि० ३०	५	श्रीकृ० ४४	६	रा० १, १८
७	गी० १, २६	८	वै० स० ३७	९	रा० १, १२९
१०	वि० १३४	११	क० १, २०	१२	वि० १५२
१३	पा० म० ६	१४	रा० १, २२८	१५	वि० १३३
१६	रा० १, १४२	१७	रा० ल० न० ६	१८	रा० १, १८८

(झ) ताकर :— *ताकर* नाम भरत अस होई ।[1]
ताकर दूत अनल जेहि सिरजा ।[2]

(ञ) ताकरि :— सुनि *ताकरि* बिनती मृदु बानी ।[3]

(ट) तेहि के :— *तेहि कें* वचन मानि बिस्वासा ।[4]
तेहि कें भये जुगल सुत बीरा ।[5]

(ठ) तेहि केरी:—सुनहु कठिन करनी *तेहि केरी* ।[6]

(ड) वाके :— याके उए बरति अधिक अंग अंग दव
वाके उए मिटति रजनि जनित जरनि ।[7]

(ढ) उन्ह की :—चातक जलद मीनहुँ ते भोरे समुझत नहिं *उन्ह की* निठुराई ।[8]

(ण) उन्ह कै :—समुझि परी मोहिं *उन्ह कै* करनी ।[9]

(त) उन्ह कर :—सुंदरि सुनु मै *उन्ह कर* दासा ।[10]

(थ) तिन की :—*तिन की* गति कासीपति कृपाल ।[11]

(द) तिन के :— *तिन के* हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ।[12]

(ध) तिन्ह की :—जे रघुबीर चरन चिंतक *तिन्ह की* गति प्रगट दिखाई ।[13]
सुनै *तिन्ह की* कौन तुलसी जिन्हहिं जीति न हारि ।[14]

(न) तिन्ह के :—राम बसहु *तिन्ह के* मन माही ।[15]
तुलसी सराहै भाग *तिन्ह के* जिन्ह के हिये
डिभ राम रूप अनुराग रंग रये हैं ।[16]

(प) तिन्ह कै :—रहहिं धीर *तिन्ह कै* जग लीका ।[17]

(फ) तिन्ह कर :—घर तुम्हार *तिन्ह कर* मनु नीका ।[18]
कहहु सुकृत केहि भाँति सराहिय *तिन्ह कर* ।[19]

(ब) तिन्ह केरी :—बरनि न जाइ दसा *तिन्ह केरी* ।[20]

(भ) तिन्ह केरे :—चरन कमल बंदउँ *तिन्ह केरे* ।[21]

(म) ताहू केरो :—तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो *ताहू केरो* ।[22]

---

१ रा० १, १६७ २ रा० ५, २६ ३ रा० ७, ६१
४ रा० १, ७६ ५ रा० १, १५३ ६ रा० १, १२६
७ श्रीकृ० ३० ८ श्रीकृ० ५६ ९ रा० ३, २२
१० रा० ३, १७ ११ वि० १३ १२ वि० १०१
१३ गी० १, ६ १४ श्रीकृ० ५३ १५ रा० ५, १२०
१६ गी० १, ११ १७ रा० ३, ४ १८ रा० २, १३१
१९ पा० मं० ७ २० रा० २, ११४ २१ रा० १, १४
२२ वि० ८७

अधिकरणकारक के रूपो में ता पर, तेहि पर और तेहि माहीं एकवचन के अन्तर्गत तथा 'तिन्ह पर', 'तिन्ह महँ' और 'तिन्ह महुँ' बहुवचन के अन्तर्गत व्यवहृत हुए हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(क) ता पर :— *ता* पर करहिं सुमौज बहुत दुख खोवहि हो।[1]
ता पर हरषि चढ़ी वैदेही।[2]
ता पर सानुकूल गिरिजा हर राम लखन अरु जानकी।[3]

(ख) तेहि पर :—*तेहि पर* चढेउ मदन मन माखा।[4]

(ग) तेहि माहीं :—रबि कर नीर बसै अति दारुन मकर रूप *तेहि माहीं*।[5]

(घ) तिन्ह पर :—कीरति कुसल भूति जय रिधि सिधि *तिन्ह* पर सबै कोहानी।[6]

(च) तिन्ह महँ : *तिन्ह महँ* प्रथम रेख जग मोरी।[7]

(छ) तिन्ह महुँ :—जे *तिन्ह महुँ* बय बिरिध सयाने।[8]

व्युत्पत्ति—अन्यपुरुषवाचक नित्यसम्बन्धी अथवा दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के इन रूपों के अन्तर्गत व्युत्पत्ति की दृष्टि से सो, ते, तेहि, ताहि, तासु, तिन, तिन्ह, ओही तथा उन्ह विशेष रूप से विचारणीय हैं। शेष अन्य रूपों में केवल थोड़े से सयोगात्मक रूप ऐसे हैं जिनमें कुछ विकार अथवा परिवर्तन मिलता है और कुछ ऐसे हैं जो 'सो' लगि, लागि, की, के, कर, में, पर आदि परसर्गों की सहायता से निर्मित हुए हैं जिनकी व्युत्पत्ति लगभग उसी प्रकार समझनी चाहिए जैसा सज्ञाओं की कारकरचना में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न परसर्गों की व्युत्पत्ति के प्रसग में निर्देश किया जा चुका है। इनमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। क्रमशः सारे प्रमुख रूपों की व्युत्पत्ति नीचे दी जा रही है।

सो का सम्बन्ध सीधे सस्कृत सः > प्रा० अप० 'सो' से है।

ते की व्युत्पत्ति स० 'तद्' के ही प्रथमा विभक्ति के बहुवचन रूप 'ते' से है और तुलसी ने इसका व्यवहार खडीबोली 'वे' के अर्थ में किया है।

तेहि, ताहि—'हि' से युक्त इन रूपों की व्युत्पत्ति उसी प्रकार समझनी चाहिए जैसी विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' से युक्त सज्ञाओं के कर्मकारकरूपों की। इसके विषय में पीछे निर्देश हो चुका है।

तासु का सम्बन्ध स० तद् की षष्ठी विभक्ति के एकवचन रूप तस्य > प्रा० 'तस्स से है।

तिन, तिन्ह का सम्बन्ध सस्कृत तेषा > प्रा० ताण, तेण, तीण से है।

वह, ओही तथा उन्ह की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि इस प्रसङ्ग में डा० चटर्जी* के उस अनुमान का सहारा लिया जा सकता

---

१ रा० ल० न० १७ २ रा० ६, १०८ ३ वि० ३०
४ रा० १, ८७ ५ वि० १११ ६ गी० १, ४
७ रा० १, १२ ८ रा० २, ११०
* चैटर्जी · बे० लैं० § ५७२

है जिसके आधार पर उन्होंने हिन्दी खड़ीबोली 'वह' (जिसका 'ओही' से भी बहुत कुछ साम्य दिखाई पड़ता है) का सम्बन्ध संस्कृत के कल्पित रूप अवछ 7 'ओ' से जोड़ना उचित समझा है। 'उन्ह' 'ओ' का ही विकारी बहुवचनरूप है। जिस प्रकार बहुत सी संज्ञाओं के बहुवचनरूप (बिप्रन्ह जैसे रूप) 'न्ह' प्रत्यय के योग से बने है, उसी प्रकार 'उन्ह' का भी निर्माण हुआ है।

निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के अन्तर्गत एकवचन में इसके रूप यह, यहु, एहा, एहिं, इहै (बलात्मक रूप) तथा बहुवचन एव आदरार्थ में ये अथवा ए, इन्ह, एउ, इनहिं और इन्हहीं (अन्तिम तीनों बलात्मक रूप हैं उल्लेखनीय हैं। इनके बहुप्रचलित मूल कर्ताकारकरूपों 'यह' तथा 'ये' का आधुनिक खड़ीबोली के इन्हीं सर्वनामरूपो के साथ पूर्ण साम्य देखने योग्य है। उक्त कर्ताकारकरूपों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे है।

(क) यह :—निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ।[१]
ता कहँ यह बिसेप सुखदाई।[२]
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु नामहुँ पाप न जारो।[३]

(ख) यहु :—जौं यहु होइ मोर मत माता।[४]
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं।[५]

(ग) एहाः—जाना जरठ जटायू एहा।[६]

(घ) एहिं :—कहहिं लहेउ एहिं जीवन लाहू।[७]

(च) इहै :—इहै परम फल परम बड़ाई।[८]

(छ) ये :— ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।[९]
बरपि नीर ये तबहिं बुझावहिं स्वारथ निपुन अधिक चतुराई।[१०]
ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।[११]

(ज) ए :—ए परमारथ रूप ब्रह्ममय बालक।[१२]
कबहुँक ए आवहि एहि नातें।[१३]
कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि कै ए नयन जाहु जित ए री।[१४]

'ये' और 'ए' की विभिन्नता को अनुलेखन-पद्धति की विभिन्नता का परिणाम समझना चाहिए।

---

१ बरवै० ३ — २ रा० ७, १२८ — ३ वि० ६४
४ रा० २, १६७ — ५ रा० २, १६६ — ६ रा० ३, २६
७ रा० २, १६६ — ८ वि० ६२ — ९ क० २, २०
१० श्रीकृ० ५६ — १० रा० १, २१६ — ११ जा० मं० ५१
१२ रा० १, २२२ — १४ गी० १, ७६

(झ) इन्ह :— सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।[१]
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।[२]
(ञ) एउ :— एउ देखिहैं पिनाक नेकु जेहि नृपति लाज ज्वर जारे।[३]
(ट) इनहिं :— बिस्वामित्र हेतु पठये नृप इनहिं ताड़का मारी।[४]
(ठ) इन्हहीं :— इन्हहीं ताड़का मारी गौतम की तिया तारी
भारी भारी भूरि भट रन बिचलाये हैं।[५]

कर्मकारक के रूपों में प्रमुखतः यह, एहि, एही, याहि, एहि कहँ (परसर्गयुक्त रूप) तथा इहै (बलात्मक रूप) एकवचन के अंतर्गत और ये, ए, इन्हें, इन्हहि, इन्हहि, इनको तथा इन कहँ बहुवचन के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी कुछ रूप, जैसे यह, ये और 'ए' वस्तुतः कर्ताकारक के रूप होते हुए भी प्रयोग की व्यापकता की दृष्टि से इस कारक के रूपों में गिन लिए गये हैं। दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम की भाँति कर्मकारक के अंतर्गत इसके रूपों में भी परसर्गों के व्यवहार की अल्पता ध्यान देने योग्य है। उक्त रूपों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

(क) यह :—*यह* बिचारि तजि कुपथ कुसंगति चलु सुपंथ मिलि भलो साथ।[६]
यह कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा। चले हरपि हियँ धरि रघुनाथा।[७]
साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव
राम नीति रत काम कहाँ *यह* पाव।[८]
(ख) एहि:— *एहि* सेवत कछु दुर्लभ नाहीं।[९]
(ग) एही :—अब जनि राम खेलावहु *एही*।[१०]
'एहि' को ही छंदसुविधा की दृष्टि से 'एही' कर दिया गया है।
(घ) याहि :—*याहि* कहा मैया मुहँ लावति गनति कि एक लँगरि भगराऊ।[११]
सकल बिकार-कोस बिरहिनि-रिपु काहे ते *याहि* सराहत सुर नर।[१२]
(च) एहि कहँ :—अस स्वामी *एहि कहँ* मिलिहि परी हस्त असि रेख।[१३]
(छ) इहै :— इहै कह्यो सुत वेद चहूँ।[१४]
(ज) ये :— सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि *ये* मन कीन्हें बरिआई।[१५]
ये अब लही चतुर चेरी पै चोखी चालि चलाकी।[१६]
(झ) ए :— ए रखिअहिं सखि आखिन्ह माहीं।[१७]

---

१ रा० १, २२० २ रा० ७, ८ ३ गी० १, ६६
४ गी० १, ६१ ५ गी० १, ७२ ६ वि० ८४
७ रा० ५, १ ८ बरवै० ७ ९ रा० १, ६७
१० रा० ६, ८६ ११ श्रीकृ० १२ १२ श्रीकृ० ३१
१३ रा० १, ६७ १४ वि० ८६ १५ वि० १२४
१६ श्रीकृ० ४३ १७ रा० २, १२१

ए जाने बिनु जनक जानियत करि पन भूप हँकारे ।[1]
ए किसोर धनु घोर बहुत बिलखात बिलोकनिहारे ।[2]

'ये' और 'ए' की विभिन्नता अनुलेखन-पद्धति की विविधता की द्योतक है ।

(ञ) इन्हैं :—आँखिन मे सखि राखिबे जोग इन्हैं किमि कै वनवास दियो है ।[3]
मेरे जान इन्हैं बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाठ इतौ री ।[4]

(ट) इन्हहिः—जो पै इन्हहिं दीन्ह बनवासू । कीन्ह बादि विधि भोग बिलासू ।[5]

(ठ) इन्हहिं :—बिरचत इन्हहि बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रितए री।[6]

(ड) इनको :—इनको बिलगु न मानिये बोलहि न बिचारी ।[7]

(ढ) इन्ह कहँ :—सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं । बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ।[8]

संप्रदानकारक के रूपो के अंतर्गत यहि लागि, एहि लागि, एहि कहँ, इन्ह कहँ, इन्ह के लिए तथा इन्हही को (बलात्मक रूप) उल्लेखनीय हैं; उदाहरणार्थ :—

(क) यहि लागि :— भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन *यहि लागि* उपाई ।[9]

(ख) एहि लागि :—*एहि लागि* तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक है कही ।[10]

(ग) एहि कहँ :— एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ।[11]

(घ) इन्ह कहँ :— धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान ।[12]

(च) इन्ह के लिए:—*इन्ह के लिए* खेलिबो छाँड्यो तऊ न उबरन पावहि ।[13]

(छ) इन्हही को :— कन्या कुल कीरति बिजय बिस्व की बटोरि,
कैधौं करतार *इन्हही* को निरमई है ।[14]

करणकारक के रूप अपेक्षाकृत कम मात्रा में उपलब्ध होते है । इनमें 'एहि तें', 'एहि सन', 'इन ते' तथा 'इन्ह सन' उल्लेखनीय हैं । प्रथम दो एकवचन में तथा अंतिम दोनो बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं । कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

(क) एहि तें :— *एहि तें* जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ।[15]
एहि तें जसु पैहैं पितु माता ।[16]

(ख) एहि सन :—*एहि सन* हठि करिहउँ पहिचानी ।[17]

(ग) इनते :—*इनतें* भइ सित कीरति अति अभिराम ।[18]

(घ) इन्ह सन :— जिन्ह कर मन *इन्ह सन* नहि राता ।
ते जन बंचित किये बिधाता ।[19]

---

1 गी० १, ६६ | 2 गी० १, ६६ | 3 क० २,२०
4 गी० १, ७५ | 5 रा० २, ११९ | 6 गी० १, ७६
7 वि० ३४ | 8 रा० १, २२३ | 9 वि० ११९
10 रा० ५, ३ | 11 रा० १, ७० | 12 रा० १, २०७
13 श्री कृ० ४ | 14 गी० १, ८४ | 15 रा० २, १७७
16 रा० १, ६७ | 17 रा० ५, ६ | 18 बरवै० ३४
19 रा० १, २०४

अपादानकारक के रूपों की संख्या करणकारकरूपों की भाँति बहुत कम है और इनके अंतर्गत एहि ते, एहि तें, इन तें तथा इन्ह तें उल्लेखनीय हैं। अंतिम दो बहुवचन-रूप हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

(क) एहि ते :—*एहि ते* अधिक न एहि सम जीवन लाहु।[१]
(ख) एहि तें :—*एहि ते* अधिक कहौं मैं काहा।[२]
(ग) इन तें :—गनिका कोल किरात आदि कवि *इन तें* अधिक बाम को।[३]
(घ) इन्ह तें :— *इन्ह तें* लही है मानो घन दामिनि दुति मनसिज मरकत सोने।[४]
इन्ह तें लही दुति मरकत सोने।[५]

संबंधकारक के रूप अन्य सर्वनाम-रूपों की भाँति इस सर्वनाम के अंतर्गत भी अन्य कारकों की अपेक्षा अधिक संख्या में व्यवहृत हुए हैं। इनमें प्रमुखतः एहि, याकी, याके, याको, एहि कें और एहि कर (अंतिम दो परसर्गयुक्त रूप हैं) एकवचन के अंतर्गत तथा इनकी, इनके, इनको, इन्हके, इन्हकै और (इन्ह कर) बहुवचन एवं आदरार्थ में उपलब्ध होते हैं। इनमें 'एहि' वस्तुतः संबंधकारकरूप न होकर इसी अर्थ में प्रसंगवश प्रयुक्त कर्मकारकरूप है। उक्त रूपों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

(क) एहि :—रामचरितमानस *एहि* नामा।[६]
(ख) याकी :— सुनु मैया तेरी सौं करौं *याकी* टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई।[७]
(ग) याके :— *याके* चरन सरोज कपट तजि जे भजिहैं मन लाई।[८]
(घ) याको :— *याको* फल पावहिगो आगे।[९]
(च) एहि कें :— *एहि कें* एक परम बल नारी।[१०]
(छ) एहि कर :—*एहि* कर नाम सुमिरि संसारा।[११]
सदा अचल *एहि* कर अहिवाता।[१२]
(ज) इनकी — बैठि *इनकी* पाँति अब सुख चहत मन मतिहीन।[१३]
(झ) इनके — दुख दीनता दुखी *इनके* दुख जाचकता अकुलानी।[१४]
(ञ) इनको :— जानि पुरजन त्रसे धीर दै लषन हँसे
बल *इनको* पिनाक नीके नापे जोखे हैं।[१५]
(ट) इन्ह के :—*इन्ह के* बिमल गुन गनत पुलकि तनु
सतानंद कौसिक नरेसहि सुनाए हैं।[१६]

१	बरवै० ७५	२	रा० २, २६०	३	वि० ६६
४	गी० १, ५४	५	रा० २, ११६	६	रा० १, ३५
७	श्रीकृ० ८	८	गी० १, १३	९	रा० ६, ३३
१०	रा० ३, ३८	११	रा० १, ६७	१२	रा० १, ६७
१३	श्रीकृ० ५५	१४	वि० ५	१५	गी० १, ६३
१६	गी० १, ७२				

(ठ) इन्ह कै :— इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि ।[१]
(ड) इन्ह कर :—नाहि त हस कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसनु दूरि ।[२]

अधिकरणकारक के रूपों में या महिं, एहि महँ, एहि माही का एकवचन के अंतर्गत और 'इन महँ' का बहुवचन के अंतर्गत उल्लेख किया जा सकता है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

(क) या महिं :—मेरे कहा थाकु गोरस को नवनिधि मंदिर *या महिं* ।[३]
(ख) एहि महँ :—*एहि महँ* रघुपति नाम उदारा ।[४]
(ग) एहि माही : —राम प्रताप प्रगट *एहि माहीं* ।[५]
(घ) इन महँ—मद मत्सर अभिमान ज्ञान रिपु *इन महँ* रहनि अपारो ।[६]

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से उक्त रूपों के अंतर्गत यह, ए, एहा, एहिं तथा इन्ह प्रमुख रूप से विचारणीय हैं । अन्य रूपों के संबंध में, जो परसर्गों की सहायता से निर्मित हुए हैं, वही बातें सत्य समझनी चाहिएँ जिनकी चर्चा संज्ञाओं की कारकरचना में प्रयुक्त परसर्गों के प्रसंग में की गई है ।

यह, ए की व्युत्पत्ति सं० एषः, एते, एतानि आदि रूपों से स्पष्ट है ।* हार्नली † ने भी इनका संबंध सं० एषः से जोडा है । चैटर्जी ‡ के अनुसार भी समस्त निकटवर्ती निश्चय-वाचक-रूपों का संबंध सं० मूल शब्द एत-(एषः, एषा, एतद्) से है ।

एहा, एहिं आदि रूपों का संबंध संस्कृत एषः से विकसित अपभ्रंश रूप 'एहो' से है। इसी 'एहो' से 'यह' का तथा अपभ्रंश के बहुवचन रूप 'एइ' से 'ये' का संबंध भी जोड़ा जा सकता है ।

इन्ह डा० धीरेन्द्र वर्मा + के मतानुसार प्राकृत एदिणा, एइणा ∠ सं० एतेन से संबद्ध नहीं हो सकता और इनके 'न में सं० संबंधकारक बहुवचन के चिह्न का प्रभाव मालूम होता है ।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के अंतर्गत अन्य सर्वनामों की अपेक्षा इस सर्वनाम के रूपों की संख्या कहीं अधिक है । इनमें का, को, कौन, कवन, केइँ, केहिं तथा के (बहुवचन-रूप) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(क) का :—होनिहार *का* करतार को रखवार जग खरभरु परा ।[७]
केसव कहि न जाइ *का* कहिये ।[८]

---

१ रा० १, २१७ २ रा० १,२२२ ३ श्रीकृ० ५
४ रा० १, १० ५ रा० १, १० ६ वि० ११७
७ रा० १, ८४ ८ वि० १११
* वर्मा : हि० भा० इ० § २९२ † हार्नली : ई० हिं० ग्रामर § ४३८
‡ चैटर्जी : बें० लैं० § ५६६ + वर्मा : हिं० भा० इ० § २९३

(ख) को :—और काहि माँगिये को माँगिबो निवारै।[1]
बरनै छबि अस जग कवि *को* है।[2]
को कहि सकै अवधबासिन को प्रेम प्रमोद उछाह।[3]
(ग) कौन :—*कौन* सुनै अलि की चतुराई।[4]
(घ) कवन :—राम *कवन* प्रभु पूछउँ तोही।[5]
(च) केइँ :—अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा।[6]
(छ) केहि :—*केहि* न सुसग बडप्पन पावा।[7]
(ज) के :— कहु के लहे फल रसाल बबुर बीज बपत।[8]

कर्मकारकरूपों में विशेषतः का, कहा, काह, काहा, काहि, काही, केहि और कौन उल्लेखनीय हैं। अधिकाश रूपों का कर्ताकारकरूपों के साथ साम्य ध्यान देने योग्य है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

(क) का :— *का* पूछहु सुठि राउर सरल सुभाव।[9]
का सुनाइ बिधि काह सुनावा। *का* देखाइ चह काह दिखावा।[10]
तो बिनु जगदम्ब गंग कलिजुग *का* करित।[11]
(ख) कहा :— *कहा* कहे केहि भाँति सराहे नहि करतूति नई।[12]
(ग) काह :— कहौ *काह* सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहि।[13]
मो कहँ *काह* कहब रघुनाथा।[14]
मीठ *काह* कबि कहहि जाहि जोइ भावइ।[15]
(घ) 'काह' का ही दीर्घस्वरात-रूप 'काहा' :—कह प्रभु सखा बूझिए *काहा*।[16]
एहि तें अधिक कहौं मैं *काहा*।[17]
(च) काहि :—नहिं जानि जाइ न कहति चाहति *काहि* कुधर कुमारिका।[18]
मच्छर *काहि* कलक न लावा। *काहि* न लोक समीर डोलावा।[19]
(छ) 'काहि' का ही दीर्घस्वरात-रूप 'काही' :—प्रभु रघुपति तजि सेइय *काही*।[20]
(ज) केहि :—बिनु कारन करुनाकर रघुबर *केहि केहि* मति न दई।[21]
का न करै अबला प्रबल *केहि* जग कालु न खाइ।[22]
हैं स्तुति विदित उपाय सकल सुर *केहि केहि* दीन निहोरै।[23]

---

१ वि० ८०　　२ रा० १, १००　　३ गी० १,२
४ श्रीकृ० ५१　　५ रा० १, ४६　　६ रा० २, २६
७ रा० १, १०　　८ वि० १३०　　९ बरवै० २०
१० रा० २, ४८　　११ वि० १९　　१२ गी० १, ५७
१३ पा० मं० ५५　　१४ रा० २, ७०　　१५ पा० मं० ७२
१६ रा० ५, ४७　　१७ रा० २, २६०　　१८ पा० मं० ४५
१९ रा० ७, ७१　　२० रा० ७, १२३　　२१ गी० १, ५७
२२ रा० २, ४७　　२३ वि० १०२

(झ) कौन :— स्वारथहि प्रिय स्वारथ सो काते *कौन* वेद बखानई ।[1]

संप्रदानकारक के प्रमुख रूप केहि लगि, केहि हेतु और केहि हेत हैं; उदाहरणार्थ:—

(क) केहि लगि :—जीव नित्य *केहि लगि* तुम रोवा ।[2]
(ख) केहि हेतु :—*केहि हेतु* रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई ।[3]
(ग) केहि हेतू :—विपिन अकेलि फिरहु *केहि हेतू* ।[4]

करणकारक के रूप भी सम्प्रदानकारक की ही भाँति बहुत अल्प मात्रा मे उपलब्ध होते है क्योंकि इन कारकरूपो के स्थान मे प्रायः ऐसे सर्वनाममूलक क्रियाविशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिनके अन्तर्गत करणकारक का अर्थ निहित रहता है (जैसे, कैसे आदि ऐसे ही रूप है)। इन रूपों मे केहि, कासों, काते तथा का पहँ उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(क) केहि :— मैं *केहि* कहौं विपति अति भारी ।[5]
(ख) कासों :— सहस सिला ते अति जड़मति भई है
कासों कहौ कौने गति पाहनहि दई है ।[6]
(ग) काते :— स्वारथहि प्रिय स्वारथ सों *काते* कौन वेद बखानई ।[7]
(घ) का पहँ :—सीय वियाह उछाह जाइ कहि *का पहँ* ।[8]

अपादानकारक के कोई निश्चित रूप इस सर्वनाम मे नहीं उपलब्ध होते। उनके स्थान में भी सर्वत्र प्रायः सर्वनाममूलक क्रियाविशेषणो का ही व्यवहार हुआ है।

सम्बन्धकारक के रूप भी इस सर्वनाम में अन्य सर्वनामों की अपेक्षा सख्या मे कम हैं और जो रूप मिलते भी है उनके अन्तर्गत के, का आदि परसर्गों की सहायता से बने हुए रूप बहुत अल्प मात्रा में आये हैं। इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय रूप ये है—काके, काको, कासु, केहि, केहि के, केहि कै और केहि कर। इनके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

(क) काके :— बूझत जनक नाथ ढोटा दोउ *काके* हैं ।[9]
हैं *काके* द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै ।[10]
(ख) काको :— तहँ तुलसी से कौन की *काको* तकिया रे ।[11]
गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटोसो ढोटो है *काको* ।[12]
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ।[13]
(ग) कासु :— कहिअ होइ भल *कासु* भलाई ।[14]
(घ) केहि :— दुइ माथ *केहि* रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सर धरा ।[15]

---

१ वि० १३५	२ रा० ४, ११	३ रा० २, २५
४ रा० १, ५२	५ वि० १२५	६ वि० १८१
७ वि० १३५	८ जा० मं० १५	९ गी० १, ६२
१० वि० १३७	११ वि० ३३	१२ क० १, २०
१३ वि० १०१	१४ रा० २, २६७	१५ रा० १, ८४

(च) केहि कें :—केहि कें बल घालेहि बन खीसा ।[१]
(छ) केहि कै :—केहि कै लोभ बिडबना कीन्ह न एहि ससार ।[२]
(ज) केहि कर :—गालु करब केहि कर बलु पाई ।[३]

अधिकरणकारक के रूपों के सम्बन्ध मे वही बात लागू समझनी चाहिए जिसका निर्देश इस सर्वनाम के अपादानकारक-रूपो के सम्बन्ध में विचार करते हुए किया गया है। इस कारक में भी कोई विशेष निश्चित रूप नहीं मिलता और प्रायः सर्वनाममूलक क्रियाविशेषणों से ही काम चलाया गया है।

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से का, को, कासु, काको, केहि, काह तथा कौन अथवा कवन विशेष रूप से विचारणीय हैं। इनमें का, के तथा को का सम्बन्ध सस्कृत प्रश्नवाचक सर्वनाम 'किम्' की प्रथमा विभक्ति के पुल्लिंग एकवचन रूप 'कः' से है।

कासु का सम्बन्ध स्पष्टतः प्राकृत कस्स ∠ स० कस्य से है।

केहि और केहिं—इनकी व्युत्पत्ति विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' और 'हिं' से युक्त सज्ञा-रूपों की भाँति समझनी चाहिये।

कौन, कवन—इन रूपों का सम्बन्ध प्रा० कवण, कोउण ∠ स० कः पुनः से माना जाता है।❀

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के अन्तर्गत इसके जिन रूपों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है, उनमें एकवचन के अन्तर्गत जो, जोइ, जोई, जेहि और जेहिं तथा बलात्मक रूपों में जेऊ, बहुवचन एव आदरार्थ में जे, जिन और जिन्ह उल्लेखनीय हैं, उदाहरणार्थ :—

(क) जो :—जो नहि करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।[४]
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ।[५]
(ख) जोइ :—तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।[६]
रूप न जाइ बखानि जान जोइ जोहइ।[७]
(ग) जोइ का ही दीर्घस्वरात रूप 'जोई' :—
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई।[८]
(घ) जेहि :—जेहि दीन्ह अस उपदेस बरेहु कलेस करि बर बावरो।[९]
संग लिए बिधुबैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है।[१०]
जेहि किये जीव निकाय बस रसहीन दिन दिन प्रति भई।[११]

१ रा० ५, २१ २ रा० ७, ७० क ३ रा० २, १४
४ रा० १, ११३ ५ पा० म० ६७ ६ वि० १०२
७ पा० म० १३ ८ रा० १, ८ ९ पा० म० ५४
१० क० २, १६ ११ वि० १३६
❀ वर्मा—हिं० भा० इ० ९ २१७

(च) जेहि :—पारबती निरमयउ *जेहिं* सोइ करिहि कल्यान।[1]

(छ) जे :— जे पर भनिति सुनत हरषाही। ते वर पुरुष बहुत जग नाही।[2]

ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किए।[3]

जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावइँ हो।

ऋद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावइँ हो।[4]

(ज) जिन :—*जिन* बाँधे सुर असुर नाग नर प्रवल करम की डोरी।[5]

राजहुँ काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को *जिन* कान कियो है।[6]

(झ) जिन्ह :—*जिन्ह* बरने रघुपति गुन ग्रामा।[7]

मथुरा बड़ो नगर नागर जहँ *जिन्ह* जातहि जदुनाथ पढ़ाए।[8]

कर्मकारक के अन्तर्गत विशेष रूप से जो, जाहि, जाही, जेहि, जेही, जोइ, जा कहुँ तथा जे और जिन्हहिं (अन्तिम दो बहुवचन-रूप हैं) उल्लेखनीय हैं; उदाहरणार्थ :—

(क) जो :—*जो* बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलै जयमाल।[9]

अस सुकृती नरनाहु *जो* मन अभिलाषिहि।[10]

जो सुमिरे गिरि मेरु सिला कन होत अजा खुर वारिधि बाढ़े।[11]

(ख) जाहि :—सुमिरत *जाहि* मिटइ अग्याना।[12]

'जाहि' का ही दीर्घस्वरात रूप 'जाही' :—

राम कृपा करि चितवा *जाही*।[13]

काम भुअंग डसत जब *जाही*।[14]

(ग) जेहि:—सोइ जानइ *जेहि* देहु जनाई।[15]

जेहि गाये सिधि होइ परम निधि पाइअ हो।[16]

सो कि दोष गुन गनइ जो *जेहि* अनुरागइ।[17]

'जेहि' का दीर्घस्वरान्त रूप 'जेही' :—

राम सुकृपा बिलोकहि *जेही*।[18]

(घ) जोइ :—कामतरु राम नाम *जोइ जोइ* माँगिहै।

तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै।[19]

(च) जा कहुँ :—सारद स्रुति सेषा रिषय असेषा *जा कहुँ* कोउ नहिं जाना।[20]

---

१ रा० १, ७१	२ रा० १, ८	३ पा० मं० २७
४ रा० ल० न० २०	५ वि० ६८	६ क० २, २०
७ रा० १, १४	८ श्रीकृ० ५०	९ रा० १, १३१
१० जा० मं० ७६	११ क० २, ५	१२ रा० १, ५२
१३ रा० ५, ५	१४ वि० १२७	१५ रा० २, १२७
१६ रा० ल० न० १	१७ पा० मं० ६७	१८ रा० १, ३६
१९ वि० ७०	२० रा० १, १८६	

(छ) जे :— जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए।[१]
तुलसिदास प्रभु कहौं ते बातैं जे कहि भजे सवेरे।[२]

(ज) जिन्हहिं :—*जिन्हहिं* निरखि मग साँपिनि बीछी।[३]

संप्रदानकारक के रूपों की सख्या भी कम नहीं है। इसमे प्रयुक्त रूप प्रायः कर्मकारकरूपों से मिलते जुलते हैं। इनमें प्रमुखतः जा कहँ, जा कहुँ, जेहि कहुँ, जेहि लगि, जेहि लागि, जेहि लागी, जेहि हेतु, जेहि हेतू, जिन्हहिं, जिन्ह के, जिन कहँ, जिनको और जिन्ह लगि (अंतिम पाँच बहुवचन-रूप हैं) उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:—

(क) जा कहँ :—*जा कहँ* सनकादि संभु नारदादि सुक मुनीन्द्र,
करत बिबिध जोग काम क्रोध लोभ जारी।[४]

(ख) जा कहुँ '— तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य व्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धरम न एहि सम आन।[५]

(ग) जेहि कहुँ :— दुइ माथ केहि रतिनाथ *जेहि कहुँ* कोपि कर धनु सर धरा।[६]

(घ) जेहि लगि '—*जेहि लगि* राम धरी नर देहा।[७]

(च) जेहि लागि :—*जेहि लागि* बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।[८]

(छ) जेहि लागी :—करहिं जोग जोगी *जेहि लागी*।[९]

'लागी' 'लागि' का ही छन्दसुविधार्थ दीर्घस्वरान्त किया हुआ रूप है।

(ज) जेहि हेतु :—जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार *जेहि हेतु*।[१०]

(झ) जेहि हेतू .—सो अवतार भयउ *जेहि हेतू*।[११]

'हेतू' को भी 'हेतु' से सर्वथा भिन्न न समझ कर छन्दसुविधार्थ उसी का रूपान्तर जानना चाहिए।

(ञ) जिन्हहिं :—सुनै तिन्ह की कौन तुलसी *जिन्हहिं* जीति न हारि।[१२]

(ट) जिन्ह के :—*जिन्ह के* सतसंगति अति प्यारी।[१३]

(ठ) जिन्ह कहँ :—*जिन्ह कहँ* बिधि सुगति न लिखी भाल।[१४]

(ड) जिनको ।:—*जिनको* जोगींद्र मुनिबृंद देव देह भरि
करत बिराग जप जोग मन लाय कै।[१५]

---

१ वि० ८० २ श्रीकृ० ३ ३ रा० २, २६२
४ गी० १, २२ ५ रा० ७, ४८ ६ रा० १, ८४
७ रा० १, १२४ ८ रा० १, १८६ ९ रा० १, ३४१
१० रा० १, ३५ ११ रा० १, १४१ १२ श्रीकृ० ५३
१३ रा० ३, १२८ १४ वि० १३ १५ क० २, ६

(ढ) जिन्ह लगि :—*जिन्ह लगि* निज परलोक बिगार्यो ते लजात होत ठाढ़ ठायँ ।[1]

करणकारक के अंतर्गत जाहि, जेहि, जाते, जाहि सन, जेहि सन, जेहि तें, जाही सों और जिन्ह तें (बहुवचन-रूप) विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। 'जाही सों' को बलात्मक रूप भी कहा जा सकता है। उक्त प्रयोगों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(क) जाहि :—*जाहि* दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोई ।[2]

(ख) जेहि :—फिरि गर्भगत आवर्त संसृति चक्र *जेहि* होइ सोइ कियो ।[3]

(ग) जाते :—*जाते* छूटै भव भेद ज्ञान ।[4]

(घ) जाहि सन :—जेहि कर मन रम *जाहि सन* तेहि तेही सन काम ।[5]

(च) जेहि सन :—सपनेहुँ *जेहि सन* होइ लराई ।[6]

(छ) जेहि तें :— *जेहि तें* कछु निज स्वारथ होई ।[7]

(ज) जाही सों :—बुधि बल सकिअ जीति *जाही सों* ।[8]

(झ) जिन्ह तें :—*जिन्ह तें* भै नरसृष्टि अनूपा ।[9]

अपादानकारक के रूपों की संख्या नगण्य ही समझनी चाहिए। उसके केवल दो रूपों का उल्लेख प्रसगवश किया जा रहा है—जाते और जेहि ते; उदाहरणार्थ :—

जाते :— तुलसी तकु तासु सरन *जाते* सब लहत ।[10]

जेहि ते :— *जेहि तें* नीच बड़ाई पावा ।[11]

सम्बन्धकारक के रूपों में एकवचन के अतर्गत जा, जिसु, जासु, जासू, जाका, जाकी, जाके, जाकें, जाको, जाकर, जाकरि, जेहि के, जेहि कर तथा बहुवचन एवं कहीं कहीं आदरार्थ के अन्तर्गत जिनकी, जिनके, जिन्ह की, जिन्ह के, जिन्ह कें, जिन्ह कै (जिसका दूसरा रूप 'जिन्ह कइ' भी रामचरितमानस में कहीं-कहीं व्यवहृत हुआ है) तथा जिन्ह कर प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

(क) जा :— *जा बल* सीस धरत सहसानन ।[12]

(ख) जिसु :—सब सिधि सुलभ जपत *जिसु* नामू ।[13]
श्री बिमोह *जिसु* रूप निहारी ।[14]

(ग) जासु :—अजहुँ *जासु* डर सपनेहुँ काऊ। बसहिं राम सिय लखन बटाऊ।[15]
सीय सुता भै *जासु* सकल मंगलमय ।[16]
जासु भवन अनिमादिक दासी ।[17]

(घ) जासू :— बड़ रखवार रमापति *जासू* ।[18]

१	वि० ८३	२	वि० ७८	३	वि० १३६
४	वि० ६४	५	रा० १, ८०	६	रा० ४, ७
७	रा० ७, ९५	८	रा० ६, ६	९	रा० १, १४२
१०	वि० १३३	११	रा० १, २	१२	रा० ५, २१
१३	रा० १, ११०	१४	रा० १, १३०	१५	रा० २, १२४
१६	जा० मं० ७	१७	वि० ६	१८	रा० १, १२६

'जासू' को 'जासु' का ही छंद सुविधार्थ दीर्घस्वरान्त किया हुआ रूप समझना चाहिए।

(च) जाका :—दंड समान भयउ जस *जाका*।[१]

(छ) जाकी :—*जाकी* ओर विलोकहि मन तेहि साथहि हो।[२]
जाकी माया बस विरंचि सिव नाचत पार न पायो।[३]

(ज) जाके :— सिव विरंचि सुर *जाके* सेवक।[४]
नारि सुकुमारि संग *जाके* अंग उबटि कै
बिधि बिरचे हैं वरूथ विद्युच्छटनि के।[५]
मूरति की सूरति कही न परै तुलसी पै
जानै सोइ *जाके* उर कसकै करक सी।[६]

(झ) जाकें :— ग्यान बिराग हृदयँ नहि *जाकें*।[७]
जाकें चरन विरंचि सेइ सिधि पाई संकर हूँ।[८]

(ञ) जाको :— अंचवाइ दीन्हें पान गवने वास जहँ *जाको* रह्यो।[९]
जाको नाम लिए छूटत भव जनम-मरन-दुखभार।[१०]
भूप मंडली प्रचंड चंडीस कोदंड खंड्यो
चड बाहुदंड *जाको* ताही सो कहतु हौं।[११]

(ट) जाकर :— *जाकर* नाम सुनत सुभ होई।[१२]

(ठ) जाकरि :—*जाकरि* तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई।[१३]

(ड) जेहि के :—ए *जेहि के* सब भाँति सनेही।[१४]
तुलसी *जेहि के* पदपंकज ते प्रगटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।[१५]
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै।[१६]

(ढ) जेहि कर :—*जेहि कर* मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।[१७]

(ण) जिनकी :—तुलसी *जिनकी* धूरि परसि अहिल्या तरी
गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।[१८]

(त) जिनके :—*जिनके* भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी।[१९]

---

१ रा० १, १७ २ रा० ल० न० ६ ३ वि० ६८
४ रा० ६, ६३ ५ क० २, १६ ६ गी० १, ४२
७ रा० १, १२६ ८ वि० ८६ ९ रा० १, ९९
१० वि० ६८ ११ क० १, १८ १२ रा० १, १९३
१३ रा० १, १८४ १४ रा० २, १२२ १५ क० २, ६
१६ वि० ११६ १७ रा० १, ८० १८ क० २, ९
१९ वि० ५

(थ) जिनको :—*जिनको* पुनीत वारि धारे सिर पै पुरारि
त्रिपथगामिनि जसु वेद कहैं गाइ कै।[१]

(द) जिन्ह की :—तिन्ह की छठी मंजुलमठी जग सरस *जिन्ह की* सरसई।[२]

(ध) जिन्ह के :—*जिन्ह के* चरन सरोरुह लागी। करत विविध जप जोग बिरागी।[3]
लीन्ह जाइ जग जननि जनम *जिन्ह* के घर।[४]
तुलसी सराहैं भाग तिन्ह के *जिन्ह* के हिए
डिंभ राम रूप अनुराग रंग रए हैं।[५]

(न) जिन्ह कै :—*जिन्ह कै* लहहि न रिपु रन पीठी।[६]
अजहुँ गाव श्रुति *जिन्ह कै* लीका।[७]

(प) जिन्ह कइ :—नीति निपुन *जिन्ह कइ* जग लीका।[८]

(फ) जिन्ह कर :—*जिन्ह कर* मन इन्ह सन नहिं राता।[९]

(व) जिन्ह केरे :—परहित हानि लाभ *जिन्ह केरे*।[१०]

अधिकरणकारक के अन्तर्गत एकवचन में जेहि पर, जेहि महुँ और बहुवचन में जिन्ह पर तथा जेन्ह माहीं उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

(क) जेहि पर :—*जेहि पर* कृपा न करहिं पुरारी।[११]

(ख) जेहि महुँ :—*जेहि महुँ* आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।[१२]

(ग) जिन्ह पर :—ममता *जिन्ह पर* प्रभुहि न थोरी।[१३]

(घ) जेन्ह माहीं :—मुनि मन मधुप बसहिं *जेन्ह माहीं*।[१४]

व्युत्पत्ति—सम्बन्धवाचक सर्वनाम 'जो' के लगभग सभी रूपों का सम्बन्ध संस्कृत यत् के विभिन्न रूपो से जोड़ा जा सकता है; जैसे जिसु, जासु < प्रा० जिस्सु, जस्स < सं० यस्य। 'जिन्ह' का सम्बन्ध सं० षष्ठी बहुवचन के कल्पित रूप यानाॐ (सं० येषां) से है। जेहि और जाहि जैसे रूपों का निर्माण 'हि' प्रत्यय के योग से हुआ है जिसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में पीछे संज्ञाओं की कारकरचना के अंतर्गत विचार हो चुका है।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के अंतर्गत प्रधान रूप से कोउ, कोइ, कोई, कोय, काहु, काहुँ, एक, इक, कोऊ और काहू (अंतिम दोनो बलात्मक रूप हैं) उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं :—

(क) कोउ :— *कोउ* सप्रेम बोली मृदुबानी।[१५]
कोउ कह नर नारायन हरि हर कोउ।[१६]

---

१ क० २, ६ — २ गी० १, ५ — ३ रा० १, २२६
४ पा० मं० ७ — ५ गी० १, ११ — ६ रा० १, २३१
७ रा० १, १४२ — ८ रा० २, १३१ — ९ रा० १, २०४
१० रा० १, ४ — ११ रा० १, १२८ — १२ रा० ७, ६१
१३ रा० १, १६ — १४ रा० १, १४८ — १५ रा० १, २२१
१६ बरवै० २२

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।[1]

(ख) कोइ :—निरगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं *कोइ*।[2]

(ग) कोई :—बिनु महि गंध कि पावइ *कोई*।[3]

जलज नयन गुन अयन मयन रिपु महिमा जान न *कोई*।[4]

(घ) कोय :—तुलसी कहत सुनत सब समुझत *कोय*।[5]

(च) काहु :—*काहु* न कीन्हो सुकृत सुनि मुनि मुदित नृपहि बखानहीं।[6]

(छ) काहुँ :—हमहि आजु लगि कनउड़ *काहुँ* न कीन्हेउ।[7]

कहेउ भूप मोहिं सरिस सुकृत किए *काहुँ* न।[8]

अस तप *काहुँ* न कीन्ह भवानी।[9]

(ज) एक :—*एक* कलस भरि आनहिं पानी।[10]

एक चलहि एक बीच एक पुर पैठहि।[11]

(झ) इक :—*इक* करहि दाप न चाप सज्जन-बचन जिमि टारे टरै।[12]

उपर्युक्त 'एक' और 'इक' मूलत: संख्यावाचक विशेषण के रूप होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से ही यहाँ पर अनिश्चयवाचक सर्वनाम के अंतर्गत लिए गए हैं।

(ञ) कोऊ :—सुनि राजइ कदराइ न *कोऊ*।[13]

दीन को दयालु दानि दूसरो न *कोऊ*।[14]

(ट) काहू :—अस तप सुना न दीख कबहुँ *काहू* कहूँ।[15]

धरी न *काहू* धीर सबके मन मनसिज हरे।[16]

कर्मकारक के अन्तर्गत काहु, काहू, केही और केहू प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं; उदाहरणार्थ :—

(क) काहु :—अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ *काहु*।[17]

(ख) काहू :—तौ कत दोष लगाइय *काहू*।[18]

(ग) केही :—जनि तेहि लागि बिदूषहि *केही*।[19]

(घ) केहू :—काहुहि लात चपेटन्हि *केहू*।[20]

सम्प्रदानकारक के अंतर्गत 'काहु' और 'काहू को' उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ :—

(क) काहु :—सिर कप इंद्रिय सक्ति प्रतिहत बचन *काहु* न भावई।[21]

---

१ वि० १११ २ रा० ७, ७२ ३ रा० ७, ६०

४ वि० ६ ५ बरवै० ६३ ६ जा० म० १८

७ पा० म० ८१ ८ जा० म० १७ ९ रा० १, ७५

१० रा० २, ११५ ११ जा० म० १२ १२ जा० मं० ६६

१३ रा० २, १६१ १४ वि० ७८ १५ पा० म० ४४

१६ रा० १, ८५ १७ रा० १, १६१ २१ रा० १, ६७

(ख) काहू को :—जग सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत
सबको दाहिनो दीनबन्धु *काहू* को न बाम ।[1]

सम्बन्धकारक के रूपों में काहू, काहुक, काहू की, काहू के, काहू कै, काहू को और काहू केरो उल्लेखनीय हैं, उदाहरणार्थ :—

(क) काहू :— कोउ मुखहीन विपुल मुख *काहू* ।[2]

(ख) काहुक :— अपने चलत न आजु लगि अनभल *काहुक* कीन्ह ।[3]

(ग) काहू की :—*काहू* की जौं सुनहिं बड़ाई ।[4]

(घ) काहू के :—*काहू* के गृह ग्राम न गयऊँ ।[5]

(च) काहू कै :—जब *काहू* कै देखहिं बिपती ।[6]

(छ) काहू को :—जो अन्याउ करहिं *काहू* को ते सिसु मोहि न भावहिं ।[7]

(ज) काहू केरो:—मानत नाहि निगम अनुसासन त्रास न *काहू केरो* ।[8]
तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरो और न *काहू केरो* ।[9]

अपादान और अधिकरणकारक के रूपों का प्रायः अभाव ही दृष्टिगोचर होता है ।

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपर्युक्त सम्बन्धकारकरूपों के अंतर्गत 'कोई' तथा 'काहु' विशेष रूप से विचारणीय हैं ।

'कोई' की व्युत्पत्ति स० कोऽपि 7 प्रा० कोवि से मानी जाती है । 'काहु' का सम्बन्ध सं० 'कः खलु' से जोड़ा जा सकता है ।

निजवाचक सर्वनाम

कर्ताकारक के रूपों के अन्तर्गत आप, आपु, आपुन और आपुनु प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं । उदाहरणार्थ :—

(क) आप :—एकहि एक सिखावत जपतै *आप* ।[10]
आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो ।[11]

(ख) आपु :—भंजेउ राम *आपु* भव चापू ।[12]
करहि *आपु* सिर धरहिं आन के वचन विरंचि हरावहि ।[13]
आपु गये अरु घालहिं आनहिं ।[14]

(ग) आपुन :—सोइ सोइ भाव देखावइ *आपुन* होइ न सोइ ।[15]

(घ) आपुनु :—*आपुनु* चलेउ गदा कर लीन्ही ।[16]

१	वि० ७७	२	रा० १, ६३	३	रा० २, २०
४	रा० ७, ४०	५	रा० १, १६७	६	रा० ७, ४०
७	श्रीकृ० ४	८	वि० १४३	९	वि० १४५
१०	बरवै० ६४	११	वि० १४३	१२	रा० १, २४
१३	श्रीकृ० ४	१४	रा० ७, ४०	१५	रा० ७, ७२ ख
१६	रा० १, १८२				

कर्मकारक के अतर्गत 'आपुहि' का प्रयोग अधिकता से हुआ है। कहीं-कहीं कर्ताकारकरूप 'आपु' भी कर्मकारक में प्रयुक्त हुआ है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

(क) आपुहि :—*आपुहि* सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।[१]
आपुहिं परम धन्य करि मानहिं।[२]

(ख) आपु :—निंदहिं *आपु* सराहहि मीना।[३]
मनसहि समरपेउ *आपु* गिरिजहि बचन मृदु बोलत भये।[४]

सम्प्रदानकारक मे केवल 'आपु' तथा करणकारक में 'आपु तें' का प्रयोग हुआ है। अपादानकारक में भी 'आपु तें' का ही व्यवहार हुआ है। उदाहरणार्थ :—

१. सम्प्रदानकारक :—महाराज लाज *आपु* ही निज जाँघ उघारे।[५]
२. करणकारक :—खग सबरि निसिचर भालु कपि किये *आपु तें* वंदित बड़े।[६]
३ अपादानकारक —अधिक *आपु तें* आपनो सुनि मान सही ले।[७]

संबन्धकारक के रूपों के अन्तर्गत आपन, आपनि, अपनी, आपनी, आपुन, अपने, आपने, अपनो, आपनो, अपना, अपनियाँ और अपनिहि (बलात्मक रूप) उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

(क) आपन :—तब *आपन* प्रभाउ बिस्तारा।[८]
समुझि कठिन पन *आपन* लाग बिसूरन।[९]
जेहि अनुरागु लागु चित सोइ हितु *आपन*।[१०]
आपन चरित कहा हम गाई।[११]

(ख) आपनि :—*आपनि* समुझि कहउँ अनुगामी।[१२]
देखहु *आपनि* मूरति सिय कै छाँह।[१३]

(ग) अपनी :—मैं *अपनी* दिसि कीन्ह निहोरा।[१४]
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि।[१५]
तुलसी हित अपनो *अपनी* दिसि निरुपधि नेम निबाहैं।[१६]

(घ) आपनी :—कृपा भलाई *आपनी* नाथ कीन्ह भल मोर।[१७]
करहि अनभले को भलो *आपनी* भलाई।[१८]
ता पीछे यह सिद्धि *आपनी* जोग कथा बिस्तारो।[१९]

---

१ रा० ५, ६ २ रा० २, १२० ३ रा० २, ८६
४ पा० मं० ४५ ५ वि० १४७ ६ वि० १३५
७ वि० ३२ ८ रा० १, ८४ ९ जा० मं० ५२
१० पा० मं० ३७ ११ रा० ४, २ १२ रा० २, २२७
१३ बरवै० १७ १४ रा० १,५ १५ पा० मं० १५०
१६ वि० ६५ १७ रा० २, २९८ १८ वि० ३५
१९ श्रीकृ० २२

(च) आपुन :—*आपुन* मंद कथा सुभ पावन।[1]

(छ) अपने, आपनि :—*अपने* मुहँ तुम्ह *आपनि* करनी।[2]

सोइ गति मरनकाल *अपने* पुर देत सदा सिव सवहि समान।[3]

नृत्य करहिं नट नटी नारि नर *अपने अपने अपने* रंग।[4]

(ज) आपने :—ज्यो गच कॉच विलोकि सेन जड़ छाहँ *आपने* तन की।[5]

तुम्हरे कहत *आपने* समुझत वात सही उर आनी।[6]

सों न कहा जो कियो सुजोधन अवुध *आपने* मान जरै।[7]

(झ) अपनो :—तुलसी हित *अपनो* अपनी दिसि निरुपधि नेम निवाहैं।[8]

महरि तिहारे पायँ परौ *अपनो* व्रज लीजै।[9]

(ञ) आपनो :—अधिक आपुते *आपनो* सुनि मान सही ले।[10]

जनक सदसि जेते भले भले भूमिपाल

किये वलहीन बल *आपनो* बढ़ायो है।[11]

अति अपमान विचारि *आपनो* कोपि सुरेस पठाये।[12]

(ट) अपना :—सीतहिं सेइ करहु हित *अपना*।[13]

(ठ) अपनियाँ :—तुलसिदास प्रभु देखि मगन भईं

प्रेम विवस कछु सुधि न *अपनियाँ*।[14]

'अपनियाँ' शब्द में-'इयाँ' का योग वहुत कुछ गीत की टेकपूर्ति के लिए हुआ है।

(ड) अपनिहि :—*अपनिहि* मति विलास अकास महँ चाहत सियनि चलाई।[15]

अधिकरणकारक के रूपो का व्यवहार सामान्य बोलचाल में भी इस सर्वनाम के अन्तर्गत बहुत कम दिखाई देता है। तुलसी की शब्दावली के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है क्योंकि ऐसे रूपों का व्यवहार उसमें सामान्यतः नहीं मिलता।

व्युत्पत्ति—'आप' की व्युत्पत्ति आदरार्थक मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम-रूपों के विवेचन के अन्तर्गत सं० आत्मन् 7 प्रा० अप्पा, आपा से सिद्ध की गई है। यही बात निजवाचक 'आप' के सम्बन्ध में भी सत्य है। अर्थ की दृष्टि से वस्तुतः यह निजवाचक-रूप ही संस्कृत के आत्मन् अथवा प्राकृत के अप्पा अथवा आपा के समीप पड़ता है। इसी प्रकार आपन, आपनि, अपनो आदि सम्बन्धकारकरूपो का संबन्ध प्राकृत अप्पाणो 7 अप० अप्पाणु जैसे रूपों से वडी सरलता के साथ जोड़ा जा सकता है।

---

१ रा० ६, ७८   २ रा० १, २७४   ३ वि० २
४ गी० १, २   ५ वि० ६०   ६ श्रीकृ० ४७
७ वि० १३७   ८ वि० ६५   ९ श्रीकृ० ७
१० वि० ३२   ११ क० १, १०   १२ श्रीकृ० १८
१३ रा० ५, ११   १४ गी० १, ३१   १५ श्रीकृ० ५१

क्रिया

तुलसी की भाषा मे अनेक बोलियो के रूपो का समावेश होने के कारण उसके अतर्गत प्रयुक्त क्रियारूपो का स्वरूप भी अत्यत जटिल एव बहुमुखी हो गया है। यहाँ पर हम धातुओं की निर्माणकला, सहायक क्रिया, कृदत, सयुक्त क्रिया तथा प्रेरणार्थक क्रिया के रूपों का विधान, क्रियाओ की कालरचना और वाच्यभेद इत्यादि कतिपय सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए तुलसी की रचनाओ के अतर्गत उपलब्ध क्रियारूपो का सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

धातुओं के निर्माण के सबध में तुलसी ने पर्याप्त स्वतत्रता से काम लिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने प्राय. सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओं में परपरा से प्रयुक्त होने वाली धातुओं का ही मूल अथवा विकृत रूप में व्यवहार किया है तथापि अनेक स्थलो पर सज्ञा और विशेषण आदि अन्य शब्द-भेदों से तथा नाद के अनुकरण पर एक से एक नवीन क्रियारूपों का गढ़ लेना और उन्हें स्वाभाविक प्रवाह के साथ प्रयुक्त कर देना तुलसी की मौलिक प्रतिभा एव सूझ के साथ ही साथ उनकी शास्त्रीय प्रौढ़ता का परिचायक है।

सक्षेप में हम इन धातुओं का वर्गीकरण निम्नलिखित ६ रूपो में कर सकते है :—

(क) वे धातुएँ जो सस्कृत से गृहीत है और जिनमें केवल कुछ ही स्थलो पर नाम-मात्र के लिए विकार आ गया है, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'सृजति' 'पालति', 'हरति' और 'राजत' शब्दों के अतर्गत क्रमश. 'सृज', 'पाल', 'हर' और 'राज' धातुओं की स्थिति :—

> जो *सृजति* जगु *पालति* *हरति* रुख पाइ कृपानिधान की।[1]
> *राजत* राजसमाज महुँ कोसलराज किसोर।[2]

(ख) वे धातुएँ जो न्यूनाधिकाश में प्राकृत अथवा अपभ्रश की धातुओ से गृहीत हैं, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'बोल्लहिं', 'अलुज्झि' तथा 'जुज्झहिं' के अतर्गत क्रमश. 'बोल्ल', 'अलुज्झ' और 'जुज्झ' धातुओं की स्थिति :—

> *बोल्लहिं* जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिन धावहीं।[3]
> खप्परिन्ह खग्ग *अलुज्झि* *जुज्झहि* सुभट भटन्ह ढहावहीं।[4]

(ग) वे धातुएँ जो ठेठ जनभाषा से प्रभावित हैं जैसे निम्नलिखित पक्तियो के अतर्गत प्रयुक्त 'जोगवहिं' और 'निचोरि' के भीतर 'जोगव' तथा 'निचोर' धातुओं की स्थिति :—

> *जोगवहिं* प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे।[5]
> करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम *निचोरि*।[6]

---

१ रा० २, १२६ | २ रा० १, २४२ | ३ रा० ६, ८८
४ रा० ६, ८८ | ५ रा० २, १४२ | ६ रा० २, २५८

(घ) संस्कृत-तत्सम संज्ञाओं अथवा तद्भव संज्ञाओं से बनी हुई धातुएँ जैसे 'जन्म' से 'जामा', 'संतोष' से 'संतोषे', 'आदर' से 'आदरहिं' तथा अकाज से 'अकाजेउ' का निर्माण; इन रूपों का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में मिलेगा :—

ऊसर बरषइ तृन नहिं *जामा*।[1]
मन *संतोषे* सबहि के जहँ तहँ देहिं असीस।[2]
अघ अवगुन छमि *आदरहि* समुझि आपनी ओर।[3]
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहु राजु *अकाजेउ* आजू।[4]

इसी प्रकार की अनेक संज्ञामूलक धातुएँ संकोचना, प्रससना, अनंदना, उपदेसना, और त्रासना इत्यादि तुलसी की भाषा में प्रचुरता से प्रयुक्त हुई हैं जिनका विश्लेषण यहाँ पर संभव नहीं है।

(च) विशेषणों से भी क्रियाएँ बनाई गई हैं यद्यपि इनकी संख्या संज्ञामूलक क्रिया रूपों से कम है; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'अधिकाति' और 'विरुद्धे' जो क्रमशः 'अधिक' और 'विरुद्ध' से बनी हैं :—

उमगी अवध अनंद भरि अधिक अधिक *अधिकाति*।[5]
तैं सुर नर मुनि नाग *विरुद्धे*।[6]

(छ) क्रिया विशेषणों तथा अन्य शब्दों से बनी हुई धातुओं का प्रयोग सामान्यतः नहीं मिलता परंतु नाद के अनुकरण पर बनी हुई धातुओं का एक भिन्न वर्ग माना जा सकता है जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त कटकटान, डगमगानि, घुरघुरात जो क्रमशः कटकटाना, डगमगाना और घुरघुराना आदि नादसूचक शब्दों से संबंधित हैं :—

कटकटान कपि कुंजर भारी।[7]
डगमगानि महि दिग्गज डोले।[8]
घुरघुरात हय आरौ पाएँ।[9]

सहायक क्रिया

धातु-निर्माण के विषय में विचार करने के पश्चात् जब हम तुलसी की भाषा में सहायक क्रियाओं के स्वरूप का विश्लेषण करते हैं तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम इस बात पर जाता है कि आधुनिक हिंदी की साहित्यिक बोली (खडीबोली में व्यवहृत सहायक क्रियारूप 'होना' जिसके रूप विभिन्न अर्थों और कालों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं, तुलसी में भी प्रायः इसी रूप में सुरक्षित हैं। इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि तुलसी की भाषा में अवधी और ब्रज का प्राधान्य होने के कारण उसमें सहायक क्रियाओं का विधान भी प्रायः इन्हीं बोलियों के अनुरूप हुआ है। प्रधानतः इसके दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं :—

---

१ रा० ४, १५ २ रा० १, १६६ ३ रा० २, २३२
४ रा० २, २४७ ५ रा० १, ३५६ ६ रा० ६, ६४
७ रा० ६, ३२ ८ रा० १, २५४ ९ रा० १, १५६

(१) जहाँ पर सहायक क्रिया अपना स्वतत्र अर्थ रखती है।

(२) जहाँ वह किसी अन्य क्रियारूप की सहायक मात्र होकर आती है।

आगे कुछ प्रमुख सहायक क्रियाओं में उपलब्ध विशेषताओं का सक्षिप्त निर्देश किया जा रहा है।

वर्तमाननिश्चयार्थ के अतर्गत अन्यपुरुप एकवचन के लिए प्रधानतया है, हइ, अहइ, अहै, अहई, आही और अहहिं (आदरार्थ) का व्यवहार हुआ। 'है' और 'अहइ' से मिलते-जुलते अन्य रूपों की विभिन्नता उच्चारणभेद तथा अनुलेखन-पद्धति के भेद के परिणामस्वरूप जाननी चाहिए। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(क) है :— है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ।[१]
भयउ न होइहि है न जनक सम नरवइ।[२]

(ख) हइ :— हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई।[३]
मुनि हँसि कहेउ जनक यह मूरति सो हइ।[४]

(ग) अहइ :— *अहइ* कुमार मोर लघु भ्राता।[५]

(घ) अहै :— बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ विदित गति सबकी *अहै*।[६]

(च) अहइ :— प्रभु आयसु जेहि कहँ जस *अहई*।[७]

(छ) आही :— अपर देव अस कोउ न *आही*।[८]

(ज) अहहिं :— राम अहहि दसरथ के लछिमन आन क हो।[९]

इस काल में अन्यपुरुप बहुवचन के अन्तर्गत 'हहिं', 'होहिं' तथा 'हैं' का व्यवहार उल्लेखनीय है, उदाहरणार्थ :—

हहि पुरारि तेउ एक नारिव्रतपालक।[१०]
मुकुट न *होहिं* भूप गुन चारी।[११]
दै विदा लै गये जनकपुर हैं गुरु सग सुखारी।[१२]

मध्यमपुरुष के अन्तर्गत 'हसि', 'अहसि' और 'अहहू' का प्रयोग उल्लेखनीय है उदाहरणार्थ :—

का अनमन *हसि* कह हँसि रानी।[१]
को तू *अहसि* सत्य कहु मोही।[२]
ससय सील प्रेम बस *अहहू*।[३]

---

१ रा० २, १३ — २ जा० म० ७ — ३ रा० २, १७४
४ जा० म० १०७ — ५ रा० ३, १७ — ६ रा० १, ३३६
७ रा० ५, ५६ — ८ रा० १, २२० — ९ रा० ल० न० १२
१० पा० म० १०४ — ११ रा० ६, ३८ — १२ गी० १, १०८
१३ रा० २, १३ — १४ रा० २, १६२ — १५ रा० २, १८१

उत्तमपुरुष के अन्तर्गत 'अहउँ', 'अहऊँ' और 'हौं' का प्रचुरता के साथ व्यवहार हुआ है किन्तु इनका प्रयोग सहायक के रूप में ही हुआ है; अन्य उपर्युक्त रूपों की भाँति स्वतन्त्र अर्थ मे इनका व्यवहार प्रायः नहीं हुआ है। इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

तब लगि बैठ अहउँ बट छाहीं।[13]
नीति धरम मै जानत अहऊँ।[14]
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीर।[15]

इस काल में इस प्रकार के सहायक रूपों का प्रयोग अन्यपुरुष और मध्यमपुरुष के अन्तर्गत ही सहायक रूप मे (स्वतन्त्र अर्थ में नहीं) बराबर मिल जाते हैं; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों मे प्रयुक्त 'हैं' 'हहिं' और 'हहु' :—

लरिका संग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिये।[4]
कोउ कह चलन चहत हैं आजू।[5]
जानति हहु बस नाह हमारे।[6]

व्युत्पत्ति—है, अहइ, आही, अहसि अहउँ और 'हौं' आदि सभी रूपों का सम्बन्ध संस्कृत √ अस् से माना जाता है जैसे :—

है, अहइ, आही ∠प्रा० अत्थि ∠ स० अस्ति।
अहसि, हहु, अहहू ∠सं० असि।
अहऊँ, हौं ∠प्रा० अम्हि ∠सं० अस्मि।

इस विषय में टर्नर का मत है कि इन्हें आ + √क्षि से मानना अधिक युक्ति-सगत है।

भूतनिश्चयार्थ के रूप तुलसी की भाषा में बहुत अल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें 'रहा', 'रहे', 'रही', 'भा', भो, भौ, भइ, भई, मे, भये, भईं, भई (अंतिम चारो बहुवचन रूप हैं) आदि रूपों का व्यवहार हुआ है। यत्रतत्र 'हुते' और 'हुतो' का प्रयोग भी मिल जाता है परन्तु इसे व्यापक प्रयोगो के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। उक्त सारे रूपों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(क) रहा :—रहा बालि बानर मैं जाना।[7]
(ख) रहे :—रहे तुम्हउ बल बिपुल बिसाला।[8]
हमहू उमा रहे तेहि संगा।[9]
(ग) रही :—टूट्यो सो न जुरैगो सरासन महेस जू को
रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही।[10]

---

१ रा० १, ५२	२ रा० ६, २२	३ रा० २, १४१
४ क० १, ६	५ रा० १, ३२५	६ रा० २, १४
७ रा० ६, २१	८ रा० ६, ३६	९ रा० ६, ८१
१० क० १, १६		

व्युत्पत्ति—'रह' धातु से बने हुए इन रूपों की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। चटर्जी इस विषय में गम्भीरता से विचार करने पर भी किसी अतिम निर्णय तक नहीं पहुँच सके हैं।[*] टर्नर इसका सम्बन्ध 'रहित' जैसे शब्दों मे पाई जाने वाली √रह धातु से जोडते हैं। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इसका मौलिक अर्थ छोडना या त्यागना है परन्तु अवधी मे आकर वह इस अर्थ मे न व्यवहृत होकर उक्त अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है।

(घ) भा :—अपनी समुझि साधु सुचि को *भा*।[1]
लखि नारद नारदी उमहिं सुख *भा* उर।[2]

(च) भो :—एतो बड़ो अपराध *भो* न मन बावौ।[3]
गावत नाचत *भो* मनभावत सुख सो अवध अधिकानी।[4]

(छ) भौ :— कहा *भौ* चढाए चाप व्याह ह्वैहै बड़े
खाये बोलैं खोलैं असि चमकत चोखे है।[5]

(ज) भइ :— सो कुचालि सब कहँ *भइ* नीकी।[6]
हरिपद पंकज पाइ अचल *भइ* कर्म वचन मन हूँ।[7]

(झ) भई :— पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी *भई*।[8]

(ञ) भे :— *भे* निरास सब भूप बिलोकत रामहि।[9]
स्वारथ रहित परमारथी कहावत हैं
भे सनेह बिबस बिदेहता बिवाके हैं।[10]

(ट) भये: — *भये* प्रगट करुनासिधु संकर भाल चन्द्र सुहावनो।[11]
भये विदेह बिदेह नेह वस देह दसा बिसराये।[12]

(ठ) भईं :— उमा रमादिक सुरतिय सुनि प्रमुदित *भईं*।[13]

(ड) भई :— दिन दूसरे भूप भामिनि दोउ *भइ* सुमगलखानी।[14]

(ढ) हुते — सग सुभामिनि भाइ भलो दिन द्वै जनु औध *हुते* पहुनाई।[15]
सीवँ न चापि सको कोऊ तब जब *हुते* राम कन्हाई।[16]

(ण) हुतो — *हुतो* न साँचो सनेह मिट्यो मन को संदेह हरि परे उघरि
संदेसहु ठठई।[17]

---

* चैटर्जी . ब्रे० लै० ७६८ + टर्नर नेपाली डिक्शनरी पृ० ५३१ 'रहनु'

१	रा० २, २६१	२	पा० म० १६	३	वि० ७२
४	गी० १, ४	५	गी० १, ६३	६	रा० २, ३१७
७	वि० ८६	८	रा० १, ३२१	९	जा० म० ६४
१०	गी० १, ६२	११	पा० म० ७४	१२	गी० १, ६३
१४	क० २, २	१३	श्रीकृ० ३२	१५	जा० म० १४७
१६	गी० १,४	१७	श्रीकृ० ३६		

व्युत्पत्ति—'भा' तथा 'भा' से मिलते जुलते उक्त सभी रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत √भू से स्पष्ट है; जैसे संस्कृत भवितः* (भूत) > प्रा० भविओ > भा। 'भइ' और 'भे' आदि इसी 'भा' के विकारी रूप हैं।

'हुते' और 'हुतो' का सम्बन्ध स० √भू के भूतकालिक कृदत-रूप 'भूत' से है।

सहायक क्रियाओं के उक्त प्रमुख रूपों का निर्देश करने के पश्चात् हमारी दृष्टि एक अन्य रूप 'अछत' (जिसका अर्थ है 'होते हुए') पर भी जाती है जिसका प्रयोग तुलसी की भाषा के अंतर्गत कुछ विशिष्ट स्थलों पर हुआ है। वैसे भी यह रूप अवधी की सहायक क्रियाओं के अतर्गत एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखने के कारण उल्लेखनीय है। इस शब्द के प्रयोग के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

परसु अछत देखउँ जियत बैरी भूपकिसोर।[1]
आपु अछत जुबराज पद रामहि देउ नरेस।[2]

व्युत्पत्ति—डा० चटर्जी के मतानुसार पहाडी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी तथा पुरानी अवधी में पाई जाने वाली 'छे' से युक्त इस सहायक क्रिया की व्युत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की कल्पित धातु √ अच्छ* से हुई है।* टर्नर अन्य मतों का खंडन करते हुए इसका उद्गम स० आ + √क्षे से मानते हैं।†

उक्त रूपों के अतिरिक्त आज्ञार्थक 'होउ' (जिसका प्रयोग कहीं-कहीं विधिलिङ् का अर्थ भी रखता है), भविष्यनिश्चयार्थवाचक 'होई' और 'होब' तथा सकेतार्थवाचक 'होतेउँ' आदि रूप भी सहायक क्रियाओं के अतर्गत लिये जा सकते हैं, परन्तु उनकी कोई ऐसी भिन्न प्रवृत्ति नहीं मिलती जो अन्य क्रियाओं के रूपों से अलग रख कर देखी जा सके।

कृदन्त

कृदतों के अतर्गत निम्नलिखित विचारणीय हैं :—

१. क्रियार्थक संज्ञा २. कर्तृवाचक संज्ञा ३. वर्तमानकालिक कृदत ४. अपूर्णक्रियाद्योतक कृदत ५. भूतकालिक कृदत ६. पूर्णक्रियाद्योतक कृदंत ७. पूर्वकालिक कृदत ८. तात्कालिक कृदत ९. भविष्यकालिक कृदत। इन सभी का समावेश तुलसी के ग्रथों के अतर्गत विभिन्न रूपों में हुआ है जिनसे तुलसी की शब्द-निर्माण-कला पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आगामी विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगा कि भूतकालिक कृदत तथा भविष्यकालिक कृदंतों के रूपों को छोड़ कर, जिन पर संस्कृत का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है, अधिकाश रूप हिंदी बोलियों, विशेष कर अवधी और ब्रज, के हैं। इनका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

---

१ रा० १, २७९ २ रा० २, १

* चैटर्जी : वे० लैं० § ७६६ † टर्नर : नेपाली डिक्शनरी पृ० १९१ 'छनु'

क्रियार्थक संज्ञा के रूपों का निर्माण मूल धातु के रूपों को आकारांत, इकारांत, ईकारांत और ऐकारांत करके तथा धातु के मूल रूप अथवा उसके विकारी रूप के साथ न ना, नि, नी, नु, त्र, -इबे और -इबो के योग से और यत्र तत्र इए, -यो, तथा -यौ के योग से किया गया है। कहीं-कहीं मूल धातु ही क्रियार्थक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हो गई है। इन प्रयोगों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

(क) आकारांत-रूपों का प्रयोग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'जाना' और 'देखा' जिनका निर्माण क्रमशः 'जान' और 'देख' धातु से हुआ है —

जाना चहहिं गूढ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।[1]
निज नयनन्हि *देखा* चहहिं नाथ तुम्हार बिवाहु।[2]

(ख) इकारांत रूप, जैसे 'बाढ' से 'बाढि' जो निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त है :—
सिर भुज *बाढि* देखि रिपु केरी।[3]

(ग) छंदसुविधार्थ 'इकारांत' रूप को ही 'ईकारांत' कर दिया गया है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत 'बाढी' और 'मारी' जिनका निर्माण क्रमशः 'बाढ' और 'मार' धातुओं से हुआ है :—

दसमुख देखि सिरन्ह कै *बाढी*।[4]
सही न जाइ कपिन्ह कै *मारी*।[5]

(घ) ऐकारांत-रूप, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'करै' और 'कहै' जो क्रमशः 'कर' और 'कह' धातुओं से बने हैं :—

मैं हरि साधन *करै* न जानी।[6]
कहै लाग खल निज प्रभुताई।[7]

(च) 'न' प्रत्यय के योग से बने रूप, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्द :—

पितु सुरपुर सिय राम बन *करन* कहहु मोहि राज।[8]
जब तेहि *देन* कहा बैदेही।[9]
ज्यों आजु कालिहु परहुँ *जागन* होहिंगे नेवत दिये।[10]

(छ) 'ना', जो 'न' का ही छन्दसुविधार्थ दीर्घस्वरांत किया गया रूप है, के योग से बने हुए रूप, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'लेना और देना' :—

झूठइ *लेना* झूठइ *देना*।[11]

---

१ रा० १, २२   २ रा० १, ८८   ३ रा० ६, ६८
४ रा० ६, ६३   ५ रा० ६, ८६   ६ वि० १२२
७ रा० ६, ८   ८ रा० २, १७७   ९ रा० ५, ५७
१० गी० १, ५, ५   ११ रा० ७, ३९

(ज) 'नि', 'नी' तथा 'नु' के योग से बने हुए रूप. जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश :—

अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परसपर हास ।[1]
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछे ।[2]
राम बिलोकनि बोलनि चलनी ।[3]
अटनु राम गिरि बन तापस थल ।[4]

(झ) मूल धातु के साथ 'ब' प्रत्यय का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत 'फिरब' 'मिलब' 'भुलाब' और 'उठब' जो क्रमशः फिर, मिल, भुला और उठ से बने हैं :—

बिनु सिय राम फिरब भल नाहीं ।[5]
मिलब हमार भुलाब निज कहहु त हमहिं न खोरि ।[6]
प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ।[7]

(ण) '-इबे' के योग से बने हुए रूप; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त लरिबे, धारिबे, और 'बाँधिबे' जो क्रमशः लर, धार, और बाँध धातुओं से बने हैं ।

जिनके लरिबे कर अभिमाना ।[8]
कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि
बीरता बिदित ताकी देखिए चहतु हौं ।[9]
बाँधिबे को भव गयद रेनु की रजु बटत ।[10]

(ट) '-इबो' का योग जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित शब्द :—

ता ठाकुर को रीझि निवाजिबो कह्यो न परत मो पाहीं ।[11]
सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे ।[12]
इन्ह के लिए खेलिबो छाँड़यो तऊ न उबरन पावहि ।[13]

इसी का बलात्मक रूप भी कहीं-कहीं व्यवहृत हुआ है, जैसे निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'दिबोई' (देना ही) :—

दीनदयाल दिबोई भावै जाचक सदा सोहाहीं ।[14]

---

१ रा० १, ४२ २ गी० २, ३ ३ रा० ७, १६
४ रा० २, २८० ५ रा० २, २८० ६ रा० १, १६५
७ रा० ५, ३३ ८ रा० १, १८२ ९ क० १, १८
१० वि० १२६ ११ वि० ४ १२ वि० ८
१३ श्रीकृ० ४ १४ वि० ४

(ठ) मूल धातु के साथ 'इए' का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'देखिए' :—

कठिन कुठार धार धारिवे की धीरताहि
वीरता विदित ताकी देखिए चहतु हौं।[1]

(ड) मूल धातु के साथ '-यो' का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्ति मे प्रयुक्त 'रूँध्यो' :—

तुलसिदास रूध्यो चहैं सठ सखि सिहोरे।[2]

(ढ) मूल धातु के साथ -यौ का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'कह्यौ' .—

कह्यौ मेरो मान हित जानि तू सयानी बडी
बड़े भाग पायो पूत विधि हरि हर तें।[3]

(ण) केवल मूल धातु का ही क्रियार्थक सज्ञा के रूप में व्यवहार, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'हाँक' और 'हूह' —

हाँक सुनत रजनीचर भागे।[4]
जय जय जय रघुबसमनि धाये कपि दै हूह।[5]

इनमें वस्तुत. क्रियार्थक सज्ञा के प्रत्यय का लोप समझना चाहिए।

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'न', 'ब' और 'ऐ' के योग से बने रूपों का विवेचन महत्वपूर्ण है।

'न' का सम्बन्ध बीम्स और डा० सक्सेना स० '-अन' (ल्युट्) से जोडते हैं। हार्नली और केलाग उक्त प्रत्यय की व्युत्पत्ति स० '-अनीयर्' से मानते हैं। पहला ही मत अधिक युक्तिसङ्गत है। 'ब' प्रत्यय का सम्बन्ध स० भविष्यकालिक कृदत-प्रत्यय '-इतव्य' से जोडना चाहिए, जैसे स० कर्त्तव्य 7 प्रा० केरअव्व, करिअव्व 7 हिं० करब। 'ऐ' में अन्त होने वाले रूपों का सम्बन्ध प्राचीन प्रेरणार्थक धातुओं के क्रियार्थक सज्ञारूपों से जोडा जा सकता है जैसे कराइउम् 7 कराइउँ 7 करइ (करै)।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी की क्रियार्थक सज्ञाओ की रूप-रचना प्राय' सस्कृत के ही विभिन्न कृदत-रूपों से प्रभावित है।

कर्तृवाचक संज्ञा के रूपों का निर्माण प्राय मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ क, ता, न, ना, नि, नी, वार, वारे, हार, हारा, हारी, हारे और '-ऐया' के योग से हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं .—

---

१ क० १, १८ २ वि० ८ ३ श्रीकृ० १७
४ रा० ६, ४७ ५ रा० ६, ६६
* सक्सेना : एवोल्यूशन आफ अवधी § ३४०

(क) 'क' प्रत्यय का योग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियो में प्रयुक्त 'सोषक' और 'निंदक' :—

कोटि सिंधु *सोषक* तव सायक ।[1]
आन देव *निंदक* अभिमानी ।[2]

(ख) 'ता' प्रत्यय का योग जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त श्रोता, बकता और त्राता :—

श्रोता बकता ग्यान निधि कथा राम कै गूढ़ ।[3]
जग पालक बिसेषि जन *त्राता* ।[4]

(ग) 'न' का योग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'दहन' और 'विभंजन' :—

जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलि मल *दहन* ।[5]
नयन अमिअ दृग दोष *बिभंजन* ।[6]

(घ) ना, नि तथा 'नी' का योग; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त हरना, करनि हरनि, करनी, और 'हरनी' :—

मोह जनित संसय सब *हरना* ।[7]
मंगल *करनि* कलि मल *हरनि* तुलसी कथा रघुनाथ की ।[8]
राम कथा जग मंगल *करनी* ।[9]
निज सदेह मोह भ्रम *हरनी* ।[10]

(च) 'वार' तथा 'वारे' ('वारे' का योग बहुधा बहुवचन का बोधक होता है।) के योग से बने हुए रूप, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'रखवार' और 'रखवारे' :—

होनिहार का करतार को *रखवार* जग खरभर परा ।[11]
जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ यहि ताल चतुर *रखवारे* ।[12]
पुर *रखवारे* देखि बहु कपि मन कीन्ह विचार ।[13]

(छ) 'हार', 'हारा', 'हारी', तथा 'हारे' के योग से बने हुए रूप, जो वस्तुतः कृदन्तार्थ-बोधक प्रत्यय ही नहीं हैं वरन् अपना स्वतंत्र अर्थ भी रखनेवाले हैं, तुलसी की भाषा में बहुलता से प्रयुक्त हुए हैं; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'पावनिहार', सोवनिहारा, जाननिहारी, देखनिहारे और नचावनिहारे (इनके सम्बन्ध में यह बात ध्यान

---

१ रा० ५, ५० २ रा० ७, ९७ ३ रा० १, ३०
४ रा० १, २० ५ रा० १, आरंभिक सोरठा नं० २ ६ रा० १, २
७ रा० १, २ ८ रा० १, १० ९ रा० १, १०
१० रा० १, ३१ ११ रा० १, ८४ १२ रा० १, ३८
१३ रा० ५, ३

देने योग्य है कि ये प्रत्यय मूल धातु में नहीं वरन् मूल धातु की क्रियार्थक संज्ञा के इकारान्त रूपों के साथ जुड़ते हैं।) :—

> *पावनिहार* विरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।[1]
> मोह निसा सब *सोवनिहारा*।[2]
> पिय हिय की सिय *जाननिहारी*।[3]
> जग पेखन तुम्ह *देखनिहारे*। विधि हरि संभु *नचावनिहारे*।[4]

(ज) '-ऐया' प्रत्यय के योग से बने हुए रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त हरैया, उखरैया, देखैया और सुनैया :—

> भूमि के *हरैया* *उखरैया* भूमिधरनि के
> विधि विरचे प्रभाउ जाको जग जई है।[5]
> तब के *देखैया* तोपे तब के लोगनि भले,
> अब के *सुनैया* साधु तुलसिहुँ तोपे हैं।[6]

कहीं-कहीं '-ऐया' की भाँति ही 'वैया' प्रत्यय का योग करके उक्त रूपों का निर्माण किया गया है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'देवैया' और 'लेवैया' :—

> तुलसी जहँ मातु पिता न सखा नहिं कोऊ कहूँ अवलंब *देवैया*।[7]
> तहाँ बिनु कारन राम कृपालु बिसाल भुजा गहि काढ़ि *लेवैया*।[8]

(झ) उक्त नियमित रूपों के अतिरिक्त एक नवीन प्रकार का रूप भी तुलसी की शब्दावली में मिलता है जिसके अंतर्गत मूल धातु में 'रा' के योग से कर्तृवाचक संज्ञा के निर्माण का प्रयत्न विद्यमान है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'सेवरा' (सेवन करने वाला) जिसका निर्माण 'सेव' धातु में 'रा' प्रत्यय जोड़ कर हुआ है :—

> सुरा *सेवरा* आदरहिं निंदहिं सुरसरि बारि।[9]

व्युत्पत्ति—'न' प्रत्यय के योग से निर्मित 'दहन', 'विभजन' आदि कर्तृवाचक संज्ञाओं की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'ल्यु' प्रत्यय के योग से निर्मित मदनः, सहनः आदि रूपों से तथा 'क' के योग से बने हुए सोषक, निंदक आदि की व्युत्पत्ति संस्कृत 'ण्वुल्' और 'वुञ्' प्रत्ययों के योग से बनने वाले कारकः, पाचकः, निंदकः, हिंसकः आदि रूपों से है। 'ता' के योग से बने कर्तृवाचक संज्ञाओं के रूपों का मूल संस्कृत के श्रोतृ, वक्तृ, दातृ, कर्तृ आदि के प्रथमा पुल्लिंग एकवचनरूपों में सुरक्षित है।

'वार' का सम्बन्ध सं० 'पाल' अथवा 'पालक' से और 'हार' का सं० 'हारक' से है। 'ऐया' के योग से बने हुए 'हरैया', 'देखैया' आदि रूपों को विशुद्ध बोलचाल की भाषा से

---

१ रा० १, २५१   २ गी० २, ६२   ३ रा० २, १०२
४ रा० २, १२७   ५ गी० १, ८१   ६ गी० १, ६३
७ क० ७, ५२   ८ क० ७, ५२   ९ दो० ३२६

स्वाभाविक प्रवाह में आये हुए समझना चाहिए। फिर भी डा० सक्सेना के मतानुसार इस प्रत्यय का सम्बन्ध सं० कर्तृवाचक संज्ञा-प्रत्यय-तृ+कः से माना जा सकता है; जैसे पढ़ैया 7 सं० पठतृकः।*

वर्तमानकालिक कृदन्त के जो रूप तुलसी की भाषा में उपलब्ध होते हैं उनका निर्माण प्रायः 'त', 'ता', 'ते' और 'तो' प्रत्ययों को मूल धातु के साथ जोड़ कर किया गया है। स्त्रीलिंग संज्ञाओं के साथ 'त' के स्थान में 'ति' अथवा 'ती' का योग हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ रूपों का निर्माण धातु के मूल अथवा विकारी रूप में '-इ' प्रत्यय जोड़ कर भी हुआ है। उक्त सभी प्रकार के रूपों के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

(क) 'त' अथवा 'ता' प्रत्यय के योग से बने हुए रूप; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त बिछुरत, मिलत, सराहत, देखत और 'देता' :—

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। *मिलत* एक दारुन दुख देहीं।[१]
हृदय *सराहत* सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई।[२]
देखत तव बदन कमल मन अनंद होई।[३]
चले बिप्रवर आसिष *देता*।[४]

(ख) 'ते', 'तो', 'ति' और 'ती' प्रत्ययों के योग से बने हुए रूप, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में व्यवहृत 'भावते', भावतो, रोदति, बदति, करति और 'गावतीं' : —

राम लखन *भावते* भरत रिपुदवन चारु चार्यो भैया।[५]
करिहैं राम *भावतो* मन को सुख साधन अनयास महाफलु।[६]
रोदति बदति बहुभाँति करुना *करति* संकर पहिं गईं।[७]
दूब दधि रोचना कनक थार भरि भरि,
आरती सवाँरि पुरनारि चलीं *गावतीं*।[८]

(ग) मूल धातु के साथ '-इ' के योग से बने हुए रूप; जैसे निम्नलिखित पक्ति में प्रयुक्त 'लागि' (ऐसे रूपों का प्रयोग व्यापक नहीं है) :—

कुअँरि लागि पितु काँध ठाढ़ भइ सोहइ।[९]

व्युत्पत्ति—उपर्युक्त 'त' और 'ति' आदि प्रत्ययों का सम्बन्ध सं० -अत् (शतृ) 7 प्रा० अन्त से स्पष्ट है।

अपूर्णक्रियाद्योतक कृदन्त के रूप तुलसी की रचनाओं में बहुत कम संख्या में उपलब्ध होते हैं और जो मिलते हैं उनमें साधारण रूप 'त' प्रत्यय जोड़ कर तथा

---

* डा० सक्सेना : एवोल्यूशन आफ अवधी § ३४३

१ रा० १, ५	२ रा० १, २३७	३ आंकृ० १
४ रा० १, २१५	५ गी० १, ८	६ वि० २४
७ रा० १, ८७	८ क० १, १३	९ पा० मं० १३

बलात्मक रूप 'हुँ' प्रत्यय के योग से बनाये गये हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों मे प्रयुक्त 'बिचरत' और 'करतहुँ' :—

बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुन्दरता खोजत रितए री।[1]
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।[2]

व्युत्पत्ति—की दृष्टि से इनमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। 'त' से युक्त वर्तमानकालिक कृदतो की भाँति इनका सम्बन्ध भी सस्कृत '-अत्' (शतृ) प्रत्यय के योग से बने हुए वर्तमानकालिक रूपों से मानना चाहिए।

भूतकालिक कृदंत के रूपों का निर्माण प्राय मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ-आ,-ई, ई, उ, एँ-यो, त, न्हे, और हे, हैं प्रत्ययों के योग से हुआ है जिनमें सस्कृत कृदतों का प्रभाव 'त' के योग से बने हुए रूपों पर प्रत्यक्ष है। अन्य रूपों में अवधी और ब्रज की बोलचाल में प्रचलित कृदतरूपों की प्रधानता स्पष्ट है। उक्त सभी प्रकार के रूपों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(क) मूल धातु के साथ '-आ' का योग, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अकित शब्द :—

अजहूँ मानहु *कहा* हमारा।[3]
फिरत सदा माया कर *प्रेरा*।[4]

(ख) मूल धातु के साथ '-ई' तथा '-ई' का योग, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अश : —

गई बहोर गरीबनिवाजू।[5]
जाइ रही *पाई* बिन पाई।[6]
बहुतक *चढीं* अटारिन्ह निरखहि गगन बिमान।[7]

'चढ़ीं' का अनुनासिक अश बहुवचनसूचक है। गई, आई आदि ईकारान्त रूपो द्वारा स्त्रीलिंग का बोध कराने की प्रवृत्ति तो तुलसी की भाषा में प्रायः सर्वत्र ही मिलती है।

(ग) मूल धातु के साथ '-ए' का योग, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले अश :—

हनूमान अगद के *मारे*। रन महि परे निसाचर भारे।[8]
ए किरीट दसकधर केरे। आवत बालितनय के *प्रेरे*।[9]
हा हा री महरि वारो कहा रिस बस भई
कोखि के *जाए* सों रोष केतो बड़ो कियो है।[10]

---

१ गी० १, ७६ २ वि० १२८ ३ रा० १, ८०
४ रा० ७, ४४ ५ रा० १, १३ ६ रा० ५, २३
७ रा० ७, ३ ८ रा० ६, ११६ ९ रा० ६, ३२
१० श्रीकृ० १६

(घ) मूल धातु के साथ '-एँ' के योग से बने हुए रूप, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियो के टेढ़े अक्षरों वाले अंश :-

प्रभु कर *जोरें* सीस नवावहिं ।[1]
गहें छत्र चामर बिजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते ।[2]

(च) मूल धातु के साथ '-यो' का योग; जैसे निम्नलिखित पक्तियों के टेढ़े अक्षरो वाले अश :—

मुरयो न मन तनु *टरयो* न *टार्यो* ।
जिमि गज अर्क फलनि को *मार्यो* ।[3]

(छ) 'त' के योग से बने हुए रूप; जैसे निम्नलिखित पक्तियो में प्रयुक्त 'गत' और 'गुप्त' :—

मेधा महि *गत* सो जल पावन ।[4]
रामचरित सर *गुप्त* सुहावा ।[5]

कहीं-कहीं 'गुप्त' का 'गुपुत' रूप भी प्रयुक्त हुआ है, जो किसी नियम विशेष का नही वरन् सयुक्ताक्षरों को बचाने की प्रवृत्ति का द्योतक है; उदाहरणार्थ :—

औरउ एक *गुपुत* मत सबहि कहउँ कर जोरि ।[6]

(ज) '-न्हे, 'हे' और 'हें' के योग से बने हुए रूपों का प्रयोग व्यापक नही है परन्तु रूप-वैविध्य की दृष्टि से ये भी उल्लेखनीय हैं; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियो मे प्रयुक्त 'लीन्हे', 'लिहे' तथा 'किहें' :—

प्रगटे अगिनि चरू कर *लीन्हे* ।[7]
दरजिनि गोरे गात *लिहे* कर जोरा हो ।[8]
सकृत प्रनाम *किहें* अपनाएँ ।[9]

(झ) '-आन' के योग से बना हुआ 'भुलान' जैसे रूप का प्रयोग भी उल्लेखनीय है:-

बालक भभरि *भुलान* फिरहिं घर हेरत ।[10]

(ञ) इसी प्रकार '-ल' में अत होने वाला 'सरल' (सड़ा हुआ) जैसा भोजपुरी रूप भी द्रष्टव्य है :—

बाँस पुरान साज सब अटखट *सरल* तिकोन खटोला रे ।[11]

व्युत्पत्ति—'त' प्रत्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'क्त' प्रत्यय से स्पष्ट है । वस्तुतः ये संस्कृत के ही रूप हैं जो कहीं कहीं थोड़ा बहुत परिवर्तित हो गए है । अन्य प्रत्ययो की व्युत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि स्वरों के योग से बने हुए

---

१ रा० ७, ३२ २ रा० ७, १२ ३ रा० ६, ६५
४ रा० १, ३६ ५ रा० ७, ११२ ६ रा० ७, ४५
७ रा० १, १८९ ८ रा० ल० न० ६ ९ रा० २, २९९
१० पा० म० ११६ ११ वि० १८९

रूपों का मूल प्राकृत के भविश्रो, तरिए आदि रूपों में खोजा जा सकता है। अतः इन्हीं से उक्त भूतकालिक कृदंतों का संबंध मान सकते है।

पूर्णक्रियाद्योतक कृदंत के रूप बहुत ही न्यून मात्रा में उपलब्ध होते हैं जिनका निर्माण प्रायः मूल धातु के साथ, -एँ, -न्हें और -इं और 'न्हें' का योग होने से संभव हुआ है, जैसे बीतें, राखें, लीन्हें तथा 'लागीं' आदि कृदन्त-रूप जिनका व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है :—

बीतें अवधि जाउँ जो जियत न पावउँ बीर।[1]
राखें राम रजाय रुख हम सब कर हित होइ।[2]
लीन्हें जयमाल कर कंज सोहैं जानकी के,
पहिराओ राघो जू को सखियाँ सिखावतीं।[3]
तुलसी मुदित मन जनक नगर जन
झाँकतीं झरोखे लागीं सोभा रानी पावतीं।[4]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से इनका संबंध संस्कृत के, निष्ठा के तृतीया एकवचन रूपों से जोड़ना ठीक होगा, जैसे रक्षितः 7 रक्खिश्रो 7 राखो, राखा 7 राखेण 7 राखे।

पूर्वकालिक कृदंत के रूप प्रायः मूल धातु के साथ -इ, इ, ई, और '-ऐ' के योग से बनाए गए हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

(क) मूल धातु के साथ '-इ' का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त माँगि, सुनि और निवारि :—

खायो खोंची *माँगि* मैं तेरो नाम लिया रे।[5]
सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू।[6]
नाम लिए पूत को पुनीत कियो पातकीस,
आरति *निवारि* प्रभु पाहि कहे पील की।[7]

(ख) मूल धातु के साथ 'इ' का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'पाइ', बोलाइ, बँचाइ और बुलाइ :—

प्रभुता *पाइ* काहि मद नाहीं।[8]
बेगि *बोलाइ* बिरंचि *बँचाइ* लगन तब।
कहेन्हि बियाहन चलहु *बुलाइ* अमर सब।[9]

(ग) मूल धातु के साथ 'ई' का योग, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के अंतर्गत प्रयुक्त पाई, समुझाई और बिचारी :—

सठ सुधरहिं सतसंगति *पाई*।[10]

---

१ रा० ६, ११६ २ रा० २, २५४ ३ क० १, १३
४ क० १, १३ ५ वि० ३३ ६ रा० २, २६
७ क० ७, १८ ८ रा० १, ६० ९ पा० म० १००
१० रा० १, ३

अतिसय सुख जाते तोहिं मोहि कहु *समुझाई* ।[१]
इनको बिलग न मानिये बोलहि न *बिचारी* ।[२]

(घ) '-ऐ' के योग से बने हुए विकारी रूप; जैसे लै और ह्वै आदि उदाहरणार्थ :—

सचिव संग *लै* नभ पथ गयऊ ।[३]
ह्वै प्रसन्न दीन्हेउ सिव पद निज ।[४]

अनुलेखन-विविधता के फलस्वरूप उक्त रूप 'इ' के योग से बने रूपों से भिन्न प्रतीत होते हैं। यही बात निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त उन रूपों के संबंध में भी सत्य समझनी चाहिए जिनमें 'इ' के स्थान में 'य' का योग हुआ है; उदाहरणार्थ 'धाय' और 'समुझाय' जो मूलतः 'धाइ' तथा 'समुझाइ' से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं :—

अब सोचत मनि बिनु भुजंग ज्यों, बिकल अंग दले जरा *धाय* ।[५]
गुरु वसिष्ठ *समुझाय* कह्यो तब हिए हरषाने जाने शेष सयन ।[६]

इसके अतिरिक्त स्फुट प्रयोगों के अन्तर्गत मूल धातु को इकारान्त करके उनके साथ 'कै' तथा 'करि' का प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत 'मारि कै' और 'जानि कै' :—

मारि कै मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख जग माहीं ।[७]
केहि करनी जन *जानि* कै सनमान किया रे ।[८]

इनके अतिरिक्त कतिपय संस्कृत-तत्सम पूर्वकालिक कृदंत रूप भी कुछ विकार या परिवर्तन के साथ तुलसी की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में 'अकनि' (आकर्ण्य) और समदि (सम्माद्य) का व्यवहार :—

रोषे माषे लषन *अकनि* अनखौंही बातैं,
तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही ।[९]
सब विधि सबहि *समदि* नरनाहू ।[१०]

यहाँ पर यह भी निर्देश कर देना आवश्यक होगा कि केलाग† ने कहीं-कहीं मूल धातु के आकारान्त भूतकालिक रूप को भी अर्थ की दृष्टि से पूर्वकालिक कृदंत के रूप में ग्रहण किया है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति के अन्तर्गत 'चीन्हा' :—

सुफल जन्म माना प्रभु *चीन्हा* ।[११]

परंतु केलाग† की धारणा भ्रमपूर्ण है। उपर्युक्त वाक्य सयुक्त वाक्य (Compound Sentence) है जिसके भीतर दो उपवाक्य अथवा वाक्यपद (Clauses) हैं और दोनों के

---

१ श्रीकृ० १ २ वि० ३४ ३ रा० ५, ४१
४ वि० ७ ५ वि० ८२ ६ गी० १, ४६
७ वि० ४ ८ वि० ३२ ९ क० १, १६
१० रा० १, ३५४ ११ रा० ४, ६
† केलाग : हिन्दी ग्रैमर § ५२६

अतगत दो भूतकालिक क्रियारूपों का प्रयोग हुआ है। पहले मे 'माना' का और दूसरे में 'चीन्हा' का।

व्युत्पत्ति—सस्कृत व्याकरण के अन्तर्गत पूर्वकालिक कृदत के दो प्रत्यय हैं (१) 'ल्यप्' (२) 'क्त्वा' जिनके योग से क्रमश. 'आगत्य' और 'गत्वा' जैसे रूपों का निर्माण होता है। तुलसी की भाषा में उपलब्ध पूर्वकालिक कृदत रूपों की व्युत्पत्ति 'ल्यप्' के योग से बने हुए रूपों से ही मानना युक्तिसंगत है, जैसे स० श्रुत्वा 7 प्रा० सुणिअ 7 हिं० सुनि अथवा स० सिक्त्वा 7 प्रा० सींचिअ 7 हिं० सींचि। क्त्वा प्रत्यय के योग से बने हुए रूपों का व्यवहार केवल यत्र तत्र प्राप्त सस्कृत श्लोकादि को छोड कर कही भी तुलसी की कृतियों मे दृष्टिगोचर नहीं होता।

तात्कालिक कृदन्त के रूपों का निर्माण प्राय. वर्तमानकालिक कृदन्तों के 'त' मे अत होने वाले रूपों के साथ 'हिं' अथवा 'हीं' प्रत्यय के सयोग से किया गया है। इनका प्रयोग भी तुलसी की रचनाओं के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, जैसे 'जातहिं', 'छुवतहिं' और 'आवतहीं'। कहीं-कहीं पर 'त' में अत होनेवाले वर्तमानकालिक कृदत रूप स्वतः ही इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे 'टूटत', 'लेत' और 'होत'। निम्नलिखित पक्तियों में उक्त सारे रूपों का व्यवहार मिलेगा :—

(क) *जातहिं* राम तिलक तेहि सारा।[१]
छु*वतहिं* टूट पिनाक पुराना।[२]
आवतहीं रघुबीर निपाता।[३]
(ख) जनक मुदित मन टूट*त* पिनाक कें।[४]
राम नाम *लेत* होत सुलभ सकल धरम।[५]
सनमुख तोहि *होत* नाथ कुतरु सुफर फरत।[६]

व्युत्पत्ति—तात्कालिक कृदत-रूप वर्तमानकालिक कृदत के ही विकृत रूप में 'हिं' अथवा 'हीं' को जोड कर बनाए गये हैं अतः इनकी व्युत्पत्ति भी सस्कृत वर्तमानकालिक कृदत-रूपों 'ददत्', 'वदत्' जैसे रूपों से ही माननी चाहिए।

भविष्यकालिक कृदंत—इसके रूप सस्कृत के भविष्यकालिक कृदत प्रत्ययों के ही समीपवर्ती प्रत्ययों 'तव्य' (तव्य) और 'नीय' (अनीय) के योग से ही बनाये गये है। इस दृष्टि से तुलसी के ग्रथो में प्रयुक्त भविष्यकालिक कृदतों के रूप पूर्णतया सस्कृत व्याकरण से प्रभावित हैं। कुछ रूप 'ने' प्रत्यय के योग से बनाये गये हैं जो निर्माण की दृष्टि से अधिक मौलिक एव महत्त्वपूर्ण हैं और सस्कृत से न प्रभावित होकर हिन्दी व्याकरण के अनुसार हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

(क) 'तव्य' के योग से बने हुए रूप-उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्द .—

---

१ रा० ५, ५४ २ रा० १, २८३ ३ रा० ३, ७
४ गी० १, ९२ ५ वि० १३१ ६ वि० १३४

सब विधि सोइ *करतव्य* तुम्हारे।[१]
तुलसी जसि *भवतब्यता* तैसी मिलइ सहाइ।[२]

इस प्रकार 'तव्य' अपने मूल सस्कृत रूप मे न प्रयुक्त होकर 'तव्य' के रूप में आया है। 'व' को 'ब' कर देने की प्रवृत्ति, जो अवधी बोली के शब्दरूपों की एक प्रमुख विशेषता है, उक्त परिवर्तन के मूल में भी विद्यमान है।

(ख) 'नीय' के योग से बने हुए रूप, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्द :—

सोचनीय नहिं कोसल राऊ।[३]
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।[४]
अब धौं बिधिहि काह *करनीया*।[५]

'करनीया' को 'करनीय' का ही छंदसुविधार्थ दीर्घस्वरान्त किया हुआ रूप समझना चाहिए।

(ग) 'ने' से युक्त 'होने' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पक्तियों में द्रष्टव्य है :—

भे न भाइ अस अहहि न *होने*।[६]
होत हरे *होने* बिरवनि दल सुमति कहति अनुमानि कै।[७]

कहीं-कहीं अर्थ की दृष्टि से, 'होनिहार' और 'मरनिहार' आदि कतिपय कर्तृवाचक सज्ञाओ को भी, जो 'हार' प्रत्यय के योग से बनती हैं, इन्हीं भविष्यकालिक कृदंत-रूपों के अतर्गत ले सकते हैं।

होनिहार का करतार को रखवार जग खरभर परा।[८]
अब यह *मरनिहार* भा साँचा।[९]

व्युत्पत्ति—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि उक्त भविष्यकालिक रूपों में से प्रथम दो प्रधान रूपों का सम्बन्ध सस्कृत के 'तव्य' और 'अनीयर्' प्रत्ययों से है।

संयुक्त क्रियाएँ

धातुओं के कुछ विशेष कृदतो के साथ किसी विशेष अर्थ में कुछ विशेष क्रियाओ के सयोग से जो मिश्रित क्रियारूप बनते हैं उन्ही को संयुक्त क्रियाओं की सज्ञा दी गई है। अर्थ की दृष्टि से इनमें सहकारी क्रिया के काल का रूप गौण तथा कृदंत का रूप प्रधान रहता है। तुलसी के ग्रथों मे उपलब्ध सयुक्त क्रियाएँ प्रायः क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक, वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा अपूर्णक्रियाद्योतक कृदतों के सहारे बनाई गई हैं। इनका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

---

१ रा० २, ६६ — २ रा० १, १५६ — ३ रा० २, १७२
४ रा० २, ७४ — ५ रा० १, २६७ — ६ रा० २, २००
७ गी० १, ७८ — ८ रा० १, ८४ — ९ रा० १, २७५

(क) क्रियार्थक संज्ञा के मेल से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ—जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'जाना चहहिं', रूँध्यो चहै, दिवोई भावै, देखिए चहतु हौं, खेलिबो छाँड्यो, जाँचन जाहीं, गयो चहहि, कही चाहौं और 'दीजै रहन पर्यो' :—

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ।[1]
तुलसी दलि *रूँध्यों चहै* सठ साखि सिहोरे।[2]
दीनदयाल *दिबोई भावै* जाचक सदा सोहाहीं।[3]
कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि
बीरता विदित ताकी *देखिए चहतु हौं*।[4]
इन्ह के लिए *खेलिबो छाँड्यो* तऊ न उबरन पावहिं।[5]
ईस उदार उमापति परिहरि अनत जे *जाचन जाहीं*।[6]
जौं बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम *गयो चहहि* भव पारहि।[7]
कही चाहौं बात मातु अंत तौ हौं लरिकै।[8]
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु *दीजै रहन पर्यो*।[9]

(ख) पूर्वकालिक कृदंत के योग से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ जैसे 'बोलि लै आए', 'गा लिखि', 'लै आयऊ', 'कहौं समुझाई', 'परै कही', 'चलि गयऊ', 'पूजि आई' जिनका व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है :—

कपि कुंजरहि *बोलि लै आए*।[10]
लिखत सुधाकर *गा लिखि* राहू।[11]
तब जनक आयसु पाइ कुलगुरु जानकिहि *लै आयऊ*।[12]
कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक *कहौं समुझाई*।[13]
जागइ मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न *परै कही*।[14]
तब हनुमंत निकट *चलि गयऊ*।[15]
ताकी पैज *पूजि आई* यह रेखा कुलिस पषान की।[16]

(ग) वर्तमानकालिक कृदत के योग से बने हुए रूपों का अनुमान निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'कहत बनइ', 'गवनत भयऊ', 'बोलत भई', 'फिरत पाए', बिहँसति आई, चली गावती से किया जा सकता है—

वह सोभा समाज सुख *कहत न बनइ* खगेस।[17]
तुरत पवन सुत *गवनत भयऊ*।[18]

---

१ रा० १, २२	२ वि० ८	३ वि० ४
४ क० १, १८	५ श्रीकृ० ४	६ वि० ४
७ वि० ८५	८ गी० १, ७०	९ वि० ९१
१० रा० ६, १९	११ रा० २, ५५	१२ जा० म० ९०
१३ वि० ६२	१४ रा० १, ८६	१५ रा० ५, १३
१६ वि० ३०	१७ रा० ७, १२	१८ रा० ६, १२१

मूरति कृपालु मंजु माल दै *बोलत भई*
पूजो मन कामना भावतो बरु वरि कै ।[१]
जे जे तैं निहाल किए फूले *फिरत पाए* ।[२]
करि सिंगार अति लोन तौ *बिहँसत आइ* हो ।[३]
दूब दधि रोचना कनक थार भरि भरि
आरती सवाँरि पुरनारि *चलीं गावती* ।[४]

(घ) भूतकालिक कृदत के योग से बनी हुई सयुक्त क्रियाओं के रूप अपेक्षाकृत कम मात्रा में मिलते है । निम्नलिखित पंक्तियो में प्रयुक्त 'ठाढ भये', 'रची बनाई' और 'परइ न पार्यो' उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं :—

ठाढ़ भए उठि सहज सुभाएँ ।[५]
मंगल रचना *रची बनाई* ।[६]
बुधिबल निसिचर *परइ न पार्यो* ।[७]

(च) अपूर्णक्रियाद्योतक कृदतों के योग से बने हुए रूप; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'रहति करति' और 'जात रहेउँ' :—

कहहु तात केहि भाँति जानकी । *रहति करति* रच्छा स्वप्रान की ।[८]
जात रहेउँ बिरंचि गृह रहिहु उमा कैलास ।[९]

व्युत्पत्ति—इन सयुक्त क्रियाओं की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में वही बातें लागू समझनी चाहिएँ जिनका निर्देश कृदंतो की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में किया जा चुका है ।

प्रेरणार्थक क्रिया

हिंदी में सामान्य रूप से प्रेरणार्थक क्रियारूपो का निर्माण मूल धातु मे 'आ' और 'वा' प्रत्ययो के योग से होता है । अकर्मक धातुओं मे 'आ' लगाने से धातु सकर्मक हो जाती है अतः ऐसी धातुओं के प्रेरणार्थक रूप 'वा' लगा कर बनाए जाते हैं; जैसे 'करना' से 'कराना' और 'करवाना' तथा 'जलना' से 'जलाना' और 'जलवाना' । तुलसी की भाषा मे भी बहुधा इन्हीं नियमों का अनुसरण किया गया है । इतना अवश्य है कि कालरचना की विविधरूपता के कारण इनके कई रूपान्तर उपलब्ध होते हैं ।

सक्षेप में तुलसी की शब्दावली में उपलब्ध प्रेरणार्थक क्रियाओ का विश्लेपण निम्न-लिखित वर्गों में रख कर किया जा सकता है :—

(क) मूल धातु के प्रथम अकारान्त अक्षर को दीर्घस्वरात करके बनाए हुए रूप; उदाहरणार्थ 'तरना' से 'तारना', और 'सजना' से 'साजना' का निर्माण जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश : —

---

१ गी० १, ७० २ वि० ८३ ३ रा० ल० न० १०
४ क० १, १२ ५ रा० १, २५४ ६ रा० १, २६६
७ रा० ६, ६५ ८ रा० ५, ३० ९ रा० ७, ६०

हिमवान कहेउ इसान महिमा अगम निगम न *पावई* ।[१]
स्वारथहिं प्रिय स्वारथ सो काते कौन वेद *बखानई* ।[२]

(ग) अनुलेखन विभिन्नता के फलस्वरूप 'इ' के स्थान में '-ऐ' का योग :—

दीप सहाय कि दिनकर *सोहै* ।[३]
रानिहि जानि ससोच सखी *समुझावै* ।[४]
सुधापान करि मूक कि स्वाद *बखानै* ।[५]

स्पष्टतः '-ऐ' प्रत्यय 'चढ़इ', 'बरपइ' आदि रूपों के अन्त में उच्चरित 'अइ' का ही रूपान्तर है ।

(घ) 'त' का योग : *रीझत* राम सनेह निसोतें ।[६]
नगर सोहावन *लागत* बरनि न जातै हो ।[७]
माँगत तुलसिदास कर जोरे ।[८]

(च) 'ति' का योग : चारु चरन नख *लेखति* धरनी ।[९]
चितवनि *बसति* कनखियनु अँखियनु बीच ।[१०]
करति आरती सासु मगन सुखसागर ।[११]

(छ) छंदपूर्ति की सुविधा के लिए 'ति' का 'ती' भी हो गया है :—

बरनत बरन प्रीति *बिलगाती* ।[१२]
जानकीस की कृपा *जगावती* सुजान जीव
जागि त्यागि मूढ़तानुरागु श्री हरे ।[१३]

'ति' और 'ती' के योग से बने हुए उक्त रूपों का व्यवहार पुल्लिंग संज्ञाओं के साथ कहीं नहीं हुआ है, यद्यपि संस्कृत में 'ति' में अंत होने वाले रूप (पठति, वदति आदि) दोनों लिंगों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं ।

(ज) 'हिं' का योग : भीख माँगि भव *खाहिं* चिता नित *सोवहिं* ।[१४]
निरखि निरखि हिय *हरषहिं* मूरति साँवरि ।[१५]

(झ) 'हिं' को ही छंदसुविधार्थ कहीं कहीं 'हीं' कर दिया गया है जैसे :—

अति प्रम बारहि बार रानी बालकन्हि उर *लावहीं* ।[१६]
देखि खिलौना *किलकहीं* पद पानि बिलोचन लोल ।[१७]

(ञ) '-एँ' का योग : *कहैं* गाधिनदन मुदित रघुनंदन सों
नृप गति अगह गिरा न जाति गही है ।[१८]

---

१ पा० मं० १२१ २ वि० १३५ ३ रा० २, २८१
४ जा० म० ८४ ५ जा० म० ६७ ६ रा० १, २८
७ रा० ल० न० २ ८ वि० १ ९ रा० २, ५८
१० बरवै० ३० ११ पा० मं० १३३ १२ रा० १, २०
१३ वि० ७४ १४ पा० मं० ५६ १५ जा० म० १८५
१६ जा० मं० १८६ १७ गी० १, १६ १८ गी० १, ८५

रोटी लूगा नीके राखैं आगे हू को बेद *भाषैं*
भलो ह्वैहै तेरो, तातें आनँद लहत हौं।[1]

हिं, हीं, और '-एँ' से युक्त ये रूप देखने में बहुवचन के प्रतीत होते हुए भी अर्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से आदरार्थ एकवचन के अंतर्गत आते हैं।

(ट) केवल मूल धातु का सामान्य वर्तमानकालिक रूप में प्रयोग जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में 'सूझ', 'जान' और 'सोह' :—

सूझ न एकउ अंग उपाऊ।[2]
रूप न जाइ बखानि *जान* जो जोहइ।[3]
नृप न *सोह* बिनु बचन नाक बिनु भूषन।[4]

(ठ) अपवादस्वरूप कहीं-कहीं 'आउ' जैसे 'उ' के योग से बने हुए रूप का प्रयोग भी मिल जाता है उदाहरणार्थ :—

बिहँसत *आउ* लोहारिनि हाथ बरायन हो।[5]

एकवचन रूपों के पश्चात् बहुवचन रूपों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें लगभग उन्हीं सारे प्रत्ययों का उपयोग किया गया है जिनका उपर्युक्त एकवचन रूपों में व्यवहार हुआ है। उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जाता है।

(क) 'हिं' का योग : उघरहि बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥[6]
अष्ट सिद्धि नव निद्धि भूति सब भूपति भवन *कमाहि*।[7]

(ख) छंदसुविधार्थ 'हिं' के स्थान में 'हीं' का योग : कुअँरि कुअँरि कल भावँरि *देहीं*।[8]
गावति गीत सबै मिलि सुदरि बेद जुआ मिलि बिप्र *पढ़ाहीं*।[9]

(ग) '-एँ' का योग : ते पद पखारत भाग्य भाजन जनक जय जय सब *कहैं*।[10]
तुलसी गलिन भीर दरसन लगि लोग अटनि *अवरोहैं*।[11]
रोपैं सफल सपल्लव मंगल तरुबर।[12]

(घ) 'त' का योग : त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित *वदत* बेद चारी।[13]
मुनि किन्नर गंधर्व *सराहत* विथके हैं विबुध बिमान।[14]

(च) 'तीं' के योग से बने हुए रूप (जो केवल स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं) :—
लीन्हें जयमाल कर कंज सोहैं जानकी के
पहिराओ राघो जू को सखियाँ *सिखावतीं*।[15]

---

१ वि० ७६ — २ रा० १, ८ — ३ पा० म० १२
४ जा० मं० ७४ — ५ रा० ल० न० ५ — ६ रा० १, १
७ गी० १, २ — ८ रा० १, ३२५ — ९ क० १, १७
१० रा० १, ३२४ — ११ गी० १, ७६ — १२ जा० म० २०६
१३ वि० ७८ — १४ गी० १, २ — १५ क० १, १३

तुलसी मुदित मन जनक नगर जन
झाँकती झरोखे लागीं सोभा रानी *पावतीं* ।[1]

(छ) केवल मूल धातु अथवा उसके 'उ' से युक्त रूप का व्यवहार :—

कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा ।[2]
सखी सुवासिनि सासु *पाउ* सुख सब विधि ।[3]

सामान्य वर्तमानकाल के रूप मध्यमपुरुष के अंतर्गत दोनों लिंगों में एकवचन में मूल धातु के साथ सि, सी, हि, ही, हु, हू, 'त' और 'औ' के योग से तथा बहुवचन में प्रायः हु और हू के योग से बनाए गये हैं । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं ।

(क) 'सि' का योग : महामंद मन सुख *चहसि* ऐसे प्रभुहि बिसारि ।[4]
ईस सीस *बससि* त्रिपथ *लससि* नभ पताल धरनि ।[5]

छंदसुविधार्थ 'सि' का 'सी' हो गया है जैसे :—

रे कपि अधम मरन अब *चहसी* ।
छोटे बदन बात बड़ि *कहसी* ।[6]

संस्कृत के 'पठसि', 'वदसि' आदि रूपों से लगभग पूर्ण साम्य रखते हुए भी तुलसी के उक्त रूपों में विशेषता यह है कि उनका व्यवहार कहीं पर सम्बोधित व्यक्ति के प्रति आत्मीयता का भाव तथा कहीं पर उसके प्रति उसकी तुच्छता और नीचता का भाव व्यक्त करते हुए किया गया है। उपर्युक्त उदाहरणों में दूसरे को प्रथम कोटि में और पहले तथा तीसरे को द्वितीय कोटि में रखना चाहिए ।

(ख) 'हि' का योग : सत्य *कहहि* दसकंठ सब मोहिं न सुनि कछु कोह ।[7]
जनकसुता कइ सुधि भामिनी । *जानहि* कहु करिवरगामिनी ।[8]

छंदसुविधार्थ 'हि' का 'ही' हो गया है जैसे :—

रे रे दुष्ट ठाढ़ किन *होही* ।[9]

(ग) 'हु' का योग : माँगु माँगु पै *कहहु* पिय कबहुँ न देहु न लेहु ।[10]
का घूँघट मुख *मूँदहु* नवला नारि ।[11]

छंदसुविधार्थ 'हु' का 'हू' हो गया है जैसे :—

'मुधा मान ममता मद *बहहू* ।[12]

(घ) 'त' का योग : तुम्हहू तात *कहत* अब जाना ।[13]
रुचिर रसना तू राम राम क्यों न *रटत* ।[14]
तुम्ह सुरतरु रघुबंस के *देत* अभिमत माँगे ।[15]

---

१ क० १, १२   २ वि० २   ३ पा० म० १५१
४ रा० ३, ३६   ५ वि० २०   ६ रा० ६, ३१
७ रा० ६, २३ ख   ८ रा० ३, ३६   ९ रा० ३, २९
१० रा० २, २७   ११ बरवै० १६   १२ रा० ६, ३७
१३ रा० ५, २७   १४ वि० १२९   १५ गी० १, १२

(च) '-औ' का योग : खोटो खरो रावरो हौं रावरी सौं रावरे सों
मूठ क्यों कहौंगो ? *जानौ* सबही के मन की ।[1]

(छ) 'हु' के योग से बने हुए बहुवचन रूप :—

प्रजा पाँच कत *करहु* सहाई ।[2]
चितइ न *सकहु* राम तन गाल *बजावहु* ।
बिधि बस बलउ लजान सुमति न *लजावहु* ।[3]

छंदसुविधार्थ 'हु' के स्थान में 'हू' का योग :—

सबुइ उचित सब जो कछु *कहहू* ।[4]
मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर *जोवहू* ।[5]

सामान्य वर्तमानकाल में उत्तमपुरुष के रूप एकवचन के अंतर्गत मूल धातु के साथ उँ, ऊँ,-औं, त, और 'ति', के योग से तथा आदरार्थ एवं बहुवचन में 'हिं' अथवा 'हीं' के योग से बनाए गये हैं; उदाहरणार्थ :—

(क) 'उँ' का योग : बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि ।[6]
करुनामय उदार कीरति बलि *जाउँ* हरहु निज माया ।[7]

छंदसुविधार्थ 'उँ' के स्थान में 'ऊँ' का योग :—

जिअन मूरि जिमि जोगवत *रहऊँ* ।[8]
खल तव कठिन बचन सब *सहऊँ* ।[9]

(ख) '-औं' का योग ('-औं' वस्तुतः 'अउँ' का ही दूसरा रूप है जो अनुलेखन-पद्धति की विविधता का द्योतक है) :—

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई *चहौं* ।[10]
देबि करौं कछु बिनय सो बिलग न मानब ।[11]
गोरस हानि *सहौं* न *कहौं* कछु यहि ब्रजवास बसेरे ।[12]

उक्त दोनों प्रकार के रूप पुलिंग और स्त्रीलिंग में समान हैं ।

(ग) 'त' का योग : हौं *समुझत* साँई-द्रोहि की गति छार छिया रे ।[13]
तो सो हौ फिरि फिरि हित सत्य बचन *कहत* ।[14]

(घ) 'ति' का योग (ऐसे रूप केवल पुलिंग में प्रयुक्त हुए हैं) :—

तुम सकुचत कत ? हौ ही नीके *जानति*
नंद नंदन हो निपट करी सठई ।[15]

---

१ वि० ७५   २ रा० २, १८०   ३ जा० मं० ६७
४ रा० २, १८१   ५ जा० सं० ७२   ६ रा० १ आरंभिक सो० नं० ५
७ वि० ६   ८ रा० २, ५६   ९ रा० ६, २२
१० रा० २, १००   १० पा० मं० ४८   ११ श्रीकृ० ३
१२ वि० २२   १४ वि० १२२   १५ श्रीकृ० ३६

ऐसे रूप का व्यवहार केवल स्त्रीलिंग में हुआ है।

(च) 'हिं' के योग से बना हुआ आदरार्थ रूप :—

इन्ह के लिए खेलिबो छाँड़यो तऊ न उबरन *पावहिं*।[1]

(छ) 'हि' के योग से बने हुए बहुवचन-रूप :—

एक कहहिं हम बहुत न *जानहि*। आपुहि परम धन्य करि *मानहिं*।[2]

कुसल करइ करतार *कहहि* हम सोंचिय।[3]

कहीं-कहीं छंदसुविधार्थ 'हिं' के स्थान में 'हीं' का योग भी हुआ है जैसे :—

हम छत्री मृगया बन *करहीं*। तुम्ह से खल मृग खोजत *फिरहीं*।[4]

राजकुमारि बिनय हम *करहीं*। तिय सुभाय कछु पूछत *डरहीं*।[5]

सामान्य वर्तमान के कुछ संस्कृत-तत्सम रूपों से मिलते जुलते क्रियारूपों का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'पस्यामि', 'पस्यति' और 'समरामहे' इत्यादि जो क्रमशः 'पश्यामि', 'पश्यति' और 'स्मरामहे' के ही विकृत रूप हैं :—

रन जीति रिपु दल बंधु जुत *पस्यामि* राममनामयं।[6]

पस्यति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा।[7]

जपि नाम तव बिनु स्रम तरहिं भव नाथ सो *समरामहे*।[8]

संभाव्य वर्तमान—के रूप तुलसी की शब्दावली में केवल कुछ स्थलों पर ही उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'जानौं' और होइ' उदाहरण-स्वरूप द्रष्टव्य हैं :—

जननी जौं यहु *जानौं* भेऊ।[9]

जौं यहु *होइ* मोर मत माता।[10]

व्युत्पत्ति—वर्तमानकाल के इन रूपों में व्यवहृत 'त' 'ति' और 'ती' से युक्त रूपों का सबन्ध सस्कृत के वर्तमानकालिक कृदत रूपों से है।

उँ, ऊँ तथा '-औं' प्रत्यय सस्कृत के '-आमि' से ही प्राकृत और अपभ्रश द्वारा क्रमशः विकसित हुए हैं जैसे सस्कृत पृच्छामि 7 प्रा० पुच्छामि 7 अप० पुच्छउँ, पुच्छमु 7 हिं० पूँछउँ।

हि, ही, हु तथा हू प्रत्ययों का सबन्ध सस्कृत के वर्तमानकालिक रूपों के प्रत्यय सि 7 अप० हि से है। 'हिं' और 'हीं' सस्कृत के वर्तमानकालिक बहुवचन (प्रथमपुरुष) के रूपों से सम्बन्धित हैं।

सामान्य भूतकाल

इस काल के रूप तुलसी की भाषा में जितनी बड़ी सख्या तथा जितनी विभिन्नता के साथ उपलब्ध होते हैं उतने और किसी काल के नहीं। इनका निर्माण जिन विभिन्न प्रत्ययों के योग से हुआ है उनका निर्देश उदाहरणसहित किया जा रहा है।

---

१ श्रीकृ० ४ २ रा० २, १२० ३ पा० मं० ११४
४ रा० ३, १६ ५ रा० २, ११६ ६ रा० ६, १०७
७ रा० ३, ३२ ८ रा० ७, १३ ९ रा० २, १६८
१० रा० २, १६७

अन्यपुरुष एकवचन रूप

(क) केवल मूल धातु का प्रयोग जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'टूट' और 'दीख' :

छुवतहि टूट पिनाक पुराना ।[1]
सतीं *दीख* कौतुक मग जाता ।[2]

(ख) मूल धातु के साथ '-आ' का योग :—

रचि महेस निज मानस *राखा*। पाइ सुसमउ सिवा सन *भाषा* ।[3]
किमि लेहिं बाल मराल मन्दर नृपहि अस काहु न *कहा* ।[4]
गौरी निहारेउ सखी मुख रुख पाइ तेहि कारन *कहा* ।[5]

(ग) मूल धातु के साथ '-इ' का योग :

जाइ सासु पद कमल जुग वंदि *बैठि* सिरु नाइ ।[6]

इस प्रकार के रूप की पूर्वकालिक कृदन्त-रूपों से समानता ध्यान देने योग्य है।

(घ) मूल धातु के साथ '-ई' का योग :

कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुलमनि *जानी* ।[7]
बोली मधुर बचन पिक बैनी ।[8]
जनि छोह छाँड़ब बिनय सुनि रघुवीर बहु बिनती *करी* ।[9]
जिन कहँ विधि सुगति न *लिखी* भाल ।[10]
बोली फिरि लखि सखिहिं काँप तनु थर थर ।[11]

(च) मूल धातु के साथ '-ए' का योग :

सकुचि सीयँ तब नयन *उघारे* । सनमुख दोउ रघुसिंघ *निहारे* ।[12]
उठे हरषि सुखसिंधु महुँ *चले* थाह सी लेत ।[13]
सिव *सुमिरे* मुनि सात आइ सिर नाइन्हि ।[14]
कुलगुरु तिय के वचन कमनीय सुनि
सुधि भये बचन जे *सुने* मुनिवर ते ।[15]

(छ) मूल धातु के साथ '-यो' का योग : मंदोदरी *सुन्यो* प्रभु *आयो* ।
कौतुक ही पाथोधि *बँधायो* ।[16]

देखो देखो वन *बन्यो* आजु उमा कंत ।[17]
भूप सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु राखु *कह्यो* नर-नारी ।[18]

---

१ रा० १, २८२ २ रा० १, ५४ ३ रा० १, ३५
४ जा० मं० ६३ ५ पा० मं० ५४ ६ रा० २, ५७
७ रा० १, २५२ ८ रा० २, ११७ ९ जा० मं १६८
१० वि० १३ ११ पा० मं० ६६ १२ रा० १, २३४
१३ रा० १, ३०७ १४ पा० मं० ८४ १५ श्रीकृ० १७
१६ रा० ६, ६ १७ वि० १४ १८ वि० ६३

(ज) मूल धातु के साथ '-ओ' का योग : निज दिसि देखि दयानिधि *पोसो* ।[1]

तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहि *तरो* गयद जाके अर्द्ध नायँ ।[2]

जानकी नाह को नेह लख्यो *पुलको* तनु बारि बिलोचन बाढ़े ।[3]

(झ) मूल धातु के साथ '-एउ' अथवा '-यउ' का योग :

धनुष तोरि हरि सब कर *हरेउ* हरास ।[4]

आपु *चढेउ* स्यंदन सुमिरि हर गुर गौरि गनेसु ।[5]

ध्रुव सगलानि *जपेउ* हरिनाऊँ । *पायउ* अचल अनूपम ठाऊँ ।[6]

छन्द सुविधा के लिए कहीं-कहीं '-एउ' और '-यउ' के स्थान में क्रमश. '-एऊ' तथा '-यऊ' हो गया है; उदाहरणार्थ :—

सादर सिय प्रसाद सिर *धरेऊ* ।[7]

आयउ न उतरु बसिष्ठ लखि बहुभाँति नृप *समझायऊ* ।[8]

तुरत पवनसुत गवनत *भयऊ* ।[9]

(ञ) मूल धातु के साथ '-इयो' का योग :

सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर *लाइयो* ।[10]

मतिमन्द तुलसीदास सो प्रभु मोह बस *बिसराइयो* ।[11]

(ट) मूल धातु के साथ '-एसि' का योग :

गहेसि जाइ मुनि चरन तब कहि सुठि आरत बैन ।[12]

जग जय मद *निदरेसि पायेसि* फर तेउ ।[13]

किहेसि भवँर कर हरवा हृदय बिदारि ।[14]

(ठ) मूल धातु के विकारी रूप के साथ 'न्ह' का योग :

नित्य नेम कृत अरुन उदय जब *कीन्ह* ।[15]

कौसल्या की जेठि *दीन्ह* अनुसासन हो ।[16]

जनक *कीन्ह* पहुनाई अगनित भाँतिन्ह ।[17]

छन्दसुविधार्थ 'न्ह' के स्थान में 'न्हा' का योग कहीं-कहीं हुआ है, उदाहरणार्थ :—

जौं जगदीस इन्हहि बनु *दीन्हा* । कस न सुमनमय मारगु *कीन्हा* ।[18]

---

१ रा० १, २८ २ वि० ८१ ३ क० २, १२
४ बरवै० १५ ५ रा० १, ३०१ ६ रा० १, २६
७ रा० १, २३६ ८ जा० मं० २७ ९ रा० ६, १२१
१० रा० ६, १२१ ११ रा० ६, १२१ १२ रा० १, १२६
१३ पा० मं० २९ १४ बरवै० ३२ १५ बरवै० १३
१६ रा० ल० न० ९ १७ जा० मं० १८१ १८ रा० २, १२१

(ड) मूल धातु के विकारी रूप के साथ 'न्हि' का योग :—

दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ।[1]
पूजि पहुनई कीन्हि पाइ प्रिय पाहुन ।[2]
कीन्हि बेद बिधि लोकरीति नृप मंदिर परम हुलास ।[3]

छन्दसुविधार्थ 'न्हि' के स्थान में 'न्हीं' का योग :—

मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्हीं ।[4]
दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पियारी पेव की ।[5]
कवनि भगति कीन्हीं गुननिधि द्विज ।[6]

'न्हि' अथवा 'न्हीं' का योग उक्त पक्तियों में प्रयुक्त 'असीस', 'पहुनई', 'रीति', 'भगति' आदि स्त्रीलिंग कर्मकारक संज्ञारूपों के कारण हुआ है ।

(ढ) मूल धातु के विकारी रूप के साथ 'न्हे' अथवा 'न्हें' का योग :—

पुनि गुहँ ग्याति बोलि सब लीन्हे ।[7]
निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हे ।[8]
बार बार मुख चूमि चारु मनि बसन निछावर कीन्हें ।[9]
यों कहि सिथिल सनेह बंधु दोउ अंब अंक भरि लीन्हें ।[10]

(ण) मूल धातु के विकारी रूप के साथ 'न्हेउ' का योग :—

अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा ।[11]
ह्वै प्रसन्न दीन्हेउ सिव पद निज ।[12]
रोकि द्वार मैना तब कौतुक कीन्हेउ ।[13]
कोटिन्ह दीन्हेउ दान मेघ जनु बरषइ हो ।[14]

(त) मूल धातु के साथ '-आन' अथवा '-आना' का योग भी कहीं-कहीं मिलता है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्द :—

संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि *सोहान* ।[15]
सुनत बचन दससीस *रिसाना* ।[16]

---

१ रा० १, २१५ २ पा० मं० १७ ३ गी० १, २
४ रा० १, ३४२ ५ पा० मं० १४७ ६ वि० ७
७ रा० २, १०४ ८ वि० ६ ९ गी० १, १०
१० गी० १, १० ११ रा० १, ३०६ १२ वि० ७
१३ पा० मं० १४६ १४ रा० ल० न० १६ १५ रा० १, १२७
१६ रा० ३, २८

(थ) '-ल' में अंत होने वाले 'धायल' और 'दिहल' जैसे भोजपुरी रूप भी निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं :—

अस कहि कोपि गगन पर *धायल* ।[१]
हमहि *दिहल* करि कुटिल करमचँद
मंद मोल बिनु डोला रे ।[२]

अन्यपुरुष बहुवचन के रूप

(क) मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप में '-आ' का योग :—

रमेउ राम मनु देवन्ह *जाना* ।[३]
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख *पावा* ।[४]

(ख) मूल धातु के साथ 'ई' का योग :—

रिषिन्ह गौरि *देखी* तहँ कैसी ।[५]
बिस्वामित्र हेतु पठये नृप इन्हहि ताड़का *मारी* ।[६]
तिन *कही* जग में जगमगति जोरी एक' दूजो को
कहैया औ सुनैया चषचारिखो ।[७]

कहीं-कहीं '-इ' का योग भी मिल जाता है, जैसे :—

अगवानन्ह जब *दीखि* बराता ।[८]

(ग) '-ए' का योग : मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह *रचे* बनाइ ।[९]
गज रथ बाजि बाहिनी बाहन सबनि *सँवारे* साज ।[१०]
धरि धरि सुदर बेष *चले* हरषित हिये ।[११]

(घ) '-ओ' का योग : हौं नहिं अधम सभीत दीन किधौं बेदन मृषा *पुकारो* ।[१२]

(च) '-एउ' का योग : बिप्रन्ह *कहेउ* बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल ।[१३]
होइ सगुन सुभ मंगल जनु कहि *दीन्हेउ* ।[१४]
राम लखन मुनि साथ गवन तब *कीन्हेउ* ।[१५]

(छ) 'यउ' अथवा 'यऊ' का योग :

देव देखि भल समउ मनोज *बुलायउ* ।[१६]
तब सुबाहु-सूदन-जसु सखिन *सुनायउ* ।[१७]
सिय रूपरासि निहारि लोचन-लाहु लोगन्हि *पायऊ* ।[१८]

---

१ रा० ६, ८७ २ वि० १८६ ३ रा० २, १२३
४ रा० २, २४६ ५ रा० १, ७८ ६ गी० १, ६१
७ क० १, १६ ८ रा० १, ३०५ ९ रा० १, २९६
१० गी० १, २ ११ पा० म० ९५ १२ वि० ९४
१३ रा० १, ३१२ १४ जा० म० ३४ १५ जा० म० ३४
१६ पा० म० २८ १७ जा० म० ८७ १८ जा० म० ९०

(ज) 'यो' अथवा 'यो' का योग : रुचिर रूप-आहार-वस्य उन
पावक लोह न *जाम्यो*।[1]
मख *राख्यो* रिपु जीति जान जग मग मुनिबधू उधारी।[2]
नागपास देवन्ह भय *पायो*।[3]
पहिराई जयमाल जानकी जुवतिन्ह मंगल *गायो*।[4]

(झ) न्ह, न्हा, न्हे, न्हें, -इन्हि, और -एन्हि का योग :
सुरन्ह मनहि मन *कीन्ह* प्रनामा।[5]
तुलसी लगन लै *दीन्ह* मुनिन्ह महेस आनँद रँगमँगे।[6]
एहि विधि सबहीं भोजनु *कीन्हा*।[7]
राजन *दीन्हे* हाथी रानिन्ह हार हो।[8]
जिन्ह बहु जन्म सुकृत सब *कीन्हें*।[9]
बाजहिं ढोल निसान सगुन सुभ *पाइन्हि*।[10]
सिय नैहर जनकौर नगर *नियराइन्हि*।[11]
कहेन्हि बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब।[12]

मध्यमपुरुष एकवचन के रूप

(क) मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ '-आ' का योग :—
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहिं *मारा*।[13]
केहि करनी जन जानि कै सनमान *किया* रे।[14]

(ख) मूल धातु के साथ-ई का योग :—
तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय *सुनाई*।[15]
ताहि बाँधिबे को धाई ग्वालिनी गोरसहाई
लै लै आई बावरी दांवरी घर घर ते।[16]

(ग) '-ए' का योग : जो हम *तजे* पाइ गौं मोहन गृह *आए* दै गारी।[17]
पै तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नैन फेरे।[18]

(घ) '-ओ' का-योग : काहे ते हरि मोहिं *बिसारो*।[19]
नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बालविनोद *निहारो*।[20]

---

१ वि० ६२ — २ गी० १, ६१ — ३ रा० ६, ७२
४ गी० १, ६१ — ५ रा० १, १०० — ६ पा० मं० ६६
७ रा० १, ३२६ — ८ रा० २, १०६ — ९ रा० ल० न० १६
१० जा० मं० १३४ — ११ जा० मं० १३४ — १२ पा० मं० १००
१३ रा० ५, २१ — १४ वि० ३२ — १५ रा० २, १०३
१६ श्रीकृ० १७ — १७ श्रीकृ० ६ — १८ वि० ७८
१९ वि० ६१ — २० श्रीकृ० ३४

(च) 'यो' का योग : *जान्यो* मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं ।[१]

मोहमय कुहू निसा विसाल काल विपुल *सोयो*
खोयो सो अनूप रूप स्वप्न हू परे ।[२]

कह्यो मेरो मानि हित जानि तू सयानी बड़ी
बड़े भाग *पायो* पूत विधि हरिहर ते ।[३]

(छ) '-एसि' का योग : *लागेसि* अधम सिखावन मोही ।[४]

(ज) 'एहि' का योग : केहि के बल *घालेहि* बन कीसा ।[५]

(झ) '-इसि' का योग : बहे जात कइ *भइसि* अधारा ।[६]

(ञ) '-इहि' का योग : सूने हरि *आनिहि* परनारी ।[७]

(ट) '-एहु' अथवा 'यहु' का योग : सत्य सराहि *कहेहु* बर देना ।[८]

केहि अपराध असाधु जानि मोहिं *तजेहु* अज्ञ की नाईं ।[९]

भूरि भाग भाजन *भयहु* मोहि समेत बलि जाउँ ।[१०]

(ठ) '-इहु' का योग स्त्रीलिंग कर्ता-रूप का द्योतक है, जैसे :—

भामिनि *भइहु* दूध की माखी ।[११]

तीय रतन तुम *उपजिहु* भव रतनाकर ।[१२]

(ड) '-एउ' अथवा 'यउ' का योग :—

भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा ।[१३]

दोषनिधान इसान सत्य सब *भाषेउ* ।[१४]

मेटि को सकइ सो आँक जो बिधि लिखि *राखेउ* ।[१५]

सहित समाज काननहि *आयउ* ।[१६]

छंदसुविधार्थ '-एउ' तथा 'यउ' के स्थान क्रमशः '-एऊ' तथा 'यऊ' का योग भी हुआ है :—

माँगु माँगु तुम्ह केहिं बल *कहेऊ* ।[१७]

भरत धन्य तुम्ह जग जस *जयऊ* ।[१८]

(ढ) मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ न, न्ह, न्हा, न्हि, न्ही, न्हे तथा न्हो का योग :—

आरति गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलंब न *कीन* ।[१९]

---

१ रा० ६, १०४ २ वि० ७४ ३ श्रीकृ० १७
४ रा० ५, २४ ५ रा० ५, २१ ६ रा० २, २३
७ रा० ६, ३० ८ रा० २, ३० ९ वि० ११२
१० रा० २, ७४ ११ रा० २, १९ १२ पा० मं० ४९
१३ रा० १, २८३ १४ पा० म० ७१ १५ पा० म० ७१
१६ रा० २, ३१९ १७ रा० २, ३५ १८ रा० २, २१०
१९ वि० ९३

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला ।[1]
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।[2]
कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ।[3]
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि
कानन को पगु धारे ।[4]
पाहन पसु विटप बिहँग अपने करि लीन्हे ।[5]
हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।[6]

मध्यमपुरुष बहुवचन के रूप

सामान्य भूतकाल में पुल्लिंग के अंतर्गत ये रूप बहुत ही न्यून मात्रा में (उपलब्ध हैं) तथा स्त्रीलिंग में तो दुर्लभ हैं स्त्रीलिंग बहुवचन-रूपों के अभाव का यह कारण हो सकता है कि वैसे तो ऐसे अवसर ही बहुत कम आये हैं जहाँ बहुत सी स्त्रियों को एक साथ संबोधित किया गया हो और जहाँ कहीं ऐसे प्रसंगों की अवतारणा कवि को करनी ही पड़ी है वहाँ उसने प्रायः परस्पर व्यक्तिगत वार्तालाप की योजना से ही काम चला लिया है।

पुल्लिंग बहुवचन-रूपों का निर्माण सामान्यतः मूल धातु के साथ -ई, -ए तथा हू (जो '-हु' का ही छंदसुविधार्थ परिवर्तित रूप है) के योग से किया गया है। उदाहरणार्थ :—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ।[7]
तुम्ह प्रिय पाहुने वन पगु धारे ।[8]
छुधा न रही तुम्हहि तब काहू । जारत नगर कस न धरि खाहू ।[9]

उत्तमपुरुष एकवचन के रूप

सामान्य भूतकाल में इन रूपों का निर्माण प्रायः दोनों लिंगों में ही मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप में -आ -ई, -ए, -ओ, -इउँ, -एउँ, -एऊँ, यो, यों, न्ह, न्हि, न्ही, न्हे, न्हो, न्हिउँ और न्हेउँ के योग से हुआ है। उदाहरणार्थ :—

(क) -आ का योग : जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ।[10]
नाहिंन कछु अवगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना ।[11]
ज्ञ न भवन तनु दिएहु नाथ सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ।[12]

(ख) -ई का योग : समुझी नहि तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत ।[13]
लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी ।[14]

(ग) -ए का योग : नाथ न मैं समुझे मुनि बैना ।[15]

---

१ रा० १, ५७   २ रा० ३, ४३   ३ रा० २, ३००
४ क० २, २८   ५ वि० ७८   ६ वि० १०२
७ रा० ३, ३०   ८ रा० २, २५१   ९ रा० ६, ९
१० रा० १, २२१   ११ वि ११५   १२ वि० ११४
१३ रा० १, ३०   १४ वि० ३४   १५ रा० १, ७१

देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे
तिरहुतिनाथ साखि देत मही है।[1]
गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न *निहोरे*।[2]

(घ) '-ओ' का योग : नाहिंन नरक परत मो कहँ डर जद्यपि हौं अति *हारो*।[3]
भूत द्रोह कृत मोह बस्य हित आपन मैं न *बिचारो*।[4]

(ङ) -इउँ का योग : देखि गोसाइँहि पूछिउँ माता।[5]
बौरेहि के अनुराग *भइउँ* बड़ि बाउरि।[6]

(च) '-एउँ का योग' : *लहेउँ* आज जग जीवन लाहू।[7]
अस्विनि *बिरचेउँ* मगल सुनि सुख छिनु छिनु।[8]

छंदसुविधार्थ '-एउँ' के स्थान में '-एऊँ' का योग भी कहीं-कहीं हुआ है :—
अवसर पाइ बचन एक *कहेऊँ*।[9]

(छ) '-यो' का योग : तिन रंकन को नाक सँवारत हौं *आयो* नकवानी।[10]
जो दुख मैं *पायो* सुनि सजनी सो तो सबै मन की चतुराई।[11]

(ज) '-यों' का योग : सुनु मातु मैं *पायों* अखिल जग राजु आजु न ससयं।[12]
सहि देख्यों तुम सो *कह्यों* अब नाकहि आई
कौन दिनहु दिन छीजै।[13]

(झ) न्ह, न्हि, न्हीं, न्हे, न्हो, न्हिउँ और 'न्हेउँ' का योग :—

नाथ निपट मैं *कीन्ह* ढिठाई।[14]
बहुत काल मैं *कीन्हि* मजूरी।[15]
भुजबल भूमि भूप बिनु *कीन्हीं*।
बिपुल बार महिदेवन्ह *दीन्हीं*।[16]
मैं यहि परसु काटि बलि *दीन्हे*।
समर जग्य जप कोटिक *कीन्हे*।[17]
आजु लगे *कीन्हिउँ* तुव सेवा।[18]
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।[19]

१	गी० १, ८५	२	वि० ८	३	वि० ६४
४	वि० ११७	५	रा० २, ४५	६	पा० म० ७०
७	रा० १, ३३१	८	पा० म० ५	९	रा० १, १८५
१०	वि० ५	११	श्रीकृ० २५	१२	रा० १, १०७
१३	श्रीकृ० ७	१४	रा० २, ३००	१५	रा० २, १०२
१६	रा० १, २७२	१७	रा० १, २८३	१८	रा० १, २५७
१९	रा० १, २३६				

(ञ) मूल धातु का अकारान्त विकारी रूप भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हो गया है; जैसे :—

मैं अनुमानि *दीख* मन माहीं ।[1]

उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप

पुल्लिग में प्रायः मूल धातु के साथ-आ, -ई, -ईं, -ए, -एउ और -इन्ह के योग से बनाए गये हैं। उदाहरणार्थ :—

(क) '-आ' का योग : आपन चरित *कहा* मैं गाई ।[2]

(ख) -ई का योग : हम देवता परम अधिकारी।

स्वारथ रत प्रभु भगति *बिसारी* ।[3]

(ग) '-ईं' का योग : सुनत समुझत कहत हम सब *भईं* अति अप्रबीन ।[4]

(घ) -ए अथवा-'ये' का योग : *देखे जिते हते* हम केते ।[5]

हम सब सकल सुकृत कै रासी ।

भये जग जनमि जनकपुर बासी ।[6]

'ये' को वस्तुतः 'ए' ही समझना चाहिए। अनुलेखन-विभिन्नता के कारण देखने में भिन्नता प्रतीत होती है।

(च) '-एउ' का योग : *लहेउ* जनमफल आज जनमि जग आइन्ह ।[7]

(छ) '-इन्ह' का योग : हम सब सानुज भरतहिं देखे ।

भइन्ह धन्य जुवती जन लेखे ।[8]

(ज) मूल धातु का अकारात विकारी रूप यहाँ भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हो गया है; जैसे :—

हम सब धन्य सहित परिवारा ।

दीख दरस भरि नयन तुम्हारा ।[9]

आसन्नभूत काल

सामान्यतः केवल पुल्लिग अन्यपुरुष और मध्यमपुरुष के एकवचन में तथा उत्तमपुरुष के दोनों वचनों में इस काल के कुछ रूप मिलते हैं। यह रूप प्रायः सामान्य भूतकाल के रूपों से साम्य रखते हुए भी अर्थ में भिन्नता रखते हैं। इनका निर्माण जिन नियमों के अनुसार हुआ है वे संक्षेप में सोदाहरण दिए जा रहे हैं।

(क) मूल धातु के साथ '-ई' का योग तथा उसके साथ-साथ सहायक क्रिया 'है' का प्रयोग; जैसे :—

यहि लागि तुलसीदास इनकी कथा कछु एक है *कही* ।[10]

भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि मानों त्रिभुवय छवि छवनी ।[11]

---

१ रा० २, १७८ २ रा० ४, २ ३ रा० ६, ११०
४ श्रीकृ० ५५ ५ रा० ३, १६ ६ रा० १, ३१९
७ जा० मं० ६२ ८ रा० २, २२३ ९ रा० २, १३६
१० रा० ५, ३ ११ गी० १, ५६

करी है हरि बालक की सी केलि ।[1]

(ख) मूल धातु के विकारी रूप के साथ '-आ' का योग :—

भेद हमार लेन सठ *आवा* ।[2]

उक्त पंक्ति में प्रयुक्त 'आवा' शब्द के उपरांत आने वाली सहायक क्रिया 'है' का लोप है।

(ग) मूल धातु के साथ '-ए' का योग. मम हित लागि नरेस *पठाए* ।[3]

'पठाए' के उपरांत आने वाले 'है' का लोप है।

(घ) मूल धातु के विकारी रूप के साथ '-ई' का योग :—

सुनहु भरत हम सब सुधि *पाई*।[4]

यहाँ भी 'पाई' के उपरान्त आने वाले 'है' का लोप समझना चाहिए।

(च) मूल धातु के विकारी रूप के साथ '-यउँ' का योग: मैं जाँचन *आयउँ* नृप तोही।[5]

(छ) '-एहु' प्रत्यय का योग. धरम हेतु *अवतरेहु* गोसाईं।
मारेहु मोहिं व्याध की नाईं।[6]

(ज) '-न्ह' का योग : की तुम्ह अखिल भुवनपति *लीन्ह* मनुज अवतार।[7]

(झ) छन्द-सुविधार्थ '-न्ह' के स्थान में '-न्हा' का योग: रायँ राज पद तुम्ह कहुँ *दीन्हा* ।[8]

(ञ) '-न्हेहु' का योग : अब अति *कीन्हेहु* भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।[9]

उपर्युक्त आयउँ अवतरेहु, मारेहु, लीन्ह, दीन्हा और कीन्हेहु आदि रूपों के साथ-साथ भी सहायक क्रिया 'है' का अर्थ निहित है।

पूर्णभूत काल

इस काल के क्रियारूप भी बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इनका प्रयोग केवल अन्यपुरुष पुल्लिंग एकवचन और बहुवचन, मध्यमपुरुष पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग एकवचन तथा उत्तमपुरुष पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग एकवचन के कर्तारूपों के साथ हुआ है। इन रूपों के निर्माण में मूल धातु के अथवा उसके विकारी रूप के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रमुख प्रत्यय -आ, -एउ, -यउ, -एहु, -इहु, न्ह, न्हा और न्हीं हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(क) '-आ' का योग : चलत बिरंचि *कहा* मोहिं चीन्हा।[10]

(ख) '-एउ' का योग : प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा *राखेउ* रुचिर बनाइ।[11]

(ग) '-यउ' का योगः राच्छस *भयउ* रहा मुनि ग्यानी।[12]

---

१ श्रीकृ० २६ २ रा० ५, ४३ ३ रा० १, २१६
४ रा० २, २०६ ५ रा० १, २०७ ६ रा० ४, ६
७ रा० ४, १ ८ रा० २, १७४ ९ रा० २, २०७
१० रा० ५, ४ ११ रा० ४, १२ १२ रा० ५, ५७

(घ) '-एहु' कायोग : देन कहेहु वरदान दुइ तेउ पावत संदेहु ।[१]

(च) '-इहु' का योग : सती सरीर रहिहु बौरानी ।[२]

(छ) 'न्ह' का योग : तव किछु कीन्ह राम रुख जानी ।[३]

छंद 'न्ह' के स्थान में 'न्हा' का योग :—

जब रावनहि ब्रह्म वर दीन्हा ।[४]

(ज) 'न्हीं' का योग : दुर्बासा मोहि दीन्हीं श्रापा ।[५]

अपूर्णभूत काल के रूप तुलसी की शब्दावली के अंतर्गत केवल अन्यपुरुष एकवचन तथा उत्तम पुरुष एकवचन के पुल्लिग कर्तारूपों के साथ कुछ ही स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'खेलत रहा' और 'चाटत रहेउँ' :—

पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो होइ गै भेंटा ।[६]
चाटत रहेउँ स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भर्‌यो ।[७]

संदिग्धभूत काल के रूप भी तुलसी की भाषा में केवल इने-गिने स्थलों पर अन्यपुरुष पुल्लिग एकवचन कर्तारूप के साथ प्रयुक्त हुए हैं; जैसे निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'होइहि कीन्ह' (किया होगा) :—

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना ।[८]

इस प्रकार इस काल के रूप भी तुलसी की भाषा में उपलब्ध क्रियारूपों के अंतर्गत विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखते किन्तु रूप-वैभिन्य की दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है।

हेतुहेतुमद्‌भूत काल के रूपों का प्रयोग भी अधिक नहीं मिलता; तथापि वे उपर्युक्त दोनों कालों की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते हैं। इसके रूपों का निर्माण अन्यपुरुष के दोनों लिंगों में मूल धातु के साथ त, ति, ते और तो प्रत्ययों के योग से; मध्यमपुरुष में 'तेहु' के योग से तथा उत्तमपुरुष में 'तेउँ' प्रत्यय के योग से हुआ है। प्रायः मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष में केवल पुल्लिग एकवचन-रूप ही उपलब्ध होते है। उक्त सभी रूपों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(क) 'त' का योग : जो न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥[९]
प्रथम सुनत जो राउ राम गुन रूपहिं।
बोलि ब्याहि सिय देत दोष नहिं भूपहि ।[१०]

---

१ रा० २, २७ — २ रा० १, १४१ — ३ रा० २, २१८
४ रा० ५, ४ — ५ रा० ३, ३३ — ६ रा० ६, १८
७ वि० २२६ — ८ रा० ७, ६२ — ९ रा० २, २३३
१० जा० मं० ७७

(ख) 'ति' का योग : जो न *होति* सीता सुधि पाई।
मधुबन के फल सकहि कि खाई।[1]

(ग) 'ते' का योग : जो रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहि बिलंब रघुराई।[2]
जौ पै हरि जन के अवगुन *गहते*।[3]
तौ कि जानकिहि जानि जिय *परिहरते* रघुराउ।[4]

(घ) 'तो' का योग : तुलसी जु पै गुमान को *होतो* कछू उपाउ।[5]
न तरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाइ चाप
देतो पै देखाइ बल फल पापमई है।[6]
जो पै चेराई राय की करत न *लजातो*।
तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर कर न *बिकातो*।[7]

(च) 'तेहु' का योग : जौ तुम्ह *अवतेहु* मुनि की नाईं।[8]

(छ) 'तेउँ' का योग : जो *जनतेउँ* बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन *मनतेउँ* नहिं ओहू।[9]
बूढ़ भयेउँ न त *करतेउँ* कछुक सहाय तुम्हार।[10]

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से सामान्यभूत काल तथा आसन्नभूत काल के प्रमुख प्रत्यय एउँ, एहि और एसि विशेष रूप से विचारणीय हैं। श्री केलाग के मतानुसार एक-वचन-रूपों के अंतर्गत प्रयुक्त उक्त सभी प्रत्यय संस्कृत के √अस के ही अस्मि और असि आदि विभिन्न रूपों से संबन्धित हैं।† हेतुहेतुमद्‌भूत काल के त, ति, ते और तो आदि प्रत्ययों की व्युत्पत्ति संस्कृत के वर्तमानकालिक कृदत-प्रत्यय 'शतृ' से मानी जा सकती है। इनमें 'उँ' और 'हुँ' को सर्वनाम-रूपों का द्योतक अथवा सहायक क्रिया-रूपों का अवशेष मान सकते हैं।

सामान्यभविष्य काल

इस काल के रूप तुलसी की शब्दावली के अंतर्गत विविधरूपता और प्रयोग-बाहुल्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। इस काल के रूपों का निर्माण जिन विविध प्रत्ययों के योग से हुआ है उनका संक्षिप्त निर्देश क्रमशः किया जा रहा है।

अन्यपुरुष एकवचन के रूप .

(क) मूल धातु के साथ : '-इहि' के योग से बने हुए रूप :—
जो न *मिलिहि* बर गिरिजहि जोगू।[11]

---

१ रा० ५, २९ २ रा० ५, १६ ३ वि० ९७
४ दो० ४९३ ५ दो० ४९३ ६ गी० १, ८३
७ वि० १५१ ८ रा० १, २८२ ९ रा० ६, ६१
१० रा० ४, २८ ११ रा० १, ७१
† केलाग : हिंदी ग्रामर § ६०८

सुर नर मुनि करि अभय दनुज
हति हरिहि धरनि गरुआई।[१]

छंद-सुविधार्थ '-इहि' के स्थान में '-इही' का योग भी हुआ है, जैसे :—

मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु *करिही*।
उर अपराध न एकउ *धरिही*॥[२]

(ख) 'इहै' का योग : को कृपालु बिनु *पालिहै* बिरुदावलि बरजोर।[३]
ताकिहै तमकि ताकी ओर को।[४]
तुमहिं बिलोकि आन की ऐसी क्यों *कहिहै* वर नारी।[५]

(ग) 'इहैं' का योग आदरार्थ कर्ता-रूप का द्योतक है, जैसे :—

करिहैं राम भावतो मन को
सुख साधन अनयास महाफलु।[६]
सानुज राज समाज *बिराजिहैं* राम पिनाक चढ़ाइ कै।[७]
तुलसी प्रभु *भंजिहैं* संभु धनु,
भूरि भाग सिय मातु पितौ री।[८]

(घ) '-ऐहै' का योग : ह्वैहै बिष भोजन जो सुधा सानि खायगो।[९]
को भोर ही उबटि *अन्हवैहै* काढ़ि कलेऊ दैहै।[१०]
जनक को सिय को हमारो तेरो तुलसी को
सबको भावतो ह्वैहै जों मैं कह्यो कालि री।[११]

'-ऐहै' को अनुलेखन-विविधता के आधार पर '-इहै' प्रत्यय का ही रूपांतर समझना चाहिए। ह्वै है और 'होइहै' में कोई विशेष भिन्नता नहीं है।

(च) आदरार्थ में '-इहहिं' प्रत्यय का योग :

तुम्हहिं सहित असवार बसह जब *होइहहिं*।[१२]

(छ) 'ब' प्रत्यय का योग : *भंजब* धनुपु राम सुनु रानी।[१३]
जौं एहिं खल नित *करब* अहारू।[१४]

(ज) आदरार्थ 'हिंगे' का योग : राम अहेरे *चलहिंगे* जब
गज रथ बाजि सवाँरि।[१५]

(झ) '-इगी' का योग : तुलसी त्यों त्यों *होइगी* गरुई ज्यों ज्यों कामरि भीजै।[१६]
इस प्रत्यय का योग स्त्रीलिंग कर्तारूप का द्योतक है।

---

१ गी० १, १३	२ रा० ५, ५७	३ रा० २, २६६
४ वि० ३१	५ श्रीकृ० ६	६ वि० २४
७ गी० १, ६८	८ गी० १, ७५	९ वि० ६८
१० गी० १, ६७	११ क० १, १२	१२ पा० मं० ६४
१३ रा० १, २५७	१४ रा० १, १७७	१५ गी० १, १६
१६ श्रीकृ० ८		

(ञ) '-ऐगो' प्रत्यय का योग : आरति गिरा सुनत प्रभु अभय *करैगो* तोहि ।[१]
तुलसी परमेस्वर न *सहैगो* हम अबलनि सब सही है ।[२]
छुवत सरासन सलभ *जरैगो* ये दिनकर वंस दिया रे ।[३]

(ट) कहीं-कहीं धातुओं के आकारान्त सामान्य एवं भूतकालिक-रूप भविष्य काल के अर्थ में व्यवहृत हो गये हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'आवा' और 'पावा' :—

मास दिवस महँ नाथ न *आवा* ।
तौ पुनि मोहि जियत नहीं *पावा* ॥[४]

खड़ीबोली के आधुनिक रूपों में भी इस प्रकार के प्रयोगों का बाहुल्य मिलता है, जैसे यदि आप न आये तो अच्छा न होगा। उक्त प्रयोग को भी इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए।

अन्यपुरुष बहुवचन के रूप :

(क) '-इहहिं' का योग : जे देखहिं *देखिहहि* जिन्ह देखे ।[५]
जम धार सरिस निहारि सब नर नारि *चलिहहिं* भागि कै ।[६]

(ख) '-इहैं' का योग : त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि *बखानिहैं* ।[७]
भूरि भाग तुलसी तेऊ जे *सुनिहैं गाइहैं बखानिहैं* ।[८]
जुगुति धूम बघारिबे की *समुझिहैं* न गवाँरि ।[९]

(ग) '-इहिं' का योग : तुम्हरे चलत *चलिहिं* सब लोगू ।[१०]
उबटो न्हाहु गुहौं चोटिया बलि
देखि भलो बर *करिहि* बड़ाई ।[११]

(घ) '-ऐहैं' का योग : *लैहैं* लोचन लाहु सफल लखि ललित मनोहर बेली ।[१२]
ह्वैहैं सकल सुकृत फल भाजन लोचन लाहु लुटैया ।[१३]

'-ऐहैं' प्रत्यय को अनुलेखन-विविधता की दृष्टि से '-इहैं' का ही रूपान्तर समझना चाहिए। 'लैहैं' और 'ह्वै हैं' क्रमशः 'लइहैं' और 'होइहैं' के ही समान हैं।

(च) 'हिंगे' का योग : ह्वैगे हैं जे *होहिंगे* आगे तेइ गनियत बड़भागी ।[१४]
मेरे बालक कैसे धौं मग *निबहहिंगे* ।[१५]

मध्यमपुरुष के रूप—इनका विश्लेषण करने से पूर्व दो बातों का संकेत कर देना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि इनमें स्त्रीलिंग बहुवचन-रूप विरल हैं और द्वितीय यह कि इनके एकवचन-रूप दोनों लिंगों में समान हैं। इनका निर्माण जिन विभिन्न प्रत्ययों के सहारे हुआ है उनका संक्षिप्त सोदाहरण निर्देश किया जा रहा है।

---

१ रा० ६, २०   २ श्रीकृ० ४२   ३ गी० १, ६६
४ रा० ५, २७   ५ रा० २, १२०   ६ पा० मं० ६३
७ रा० ४, ३०   ८ गी० १, ७८   ९ श्रीकृ० ५३
१० रा० २, १८८   ११ श्रीकृ० १३   १२ गी० १, ८
१३ गी० १, ९   १४ वि० ६५   १५ गी० १, ९७

मध्यमपुरुष एकवचन के रूप :

(क) मूल धातु के साथ '-सि' का योग :

राम बिरोध न *उबरसि* सरन बिष्नु अज ईस ।[१]
पुनि अस कबहुँ *कहसि* घरफोरी ।[२]

रूप-रचना की दृष्टि से ये वर्तमान के रूप होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से भविष्य कालिक रूप हैं ।

(ख) मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ ब, बा अथवा बो का योग :

समुझब कहब करब तुम्ह जोई ।[३]
पछिताब भूत पिसाच प्रेत जनेत ऐहैं साजि कै ।[४]
फिरती बार मोहिं जो *देबा* ।[५]
जब *सोइबो* तात यों हौं कहि
नयन मींचि रहे पौढ़ि कन्हाई ।[६]

(ग) '-इहहु' का योग : राम काज सब *करिहहु* तुम्ह बल बुद्धि निधान ।[७]
हिये हेरि हठ तजहु हठै दुख *पैहहु* ।[८]

'पैहहु' में निहित '-ऐहहु' को 'अ + इहहु' के रूप में ग्रहण करना चाहिए । बाह्य भेद अनुलेखन विविधता के कारण दिखाई देता है ।

(घ) 'हिगो' तथा 'हुगे' प्रत्ययों का प्रयोग :

याको फल *पावहिगो* आगे ।[९]
पावहुगे फल आपन कीन्हा ।[१०]

(च) '-इहै तथा '-इहौ का योग :

भलो भली भाँति है जो मेरे कहे *लागिहै* ।[११]
जौं पै जिय *धरिहौ* अवगुन जन के ।[१२]

(छ) 'यगो' का योग : ह्वैहै बिष भोजन जो सुधा सानि *खायगो* ।[१३]

(ज) 'औगी' प्रत्यय का योग स्त्रीलिङ्ग कर्तारूपों के साथ कहीं-कहीं मिल जाता है, जैसे :—

रहौगी कहौगी तब साँची कही अंबा सिय
गहे पाँव द्वै उठाय माथे हाथ धरिकै ।[१४]

---

१ रा० ५, ५६   २ रा० २, १४   ३ रा० २, २२३
४ पा० मं० ६३   ५ रा० २, १०२   ६ श्रीकृ० १३
७ रा० ५, २   ८ पा० मं० ६२   ९ रा० ६, ३३
१० रा० १, १३७   ११ वि० ७०   १२ वि० ९६
१३ वि० ६८   १४ गी० १, ७०

मध्यमपुरुष बहुवचन के रूप :

(क) मूल धातु के साथ 'ब' का योग : आयसु देब न करब सँकोचू।[1]

(ख) '-ऐहहु' का योग : हँसी करैहहु पर पुर जाई।[2]

(ग) '-इहौ' का योग : छगन मगन अँगना *खेलिहौ* मिलि
ठुमुक-ठुमुक कब *धैहौं*।[3]

'धैहो' को 'धाइहौ' का ही रूपान्तर समझना चाहिए।

उत्तमपुरुष एकवचन के रूप :

(क) मूल धातु के साथ '-इहउँ' का योग : नारद वचन सत्य सब *करिहउँ*।[4]
कबहिं बोलाइ लगाइ हिय हरपि *निरखिहउँ* गात।[5]

अनुलेखन विविधता के आधार पर '-इहउँ' के ही दूसरे रूप '-इहौं' का योग भी मिलता है, जैसे :—

सबै भाँति पिय सेवा *करिहौं*।[6]
सोई हौं बूझत राजसभा धनु को दल्यो ?
हौं *दलिहौं* बल ताको।[7]
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पायँ
पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।[8]
सुख नींद कहति आलि *आइहौं*।[9]

(ख) '-ऐहौं' का योग : अब लौं नसानी अब न *नसैहौं*।[10]
सिगरियै हौं ही *खैहौं* बलदाऊ को न दैहौं
सो क्यों भट्ट तेरो कह्यो, कहि इत उत जात।[11]
तुलसी निरखि हरखि उर *लैहौं* बिधि ह्वैहै दिन सोऊ।[12]

(ग) '-औं' का योग : जौं तुम तजहु *भजौं* न आन प्रभु यह प्रमान पन मोरे।[13]

'भजौं' रूप रूप-रचना की दृष्टि से वर्तमान कालिक होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से भविष्य कालिक है।

(घ) 'ब' 'बा' और 'बि' का योग जानत अर्थ अनर्थ रूप तम
कूप परब यहि लागे।[14]
नाहिं त मौन रहब दिन राती।[15]

---

१ रा० २, ३२३ — २ रा० १, ६३ — ३ गी० १, ८
४ रा० १, १८७ — ५ रा० २, ६८ — ६ रा० २, ६७
७ क० १, २० — ८ क० २, १२ — ९ गी० १, १८
१० वि० १०५ — ११ श्रीकृ० २ — १२ गी० १, ६७
१३ वि० ११२ — १४ वि० ११० — १५ रा० २, १६

जोइ पूँछिहि तेहि ऊतरु देवा।
जाइ अवध अब यहु सुख लेवा।[१]
जिअत न करबि सवति सेवकाई।[२]
तदपि देबि मैं देबि असीसा।[३]

(घ) '-उँगो' तथा '-औंगो' का योग : महराज राम पहँ जाउँगो।[४]
कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।[५]

उत्तमपुरुष बहुवचन के रूपों का निर्माण प्रायः मूल धातु के साथ 'व' और कहीं-कहीं मूल धातु के विकारी रूप के साथ '-ऐहैं' के योग से हुआ है; उदाहरणार्थ :—

हम सब भाँति करब सेवकाई।[६]
देखब कोटि बिआह जियत जो बाँचिय।[७]
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना।
नहिं जैहैं जुबराज प्रवीना।[८]

कहीं-कहीं वर्तमानकाल के बहुवचन-रूप जो '-हि' और 'हीं' प्रत्ययों के सहारे बनाए गए हैं, अर्थ की दृष्टि से भविष्य कालिक रूपों के अन्तर्गत आ जाते हैं; जैसे :—

राम प्रताप नाथ बल तोरे।
करहि कटक बिनु भट बिनु घोरे।[९]
जीवत पाउँ न पाछे धरहीं। रुंड मुंडमय मेदिनि करहीं।[१०]

संभाव्यभविष्य काल

इस काल के रूप रूप-निर्माण की दृष्टि से वर्तमान कालिक रूपों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता होने के कारण इनका अपना अलग महत्व है। इनका संक्षिप्त निर्देश किया जा रहा है।

अन्यपुरुष एकवचन के रूप :

(क) मूल धातु के साथ '-इ' के योग से बने हुए रूप : सुनि रजाइ कदराइ न कोई।[११]
को करि वादविवाद विषाद बढ़ावइ।[१२]

छन्द-सुविधार्थ '-इ' के स्थान में '-ई' का योग : मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई।[१३]

(ख) '-उ' अथवा '-ऊ' के योग से बने हुए रूप: पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ।[१४]
एक कहँ कछु होउ सुफल भये जीवन जनम हमारे।[१५]

१	रा० २, १४६	२	रा० २, २१	३	रा० २, १०३
४	गी० ५, २०	५	वि० १७२	६	रा० २, १३६
७	पा० मं० ११६	८	रा० ४, २६	९	रा० २, १९२
१०	रा० २, १९२	११	रा० २, १९१	१२	पा० मं० ७२
१३	रा० २, २३२	१४	रा० २, ४	१५	गी० १, ६६

कोउ भल कहहु देउ कछु कोऊ
असि बासना न उर ते जाई ।[१]

ये पुराने आज्ञार्थक वर्तमान-रूप हैं जो सभाव्यभविष्य काल में प्रयुक्त हैं।

(ग) 'ऐ' का योग : जो विधि बस अस बनै संजोगू।[२]
जौं चित चढ़ैं नाम महिमा जिन गुनगन पावन पन के।[३]
परसे पगधूरि तरै तरनी घरनी घर क्यो समुझाइहौं जू।[४]

'-ऐ' को अनुलेखन-विविधता के आधार पर '-इ' प्रत्यय का ही रूपान्तर समझना चाहिए क्योंकि 'बनै' और 'बनइ', 'चढ़ै' और 'चढ़इ' तथा 'तरै' और 'तरइ' समान रूप हैं।

(घ) '-हि' का योग : कहहु लालसा होहि न केही।[५]
बकि जनि उठहि बहोरि कुजुगुति सँवारहि।[६]

(च) (आदरार्थ में) 'हिं' अथवा 'हीं' का योग : करै सो तप जेहि *मिलहिं* महेसू।[७]
बहुरहि लखन भरत बन *जाहीं*।[८]

(छ) 'हु' अथवा 'हुँ' का योग : सबहि जिअत जेहि *भेंटहु* आई।[९]
कोउ भल कहहु देउ कछु कोऊ
असि बासना न उर ते जाई।[१०]
तौ सिव धनु मृणाल की नाईं। तोरहुँ राम गनेस गोसाईं।[११]

(ज) केवल मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप का व्यवहार :—
जाते रह नरनाह सुखारी।[१२]
जेहि बिधि अवध *आव* फिरि सीया।[१३]

अन्यपुरुष बहुवचन के रूप :

(क) मूल धातु के साथ '-इ' का योग : अब जनि देइ दोष मोहिं लोगू।[१४]

(ख) '-उ' का योग : लोग कहउ गुर साहिब द्रोही।[१५]

छंद-सुविधार्थ '-उ' के स्थान में '-ऊ' का योग : सुजस सुकृत परलोक *नसाऊ*।[१६]

(ग) '-ऐ' का योग : सो सब करै मोर मत एहू।[१७]

'करै' को 'करइ' अथवा 'देइ' जैसे रूपों के ही समान समझना चाहिए, यद्यपि बाह्य रूप में एक के साथ '-ऐ' तथा दूसरे के साथ '-इ' प्रत्यय का योग दिखाई पड़ता है। अनु-लेखन-पद्धति की विविधता ही इसका कारण है।

१	वि० ११६	२	रा० १, २२२	३	वि० ६६
४	क० २, ६	५	रा० १, ३४५	६	पा० म० ७६
७	रा० १, ७२	८	रा० २, २८६	९	रा० २, ५७
१०	वि० ११६	११	रा० १, २५५	१२	रा० २, १५२
१३	रा० २, ६६	१४	रा० १, २७५	१५	रा० २, २०५
१६	रा० २, ७६	१७	रा० २, ७६		

(घ) '-हु' का योग : कै ए सदा बसहु इन नयनन्हि
कै ए नयन जाहु जित ए री ।[१]

(च) 'हुँ' का योग : सुनु सुत सद्गुन सकल तव हृदय बसहुँ हनुमंत ।[२]

(छ) 'हिं' का योग : कहुँ तिय होहिं सयानि सुनहिं सिख राउरि ।[३]

मध्यमपुरुष के रूप इस काल के अंतर्गत प्रायः दोनों लिंगों और वचनों में समान होते हैं और उनका निर्माण मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ हु, हू, तथा 'य' के योग से हुआ है । 'हु' प्रत्यय का योग अधिक व्यापक है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं ।

(क) 'हु' का योग : जो तुम सुख मानहु मन माहीं ।[४]
तुलसिदास प्रभु पथ चढ़्यो जो लेहु निवाहि ।[५]
अब जो कहहु सो करउँ बिलंब न यहि घरि ।[६]

छंदसुविधार्थ 'हु' का 'हू' हो गया है; जैसे—जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू ।[७]

(ख) 'य' का योग : तौ लौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपिहै ।[८]

उत्तमपुरुष एकवचन के रूप :

(क) मूल धातु के साथ '-उँ' का योग : जाउँ राम पहँ आयसु देहू ।[९]
अब जो कहहु सो करउँ बिलंब न यहि घरि ।[१०]

छंदसुविधार्थ '-उँ' के स्थान में '-ऊँ' का योग : सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ ।[११]
साँचे परे पाऊँ पान पंचन में पन प्रमान
तुलसीदास एक आस राम स्याम घन की ।[१२]

(ख) '-औं' का योग : जौं राउर अनुसासन पावौं । नगर देखाइ तुरत लै आवौं ।[१३]
सोइ सुख अवध उमगि रह्यो दसदिसि
कौन जतन कहौं गाई ।[१४]
तुलसी बंक बिलोकनि मृदु मुसकानि ।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि ॥[१५]
उबटौं न्हाहु गुहौं चोटिया बलि
देखि भलो वर करिहिं बड़ाई ।[१६]

उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप :

(क) '-हिं' का योग : हम सँग चलहि जो आयसु होई ।[१७]

छंदसुविधार्थ 'हि' का 'हीं' हो गया है, जैसे—नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं ।[१८]

---

१ गी० १, ७६ — २ रा० ६, १०७ — ३ पा० मं० ७०
४ रा० ५, १७ — ५ वि० १०८ — ६ पा० मं० ८२
७ रा० २, १०८ — ८ वि० ६८ — ९ रा० २, १७८
१० पा० मं० ८२ — ११ रा० १, २५२ — १२ वि० ७५
१३ रा० १, २१८ — १४ गी० १, १ — १५ बरवै० १०
१६ श्रीकृ० १२ — १७ रा० २, ११२ — १८ रा० २, १०६

(ख) 'ई' अथवा '-ई' का योग : अब सोइ जतन करहु मन *लाई* ।
जेहि बिधि सीता कै सुधि *पाई* ॥[1]
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ *जाई* का *करी* ।[2]

व्युत्पत्ति—सामान्यभविष्य और सभाव्यभविष्य काल के रूपों में प्रयुक्त होने वाले उक्त प्रत्ययों के अतर्गत व्युत्पत्ति की दृष्टि से -इ, -उ, -औं, ब तथा 'हिं' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। स्फुट प्रत्ययों में 'हिगो' और 'हुगो' प्रमुख रूप से विचारणीय हैं।

-इ, -उ, और -औं का सबध क्रमशः संस्कृत धातुओं के वर्तमान कालिक रूप पठति, वदति आदि में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय 'ति', आज्ञार्थक रूप 'करोतु' एव 'कुरु' आदि के '-उ' तथा पठामि (उत्तमपुरुष एकवचन वर्तमान कालिक रूप) के 'मि' से जोडना युक्तिसंगत होगा जो क्रमशः प्राकृत और अपभ्रश में होते हुए विकसित हुए हैं। इसी प्रकार '-हिं' का मूल 'पठन्ति' जैसे अन्यपुरुष बहुवचन वर्तमान कालिक रूपों में प्रयुक्त सस्कृत-प्रत्यय में खोज सकते हैं; जैसे सं० चलन्ति 7 प्रा० चलति 7 अप० चलहिं 7, हि० चलहिं।

'-ब' की व्युत्पत्ति सस्कृत के भविष्य-कृदत प्रत्यय 'तव्य' से स्पष्ट है, जैसे स० कर्त्तव्य 7 प्रा० करेअव्वं, करिअव्वं 7 हिं करब।

हिगो, हुगो आदि स्फुट प्रत्ययों में निहित 'ग' का सबध सस्कृत √गम् के भूत कालिक कृदत गतः 7 प्रा० गदो, गओ से जोडा जाता है।*

परोक्षविधि काल†

इस काल के रूपों का निर्माण मूल धातु अथवा उसके विकारी रूप के साथ -एसि, -एसु, -एहु, -एहू, यहु, ब, बि, बी, -इबी, -इबे और -इबो के योग से मध्यमपुरुष में तथा 'हु', '-ऐ' और '-ओ' के योग से अन्यपुरुष में हुआ है। इस काल में मध्यमपुरुष के रूप ही प्रधानता रखते हैं, अन्य की सख्या नगण्य-सी है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(क) '-एसि' और '-एसु' का योग : *मारेसि* जनि सुत *बाँधेसु* ताही।[3]

(ख) '-एहु' का योग : पितु समीप तब *जाएहु* भइया।[4]
अब गृह जाहु सखा सब *भजेहु* मोहिं दृढ़ नेम।[5]
सदा सर्बगत सर्बहित जानि *करेहु* अति प्रेम॥[6]

---

१ रा० ४, २१ २ क० ७, ९७ ३ रा० ५, १९
४ रा० २, ५३ ५ रा० ७, १६ ६ रा० ७, १६

* बीम्स—क० ग्रामर भाग ३ § ५४

† परोक्ष विधिकाल के रूप वस्तुतः आज्ञा अथवा प्रत्यक्ष विधि तथा संभाव्य भविष्य के मध्यस्थ रूप हैं। इनमें भावी कार्य के लिए सकेत मात्र रहता है। 'आज्ञा' की प्रभावात्मकता नहीं रहती और न 'संभाव्य भविष्य' की तटस्थता ही।

छंदसुविधार्थ '-एहु' का '-एहू' भी हो गया है; जैसे—

सास ससुर गुर सेवा करेहू ।
पति रुख लखि आयसु *अनुसरेहू* ॥[१]

(ग) 'यहु' का योग : जाहु हिमाचल गेह प्रसंग *चलायहु* ।[२]
जो मन मान तुम्हार तौ लगन *लिखायहु* ।[३]

(घ) 'ब' का योग : आरति बस सन्मुख भयउँ बिलग न *मानब* बात ।[४]
अनुचर *जानब* राउ सहित पुर परिजन ।[५]
देबि करौं कछु बिनय बिलग नहिं *मानब* ।
कहौं सनेह सुभाय सोंच जिय *जानब* ॥[६]

(च) 'बि' का योग : सब कर सार सँभार गोसाईं ।
करबि जनक जननी की नाईं ॥[७]
गहि सिव पद कह सासु बिनय मृदु *मानबि* ।
गौरि सँजीवनि मूरि मोरि जिय *जानबि* ॥[८]
तात तजिय जनि छोह मया राखबि मन ।[९]

(छ) '-इबी' का योग : परिवार पुरजन मोहि राजन प्रानप्रिय सिय *जानिबी* ॥[१०]
बूझिहैं सो है कौन *कहिबी* नाम दसा जनाइ ।[११]
मेरिऔ सुधि *धाइबी* कछु करुन कथा चलाइ ।[१२]
कहि आयो *कीबी* छमा निज ओर निहारि ।[१३]

(ज) '-इबे' का योग : यहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथलए ।[१४]
तुलसी तब के से अजहूँ *जानिबे* रघुबर नगर बसैया ।[१५]

(झ) '-इबो' का योग : अपराध *छमिबो* बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो कई । [१६]
इहै जानिकै तुलसी तिहारो जन भयो न्यारो
कै *गनिबो* जहाँ गने गरीब गुलाम ।[१७]

(ञ) 'हु' का योग : असही दुसहो *मरहु* मनहिं मन बैरिन *बढ़हु* बिषाद ।[१८]

(ट) '-ऐ' का योग : ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन *पावै* ।[१९]

---

१ रा० १, ३३४ | २ पा० मं० ८७ | ३ पा० मं० ८७
४ रा० २, ६७ | ५ जा० म० १८८ | ६ पा० मं० ४८
७ रा० २, ८० | ८ पा० मं० १५७ | ९ जा० मं० १८८
१० रा० १, ३३६ | ११ वि० ४१ | १२ वि० ४१
१३ वि० ३४ | १४ रा० १, ३२६ | १५ गी० १, ६
१६ रा० १, ३२६ | १७ वि० ७७ | १८ गी० १, २
१९ वि० ७९

उक्त रूप वस्तुतः वर्तमान कालिक होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से इस काल में प्रयुक्त है।

(ठ) '-ओ' का योग : मूरति कृपालु मंजु माल दै बोलत भई
पूजो मन कामना भावतो वर बरिकै।[१]

प्रत्यक्ष विधि काल†

इस काल के रूप भी केवल अन्यपुरुष और मध्यमपुरुष में मिलते हैं और इनमें भी प्रधानता मध्यमपुरुष के रूपों की है। अन्यपुरुष के रूप प्रायः एकवचन में और बहुत अल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इनका निर्माण जिन विभिन्न प्रत्ययों के सहारे हुआ है उनका संक्षिप्त निर्देश किया जा रहा है। अन्यपुरुष के रूप मूल धातु के साथ '-उ' अथवा '-ऊ' के योग से बने हैं, उदाहरणार्थ :—

करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।[२]
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई।[३]
तिन्ह कै गति मोहिं संकर देऊ।[४]

मध्यमपुरुष के रूपों के सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं :— प्रथम तो यह कि इनमें लिंग के कारण कोई परिवर्तन नहीं दृष्टिगोचर होता। द्वितीय यह कि इनके दो प्रकार के रूप मिलते हैं :—

(१) सामान्य रूप (२) आदरसूचक रूप।*

वैसे तो सभी कालों में कुछ न कुछ आदरार्थ प्रयोग मिल जाते हैं, परन्तु इस काल में पर्याप्त मात्रा में उनके निजी निश्चित रूप होने के कारण उनका विशेष महत्व है। सामान्य रूपों का निर्माण निम्नलिखित नियमों के अनुसार हुआ है :—

एकवचन-रूप :

(क) मूल धातु के अंतिम अक्षर को उकारांत अथवा ऊकारांत करके :—

बेगि आनु जल पाय पखारू।[५]
सुनु सखि भूपति भलोइ कियो री।[६]
सिव सिव ह्वै प्रसन्न करु दाया।[७]
जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।[८]

---

† यह संस्कृत के लोट् लकार का समानार्थी है।

* इसमें किसी आदरणीय व्यक्ति को संबोधित करने का अभिप्राय निहित है।

१ गी० १, ७०   २ रा० १, आरम्भिक सोरठा नं० १
३ रा० २, १०   ४ रा० २, १६८   ५ रा० २, १०१
६ गी० १, ७७   ७ वि० ६   ८ वि० ७३

(ख) मूल धातु के अंतिम अक्षर को इकारात करके :—

एकहि साधन सब रिधि सिधि *साधि* रे।[1]
धुआँ के से धौरहर देखि तू न *भूलि* रे।[2]
मानि प्रतीति कहे मेरे तें कत संदेह बस करति हियो री।[3]

(ग) मूल धातु के साथ '-ऐ'.का योग :

जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।[4]
'छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै
'तू दे री मैया' लै कन्हैया' 'सो कब ?' 'अबहिं तात'।[5]

(घ) '-ओ' का योग : देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकंत।[6]
छाँडो मेरे ललित ललन लरिकाई।[7]
लीन्हें जयमाल कर कंज सौहैं जानकी *पहिराओ*
राघो जू को सखियों सिखावती।[8]

(च) '-औ' का योग: प्रात भयो तात बलि मातु बिधु बदन पर
मदन वारौं कोटि *उठौ* प्रानप्यारे।[9]
नेकु सुमुखि चित लाइ *चितौ* री।[10]
ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल *कहौ* समुझाइ।[11]
जल को गए लक्खन हैं लरिका *परिखौ*
पिय छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े।[12]

(छ) 'हि' अथवा 'ही' का योग : *भजहि* राम तजि काम मद *करहि* सदा सतसंग।[13]
मंत्र सो जाइ *जपहि* जो जपत भे
अजर अमर हर अँचइ हलाहल।[14]
अब- जनि बतबढ़ाव खल *करही*।
सुनु मम बचन मान *परिहरही*॥[15]

(ज) 'हु' अथवा 'हू' का योग : उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा॥[16]
निज घर की बर बात *बिलोकहु* हौ तुम परम सयानी।[17]
मातु मुदित मन आयसु देहू।[18]

१	वि० ६६	२	वि० ६६	३	गी० १, ७७
४	वि० ७३	५	श्रीकृ० २	६	वि० १४
७	श्रीकृ० १३	८	क० १, १३	९	गी० १, ३४
१०	गी० १, ७५	११	रा० ३, १४	१२	क० २, ११
१३	रा० ३, ४६ ख	१४	वि० २४	१५	रा० ६, ३०
१६	रा० १, २५४	१७	वि० ५	१८	रा० १, ३३१

(भ) 'सि' का योग : आइ पाइ पुनि देखिहौं मनु जनि *करसि* मलान ।[1]

(व) 'य' का योग : द्वंद विपति भव फंद *विभंजय* ।[2]

हृदि वसि राम काम मद *गंजय* ।[3]

ये रूप संस्कृत के आज्ञार्थक रूपों से लगभग पूर्ण साम्य रखते हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है।

बहुवचन-रूप :

(क) 'हु' और 'हू' के योग से बने हुए रूप : *सुनहु* सकल पुरजन मम बानी ।[4]

चरन बंदि बिनवौं सब काहू । देहु राम पद नेह निवाहू ॥[5]

राम चरन पंकज उर धरहू । कौतुक एक भालु कपि *करहू* ॥[6]

सब रूप-बिछोहनि जानि मूरति जनक कौतुक *देखहू* ।[7]

जनु सिंधु नृप बल जल बढ़्यो रघुबरहिं कुंभज *लेखहू* ।[8]

(ख) '-ओ' तथा '-औ' का योग : सुनो भइया सकल भूप दै कान ।[9]

जगदंबा जगत पितु राम भद्र जानि जिय

जोवो जौ न लागै मुहँ कारखी ।[10]

(ग) '-इये' का योग : भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सों

लोक लखि *बोलिये* प्रगति-रीत मारखी ।[11]

आधुनिक खड़ीबोली में बहुलता से प्रचलित ऐसे रूपों से उक्त रूप का साम्य ध्यान देने योग्य है।

(घ) '-इय' अथवा 'इअ' का योग : सपत ऋषिन्ह बिधि कहेउ विलंब न *लाइय* ।[12]

लगन बेर भइ बेगि बिधान *बनाइय* ।[13]

हथवासहु बोरहु तरनि *कीजिअ* घाटारोहु ।[14]

आदरसूचक रूपों का निर्माण इस काल में निम्नलिखित नियमों के अनुसार हुआ है :—

(क) मूल धातु के साथ '-इअ' अथवा '-इय' का योग :—

लेइअ संग मोहि *छाँड़िअ* जनि ।[15]

आयसु *देइय* हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु बात ।[16]

प्रेम पुलक कह राम '*करिय* अब राजन ।'[17]

---

१ रा० २, ५३ — २ रा० ७, ३४ — ३ रा० ७, ३४

४ रा० ७, ४३ — ५ वि० ३६ — ६ रा० ६, १

७ जा० म० १०८ — ८ जा० म० १०८ — ९ गी० १, ८७

१० क० १, १५ — ११ क० १, १५ — १२ पा० म० १३६

१३ पा० म० १३६ — १४ रा० २, १८९ — १५ रा० २, ६६

१६ रा० २, ४५ — १७ जा० म० १६२

जागिय राम छठी सजनी रजनी रुचिर निहारि।[१]

रूप-रचना की दृष्टि से ये कर्मवाच्य रूप हैं किंतु अर्थ की दृष्टि से इस काल में प्रयुक्त हैं।

(ख) मूल धातु के साथ '-इए', '-इये' तथा '-ईजे' का योग :

परिनाम मंगल जानि अपने *आनिए* धीरजु हिएँ।[२]

जागिये कृपानिधान जानराय रामचंद्र
जननी कहै बार बार भोर भयो प्यारे।[3]

यह अधिकार *सौंपिए* औरहिं भीख भली हैं जानी।[४]

तोहि मोहि नाते अनेक *मानिये* जो भावै।[५]

सुत समेत पाउँ *धारिये* आपुहि
भवन मेरे *देखिये* जो न *पतीजे*।[६]

दीन जानि तेहि अभय *करीजे*।[७]

इसी प्रकार '-इए' से ही मिलते जुलते '-इऐ' प्रत्यय के योग से बने हुए '-लीजिऐ' और 'कीजिऐ' जैसे रूप भी निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं :—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु *लीजिऐ*।[८]

गहि बाहँ सुर नर नाह आपन दास अंगद *कीजिऐ*।[९]

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से परोक्ष विधि और प्रत्यक्ष-विधि के रूपों में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों में नु, हि, सि, -इय और '-इजे' विशेष रूप से विचारणीय हैं।

ग्रियर्सन के मतानुसार हिंदी आज्ञा के रूपों का संबंध भी संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से है, किंतु बीम्स इनका संबंध सस्कृत आज्ञा के रूपों से जोड़ते हैं। मैं इस विषय में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा † के मत से सहमत हूँ जिनके अनुसार कदाचित् संस्कृत के वर्तमान और आज्ञा दोनों का ही प्रभाव हिंदी के आज्ञा-रूपों पर पडा है—

जैसे सं० चलानि 7 प्रा० चलनु 7 हिं० चलूँ।
सं० चल 7 प्रा० चलसु, चलहि, चल 7 हि० चल
सं० चलतु 7 प्रा० चलदु, चलउ 7 हिं० चल

'-इय' तथा '-इजे' की व्युत्पत्ति सं० कर्मवाच्य प्रत्यय -य 7 प्रा० =इय, =इय्य अथवा -ईय तथा -इज्ज से है।‡

तुलसी की भाषा में प्राप्त क्रिया-रूपों की काल-रचना के विश्लेषण से हमें उनकी दो ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियों का पता चलता है जो भाषाविज्ञान एवं व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं :—

---

१ गी० १, ५	२ रा० २, २०१	३ गी० १, ३६
४ वि० ९	५ वि० ७६	६ श्रीकृ० ७
७ रा० ४, ४	८ रा० ४, १०	९ रा० ४, १०

† वर्मा : हिं० भा० इ० § ३१६

‡ वही, ३२४

(१) विविध कालों में प्रयुक्त क्रियारूपों की सयोगात्मकता, जो सस्कृत और प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं में तो वर्तमान थी, परन्तु जो आधुनिक साहित्यिक हिंदी (खडीबोली) में लुप्तप्राय हो गई है।

(२) एक ही प्रकार के प्रत्ययों के योग से बने हुए रूपों को अविकृत रूप में ही विभिन्न कालों में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति, जो प्रयोग की दृष्टि से तो उपयोगिता एवं व्यापकता की द्योतक है किंतु जो प्रयोग की दृष्टि से जटिलता एव अस्पष्टता की उत्पादक हो गई है। बात यह है कि एक ही प्रकार के अनेक रूप विभिन्न कालों में परस्पर इतने घुल-मिल गये हैं कि उनकी पृथक सत्ता खोज लेना कठिन हो जाता है।

वाच्य

वाच्य की दृष्टि से तुलसी के क्रियारूपों पर विचार करें तो उनमें कर्तृवाच्य के प्रयोगों का ही बाहुल्य है। कर्मवाच्य का प्रयोग बहुत न्यून मात्रा में हुआ है। अतः हमारी दृष्टि प्रायः उन पर नहीं जाती, परतु रूप-निर्माण की दृष्टि से उनका पूरा महत्त्व है। महत्त्व इस बात में है कि प्रायः कर्मवाच्य के रूप आधुनिक खडीबोली के रूपों की भाँति मूल क्रिया के भूत कालिक कृदंत रूपों में 'जाना' धातु के सयोग से नहीं बनाए गये यद्यपि ऐसे रूपों का सर्वथा अभाव नहीं है। वस्तुतः तुलसी की शब्दावली में प्राप्त कर्मवाच्य-रूपों पर संस्कृत और प्राकृत व्याकरण का ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उनका निर्माण प्रायः मूल धातु के साथ '-इअ' प्रत्यय के योग से हुआ है, जिसका सबंध संस्कृत के कर्मवाच्य प्रत्यय 'य' से सिद्ध है जो प्राकृत में -इय, -इय्य और -ईय में परिवर्तित हो गया था। अब कर्मवाच्य-प्रयोगों के कुछ उदाहरण देकर क्रिया-रूपों के प्रसंग को समाप्त करेंगे।

कर्मवाच्य-प्रयोग :

(क) 'जाना' धातु के वर्तमान कालिक एकवचन रूप के साथ पूर्व कालिक कृदंत-रूप के सहयोग से बने हुए रूप (जिनका प्रयोग अधिक व्यापक नहीं है), उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अश :—

> *करि न जाइ* सर मज्जन पाना।[1]
> कटि तट रटति चारु, किंकिनि रव अनुपम *बरनि न जाई*।[2]
> चिक्कन कुटिल अलक अवली छबि,
> *कहि न जाइ* सोभा अनूप बर।[3]
> सो छबि *जाइ न बरनि* देखि मन मानै।[4]

(ख) मूल धातु के साथ '-इअ' अथवा '-इय' का योग :—

> तिन्ह कहँ *कहिअ* नाथ किमि चीन्हे।[5]

---

१ रा० १, ३६   २ वि० ६२   ३ श्रीकृ० २१
४ जा० मं० ६७   ५ रा० १, २१२

कहहु काहि *पटतरिय* गौरि गुन रूपहि ।[1]
सिंधु *कहिय* केहि भाँति सरिस सर कूपहि ।[2]

(ग) मूल धातु के साथ '-इऐ' का योग :

मायाछन्न न *देखिऐ* जैसे निर्गुन ब्रह्म ।[3]

(घ) मूल धातु के साथ '-इए' का योग :

ऐसी तोहिं न *बूझिए* हनुमान हठीले ।[4]

उपर्युक्त '-इऐ' और 'इए' को '-इअ' अथवा '-इय' की ही श्रेणी में समझना चाहिए यद्यपि इनमें साधारण भेद दिखाई पडता है । '-इय' के ही विकारी रूप '-इये' से इनका पूर्ण साम्य इस बात की पुष्टि करता है ।

(च) मूल धातु के साथ '-इअत' और '-इयत' के योग से बने हुए रूप; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अश :—

महिमा जासु जान गनराऊ ।
प्रथम *पूजिअत* नाम प्रभाऊ ।[5]
रावरो सुभाव राम जन्म ही तें *जानियत*
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है ?[6]
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ *गनियत* बड़भागी ।[7]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से '-इय' अथवा '-इअ' का सबंध संस्कृत कर्मवाच्य प्रत्यय -य 7 प्रा० -य, इय, इय्य अथवा ईय, इज्ज से जोडना चाहिए । †

विशेषण

तुलसी के ग्रंथों में अन्य शब्द-रूपों की अपेक्षा विशेषण अधिक नियमित एवं मर्यादित अवस्था में उपलब्ध होते हैं । वस्तुतः सर्वनामों और क्रियाओं के रूप जितने जटिल हैं विशेषणों के रूप उतने ही स्पष्ट । वैसे तो विशुद्ध कला-पक्ष की दृष्टि से भी उनका महत्त्व है क्योंकि तुलसी के साहित्यिक प्रयोगों का अधिकाश सौंदर्य उपयुक्त परिस्थिति में उपयुक्त सज्ञाओं के साथ उपयुक्त विशेषणों के व्यवहार पर ही निर्भर है जिसका निर्देश कलापक्ष के अंतर्गत किया जायगा, परन्तु यहाँ पर विशेषणों का ही व्याकरणिक विश्लेषण अभिप्रेत है ।

व्याकरणिक आधार पर विशेषणों का विवेचन चार दृष्टियों से किया जा सकता है— (१) रूप-परिवर्तन, (२) प्रयोग-पद्धति (३) रूप-निर्माण (४) अर्थभेद ।

रूप-परिवर्तन की दृष्टि से तुलसी की कृतियों में प्रयुक्त विशेषणों के संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

---

१ पा० मं० १४० २ पा० म० १४० ३ रा० ३, २६
४ वि० ३२ ५ रा० १, १६ ६ क० २, ४
७ वि० ६५
† डॉ० धीरें० वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास § ३२४

(क) खड़ीबोली में जिन विशेषणों के मूल रूप आकारांत होते हैं वे तुलसी की अवधी बहुल प्रयोगों में अकारांत रूपों में मिलते हैं और इन्हीं को तुलसी की भाषा के अंतर्गत मूल विशेषण-रूप समझना चाहिए; उदाहरणार्थ 'बड़ा' 'छोटा', 'खोटा', 'भला' और 'गोरा' के लिए क्रमशः बड़, छोट, खोट, भल और गोर शब्दों का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भए सुंदर सतकोटि मनोज मनोहर ॥[1]

छोट कुमार खोट अति भारी।[2]

भल स्वयंबर समउ भल सगुन साथ सब काज।[3]

काहे राम जिउ साँवर लछिमन गोर हो।[4]

(ख) ब्रजभाषा-बहुल प्रयोगों में अकारांत विशेषण ओकारांत कर दिए गये हैं; जैसे 'साँवर' का 'साँवरो', 'गोर' का 'गोरो', 'बड़' का 'बड़ो' और 'छोट' का 'छोटो' जिनका व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

मनु जाहि राँच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।[5]

गोरो गरूर गुमान भरो कहो कौसिक
छोटो सो ढोटो है काको।[6]

गनी गरीब बड़ो छोटो बुध मूढ़ हीन बल अति बलो।[7]

(ग) अकारांत पुल्लिंग संज्ञा के साथ प्रयुक्त होने वाले अकारांत विशेषण स्त्रीलिंग संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होने पर इकारांत अथवा ईकारांत हो जाते हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त बड़ि, सुकुमारि और सयानी :—

छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता।[8]

नारि सुकुमारि संग जाके अंग उबटि कै
बिधि बिरचे बरूथ बिद्युच्छटनि के।[9]

सुनि हरषीं सब सखी सयानी।[10]

(घ) अकारान्त पुल्लिंग संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होने वाले अकारान्त विशेषण बहुवचन में एकारांत हो जाते हैं; जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत कारे, धोरे, नीले और पीले :—

---

1 पा० मं० १७४   2 रा० १, २७८   3 रामाज्ञा० १, ४, १
4 रा० ल० न० १२   5 रा० १, ३२३   6 क० १, २०
7 गी० ५, ४२   8 रा० २, २६३   9 क० २, १३
10 रा० १, २२६

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथु अमित अति आखर *थोरे*॥[1]
नीले पीले कमल से कोमल कलेवरनि
तापस हूँ वेष किये काम कोटि फीके हैं।[2]

(च) अकारांत पुल्लिग संज्ञा के करण तथा अधिकरण कारक के रूपों के साथ प्रयुक्त होने वाले अकारांत विशेषण प्रायः सर्वत्र एकारान्त हो गये हैं; उदाहरणार्थ 'छोटे बदन' और 'भले भवन' का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

छोटे बदन बात बड़ि कहसी।[3]
भले भवन बिधि बायन दीन्हा।[4]

प्रयोग-पद्धति की दृष्टि से तुलसी के ग्रथों में प्रयुक्त विशेषणों के अन्तर्गत निम्न-लिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :—

(क) जहाँ पर विशेषण संज्ञा की भाँति प्रयुक्त हुए हैं वहाँ पर उनकी कारक-रचना प्रायः अकारात पुल्लिग बहुवचन संज्ञाओं की भाँति होती है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त बड़े, लघुन्ह पर, भलो, साधु ते, भले सों, कामिहि, लोभिहि, आधे कर और दयाल :—

कर्ता और अधिकरण—बड़े सनेह *लघुन्ह पर* करहीं।[5]
कर्म— बिबुध काज बावन बलिहि छलो *भलो* जिय जानि।[6]
करण— *साधु तें* होइ न कारज हानी।[7]
भलो *भले सों* छल किये जनम कनौड़ो होइ।[8]
संप्रदान— *कामिहि* नारि पियारि जिनि *लोभिहि* प्रिय जिमि दाम।[9]
संबंध — उभय भाग *आधे कर* कीन्हा।[10]
संबोधन— जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई।
सोउ *दयाल* राखहु जनि गोई।[11]

(ख) आदरार्थ में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक संज्ञा के साथ बहुवचनसूचक एकारांत विशेषणों का ही व्यवहार हुआ है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति में 'लखन' के साथ 'लोने' :—

लालन जोग *लखन लघु लोने*।[12]

(ग) तुलनात्मक विशेषणों के अतर्गत उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के सूचक रूप (जैसे गुरुतर, गुरुतम आदि) सामान्यतः नहीं मिलते। इसका भाव तुलसी की भाषा में तुलना की वस्तु के साथ अपादानकारक के परसर्ग 'तें' का व्यवहार करके व्यक्त किया गया है; उदाहरणार्थ :—

---

१ रा० २, २६४ २ गी० २, ३० ३ रा० ६, ३१
४ रा० १, १२७ ५ रा० १, १६७ ६ दो० ३६६
७ रा० ५, ६ ८ दो० ३६५ ९ रा० ७, १३० ख
१० रा० १, १६० ११ रा० १, १११ १२ रा० २, २००

मोरे मत बड नाम दुहूँ तें ।[1]
राम तें अधिक-राम कर दासा ।[2]

रूप-निर्माण के आधार पर तुलसी की रचनाओं में प्रयुक्त विशेषण तीन वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं :—

१—संज्ञामूलक विशेषण ।
२—सर्वनाममूलक विशेषण ।
३—कृदतमूलक विशेषण ।

इनमें 'कृदतमूलक विशेषण' का विवेचन यहाँ पर अनावश्यक है क्योंकि कर्तृवाचक सज्ञाओं, भूतकालिक तथा भविष्यकालिक कृदतों के अतर्गत ही उनका पर्याप्त निर्देश हो चुका है। सज्ञामूलक और सर्वनाममूलक विशेषणों का सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

सज्ञामूलक विशेषण का निर्माण निम्नलिखित नियमों के अनुसार हुआ है . -

(क) सज्ञा के साथ '-ई' प्रत्यय का योग, जैसे 'विरागी' 'अनुरागी' तथा 'व्यवहारी' शब्द, जिनका निर्माण क्रमशः विराग, अनुराग तथा व्यवहार से हुआ है और जिनका प्रयोग निम्नलिखित पक्तियों में द्रष्टव्य है :—

जेहि लागि *बिरागी* अति *अनुरागी* बिगत मोह मुनिबृन्दा ।[3]
सम संतोष दया बिबेक तें *व्यवहारी* सुखकारी ।[4]

(ख) सज्ञा के साथ 'क' का योग : *सुतविषयक* तव पद रति होऊ ।[5]

(ग) '-आल' प्रत्यय का योग : जासु कृपा सो *दयाल* द्रवउ सकल कलिमलदहन ।[6]
कौसिक *कृपाल* हू को पुलकित तनु भो ।[7]

'-आल' सस्कृत के '-आलु', प्रत्यय का ही रूपातर है जिससे 'दयालु' 'कृपालु' जैसे शब्द बनते हैं।

(घ) '-औहैं' का योग : रद पुट फरकत नयन *रिसौहैं* ।[8]
कहत राम बिधु बदन *रिसौहैं* सपनेहुँ लख्यो न काउ ।[9]

(च) '-आरी' का योग : अति आरत अति स्वारथी अति दीन *दुखारी* ।[10]
सहि सकट किये साधु *सुखारी* ।[11]

'-आरी' के ही विकारी रूप '-आरे', का योग बहुवचन-रूपों का द्योतक है :—
देखि लोग सब भये *सुखारे* ।[12]

---

१ रा० १, २३ २ रा० ७, १२० ३ रा० १, १८६
४ वि० १२१ ५ रा० १, १५१ ६ रा० १, आ० सो० न० २
७ गी० १, ६४ ८ रा० १, २५२ ६ वि० १००
१० वि० ३४ ११ [illegible] १२ [illegible]

(छ) संज्ञा-रूप के साथ '-इत' का योग :

भ्रमत स्रमित निसि दिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो ।[1]

संज्ञारूपों के साथ 'र', 'द', 'दा', 'मय', 'कारी', 'हारी' और '-इक' आदि प्रत्ययों के योग से बने हुए क्रमशः 'मधुर', सुखद, धामदा, कृपामय, हितकारी, दुखहारी और 'दैनिक' आदि शब्द भी संज्ञामूलक विशेषणों के अंतर्गत रखे जा सकते हैं जिनका प्रचुर प्रयोग तुलसी की भाषा में है, परंतु उक्त सभी रूप सीधे संस्कृत से गृहीत होने के कारण यहाँ पर विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते ।

सर्वनाममूलक विशेषण के रूप उतनी ही अधिक संख्या में हैं जितनी संख्या सर्वनामों की है । सामान्यतः अन्यपुरुषवाचक, संबंधवाचक, प्रश्नवाचक और अनिश्चयवाचक—इन सभी सर्वनामों का व्यवहार कहीं कहीं बिना किसी विकार अथवा परिवर्तन के विशेषण के रूप में हुआ है । इनके अतिरिक्त आन, अपर, अस, जस, जेते, कवने और केतिक आदि शब्द सर्वनामों से बने हुए (उनके मूल रूपों से भिन्न) विशेषणों के अंतर्गत उल्लेखनीय हैं । उक्त सभी प्रकार के रूपों का सोदाहरण निर्देश किया जा रहा है ।

पुरुषवाचक सर्वनाम से बने रूप

(क) तेहि : तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा ।[2]
वेद बिदित तेहि पद पुरारि पुर कीट पतंग समाहीं ।[3]
जनक नाम तेहि नगर बसै नर नायक ।[4]

(ख) ते : ते नरवर थोरे जग माहीं ।[5]
तुलसी सकल कल्यानते नर नारि अनुदिन पावहीं ।[6]
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ
जग में फल कौन जिये ।[7]

(ग) सो : सो बर मिलिहि,जाहि मन राँचा ।[8]
भूषन वसन समय सम सोमा सो भली ।[9]
ऋषि संग सोहत जात मनु छवि बसति सो तुलसी हिये ।[10]

(घ) सोइ : सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं ।[11]

(च) सोई : चली अग्र करि प्रिय सखि सोई ।[12]
कूबरीरवन कान्ह कही जो मधुप सों
सोई सिख जननी सुचित दै सुनिये ।[13]

---

१ वि० ८७   २ रा० १, १३०   ३ वि० ४
४ जा० मं० ६   ५ रा० १, २२१   ६ जा० मं० २१६
७ क० १, ६   ८ रा० १, ३३६   ९ पा० मं० १३६
१० जा० मं० ३६   ११ रा० १, १२२   १२ रा० १, २२१
१३ श्रीकृ० ३७

संबंधवाचक सर्वनामों से बने रूप

(क) जो : जागबलिक *जो कथा* सुहाई। भरद्वाज मुनिवर प्रति गाई।[1]
(ख) जेहि : *जेहिं दिसि* बैठे नारद फूली।[2]
(ग) जवनि : बंचेहु मोहि *जवनि* धरि *देहा*।[3]
(घ) जे : सादर सुमिरन *जे नर* करहीं।[4]

प्रश्नवाचक सर्वनामों से बने रूप

(क) कवन : सब ते दुर्लभ *कवन सरीरा*।[5]
(ख) को : सोभा दसरथ भवन कै को *कवि* बरनै पार।[6]
(ग) काहा : जाइ *उतरु* अब देहउँ *काहा*।[7]
(घ) केहि : को जान *केहि* आनन्द बस सब ब्रह्म बर परिछन चली।[8]

निश्चयवाचक सर्वनाम से बने रूप

(क) यहु : देह धरे कर *यहु फल* भाई।[9]
(ख) एहा : एक जनम कर *कारन एहा*।[10]
(ग) ए : ए बालक असि हठ भल नाहीं।[11]
(घ) अय : दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक *अय*।[12]

'अय' विशुद्ध संस्कृत-तत्सम रूप है।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम से बने रूप

(क) कोउ : कोउ *मुनि* मिलहि ताहि सब घेरहिं।[13]
(ख) कछुक : कछुक *दिवस* जननी धरु धीरा।[14]

मूल सर्वनामों से भिन्न अन्य सर्वनाममूलक विशेषणों के रूप

(क) आन : *आन देव* निंदक अभिमानी।[15]
आन उपाय मोहिं नहिं सूझा।[16]
(ख) अपर : *अपर कथा* सब भूप बखानीं।[17]
अपर हेतु सुनु सैलकुमारी।[18]
(ग) अस : *अस तप* काहुँ न कीन्ह भवानी।[19]

---

१ रा० १, ३०　२ रा० १, १२५　३ रा० १, १३७
४ रा० १, ११६　५ रा० ७, १२१　६ रा० १, २९७
७ रा० १, ५४　८ रा० १, ३१८　९ रा० ४, २३
१० रा० १, १२४　११ रा० १ २५६　१२ रा० १, ८५
१३ रा० ४, २१　१४ रा० ५, १६　१५ रा० ७, ६७
१६ रा० २, १८३　१७ रा० १, २६५　१८ रा० १, १४१
१९ रा० १, ७५

(घ) जस : जस बर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं ।[1]

(च) जेते : जग महँ सखा निसाचर जेते ।
लछिमन हनहि निमिष महँ तेते ।[2]

(छ) कवने : कवने अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास ।[3]

(ज) केतिक : केतिक बात प्रभु जातुधान की ।[4]

इनमें 'अस' निश्चयवाचक, 'जस' और जेते' संबंधवाचक, तथा 'कवने' और 'केतिक', प्रश्नवाचक सर्वनामों से सम्बन्धित हैं। 'आन' और 'अपर' स्फुट रूपों के अंतर्गत लिए जा सकते हैं।

अर्थभेद के अनुसार विशेषणों के तीन वर्ग हो सकते हैं :—

१. गुणवाचक २. तुलनावाचक ३. संख्यावाचक ।

इन तीनों के अंतर्गत प्रथम दो के विषय में कोई महत्वपूर्ण बात उल्लेखनीय नहीं है। प्रसंगानुसार पीछे रूप-परिवर्तन तथा रूप निर्माण से संबंधित विशेषताओं का विवेचन करते हुए इन पर कुछ विचार हो भी चुका है। केवल संख्यावाचक विशेषणों पर विचार करना दो कारणों से आवश्यक है। प्रथम तो यह कि तुलसी की शब्दावली में उनका प्रयोग एक सीमित मात्रा में हुआ है और द्वितीय यह कि उनके प्रयोग में प्राचीन एवं नवीन तथा तत्सम एवं तद्भव रूपों का विचित्र सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

संख्यावाचक विशेषणों के अंतर्गत पाँच विभाग किए जा सकते हैं :—

१. गणनासूचक २. क्रमसूचक ३. आवृत्तिसूचक ४. समुदायसूचक ५. प्रत्येकबोधक ।

पुनः 'गणनासूचक' के अंतर्गत दो विभाग माने जाते हैं :—

(१) पूर्णाङ्कबोधक । (२) अपूर्णाङ्कबोधक ।

इन्हीं भेदों के आधार पर तुलसी की भाषा में उपलब्ध संख्यावाचक विशेषणों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) पूर्णांकबोधक । गणनासूचक संख्यावाचक विशेषण के रूपों में सामान्यतः 'एक' के लिए 'एक'; 'दो' के लिए 'दुइ', द्वौ, दोउ, दोऊ, द्वै, उभय, जुग, दुहुँ और जुगल; 'तीन' के लिए 'तीनि' और तिहुँ, 'चार' के लिए चारि और चहुँ; 'पाँच' के लिए 'पाँच' और 'पच', छः के लिए 'षट्' और 'छः' ; 'सात' के लिए 'सप्त' और 'सात', 'आठ' के लिए 'अष्ट' और 'आठ'; 'नौ' के लिए 'नव'; 'दस' के लिए 'दस' और 'दह' प्रयुक्त हुए हैं। विस्तार भय से सभी अंकों के (जो बहुत अधिक प्रचलित हैं) उदाहरण न देकर केवल 'उभय', जुग, दुहुँ, जुगल, तिहुँ, चहुँ, 'षट्' और 'दह' जैसे कुछ विशिष्ट रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

उभय अगम जुग सुगम नाम ते।[5]
मनहुँ सरद विधु उभय नखत धर की धनि।[6]

---

१ रा० १, ६६ २ रा० ५, ४४ ३ रा० २, २८
४ रा० ५, १२ ५ रा० १, २३ ६ जा० मं० ७५

दास रता एक नाम सों *उभय* लोक सुख त्यागि ।[1]
सखि यहि मग *जुग* पथिक मनोहर
बिधु बिधुबदनि समेत सिधाये ।[2]
नारि परसपर कहहि देखि दुहुँ भाइन्ह ।[3]
देखि बिकल भइ *जुगल* कुमारा ।[4]
ते कुल *जुगल* सहित तरिहैं भव यह न कछू अधिकाई ।[5]
राजत राज समाज *जुगल* रघुकुलमनि ।[6]
त्रिभुवन *तिहुँ* काल बिदित बदत बेद चारी ।[7]
चहुँ जुग चहुँ स्रुति नाम प्रभाऊ ।[8]
इहै कह्यो सुत, बेद चहूँ ।[9]

(तिहुँ, चहुँ या चहूँ रूप प्रकृति में बलात्मक हैं और क्रमशः 'तीनों ही' और 'चारों ही' का अर्थ रखते हैं ।)

षट् बिकार जित अनघ अकामा ।[10]
दह दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन ।[11]

तुलसी की रचनाओं में 'सकृत' शब्द का प्रयोग 'एकबार' के अर्थ में कई बार हुआ है । यह सीधे संस्कृत से आया हुआ रूप है और विशुद्ध रूप में सख्यावाचक विशेषण न होते हुए भी 'एक' से सम्बधित होने के कारण रूप वैविध्य की दृष्टि से यहाँ पर उल्लेखनीय है । इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पक्तियों में द्रष्टव्य है :—

सुमिरत *सकृत* मोह मल सकल बिछोहइ ।[12]
सकृत उर आवत जिनहिं जन होत तारन तरन ।[13]

पूर्णाङ्कबोधक गणनावाचक विशेषणों में दस के ऊपर की सख्याओं के अतर्गत चौदह, पचदस, सोरह, अठारह, पचीस, इकतीस, बत्तिस, पचास, सत्तरि, सत्तासी, लाख और पदुम आदि प्रचलित रूपों के अतिरिक्त 'सौ' के लिए प्रयुक्त 'सत' और 'सय', 'सहस्र' के लिए 'सहस' और 'हजार', दस हजार के लिए 'अयुत' और 'सहसदस' तथा 'करोड' के लिए 'कोटि' और 'करोरी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्द द्रष्टव्य हैं :—

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा ।[14]
करत सुरति *सय* बार हिए की ।[15]

---

१ वै० सं० ६२ २ गी० २, ३५ ३ जा० म० ६२
४ रा० ३, १७ ५ गी० १, १३ ६ जा० म० ५५
७ वि० ७८ ८ रा० १, २२ ९ वि० ८६
१० रा० ३, ४५ ११ रा० ६, ६६ १२ जा० म० १०७
१३ वि० २१८ १४ रा० ५, २ १५ रा० १, २६

तुरग लाख रथ सहस पचीसा ।[1]
अयुत जनम भरि पावहि पीरा ।[2]
अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम ।[3]
जियहुँ जगतपति बरिस करोरी ।[4]

पूर्णाङ्कबोधक गणनासूचक संख्यावाचक विशेषणों में एक विशिष्ट प्रकार के रूप और भी मिलते हैं जिनके अन्तर्गत दो अंकों का गुणन अथवा योग दिखाई पड़ता है जैसे 'चौदह', 'सत्ताइस' और 'सोलह' के लिए क्रमशः 'दुइ साता', एवं दस चारि; 'सात अरु बीसा', और 'नव सप्त' जिनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं :—

सुख समेत संबत दुइ साता ।[5]
दस चारि भुवन निहारि देखि विचारि नहिं उपमा कही ।[6]
बीते कल्प सात अरु बीसा ।[7]
नव सप्त साजे सुन्दरी सब मत्त कुंजरगामिनी ।[8]

अपूर्णांकबोधक गणनासूचक संख्यावाचक विशेषण तुलसी की रचनाओं में इनका प्रयोग बहुत सीमित मात्रा में हुआ है। इसके रूपों में अर्द्ध, आधे, और 'अढ़ाई' उल्लेखनीय हैं उदाहरणार्थ निम्नलित पक्तियों के रेखाकित अंश :—

अर्द्ध भाग कौसिल्यहि दीन्हा ।[9]
उभय भाग अर्ध कर कीन्हा ।[10]
गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई ।[11]

इनमें 'अर्द्ध' शब्द संस्कृत तत्सम है और शेष दोनों जनभाषा के हैं।

क्रमसूचक संख्यावाचक विशेषण

इनके अन्तर्गत आने वाले जो प्रमुख रूप तुलसी की शब्दावली में प्रयुक्त हुए हैं उनमें सामान्यतः प्रथम, पहिल, आगिल, दूसर, तीसर, चौथे, पंचम, छठ, सातवँ, अठौं, नवम, तथा विशेषतः दूजा, दूजे; बिया, बिये अथवा बियो; तथा' तीजे, उल्लेखनीय हैं उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के रेखाकित अंशः—

ध्यान प्रथम जुग मख विधि दूजें ।[12]
जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति देखिऔ मूरति
देखे रह्यो पहिलो विचारु ।[13]
पहिलिहि पवँरि सुसामध भा सुखदायक ।[14]

---

१ रा० २, ४५ — २ रा० ७, १०७ — ३ रा० १, २२०
४ रा० २, ५० — ५ रा० २, २८० — ६ जा० मं० ३६
७ रा० ७, ११४ — ८ रा० १, ३२२ — ९ रा० १, १९०
१० रा० १, १९० — ११ रा० २, २७८ — १२ रा० १, २७
१३ गी० १, ८० — १४ पा० मं० १२०

('पहिलो' और 'पहिलिहिं' को 'पहिल' के ही विकारी रूप समझना चाहिए। इनमें 'पहिलिहिं' बलात्मक रूप है)

धरनि सिधारिए सुधारिए *आगिले* काज
पूजि पूजि धनु कीजै बिजय बजाइ कै।[1]
यहि कहँ सिव तजि *दूसर* नाहीं।[2]
तब सिवँ *तीसर* नयन उघारा।[3]
चौथे दिवस अवधपुर आये।[4]
पंचम भजन सो बेद प्रकासा।[5]
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा।[6]
सातवँ सब मोहिमय जग देखा।[7]
आठवँ जथा-लाभ संतोषा।[8]
नवम सरल सब सन छलहीना।[9]
यहि तें अधिक धरम नहि *दूजा*।[10]
तो सों ज्ञान बिधान को सर्वज्ञ *बिया* रे।[11]
तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तौ पायो न *बिये*।[12]
नाहि न भजिबे जोग *बियो*।[13]
मोहि तोहिं भेटँ भूप दिन *तीजे*।[14]

आवृत्तिसूचक सख्यावाचक विशेषण—इनके अन्तर्गत निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त डेवढ़, दून, दूना, चौगुन, चौगुना, सौगुन, सयगुन और सतकोटिगुन जैसे शब्द उल्लेखनीय हैं :—

बिधि ते *डेवढ़* लोचन लाहू।[15]
तासु *दून* कपि रूप देखावा।[16]
तैं मम प्रिय लछिमन ते *दूना*।[17]
मुख प्रसन्न चित *चौगुन* चाऊ।[18]
सो हर गौरि प्रसाद एक ते कौसिक कृपा *चौगुनो* भो री।[19]
अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख *सौगुन* दिए।[20]

---

१ गी० १, ८२ · २ रा० १, ७० · ३ रा० १, ८७
४ रा० २, ३२२ · ५ रा० ३, ३६ · ६ रा० ३, ३६
७ रा० ३, ३६ · ८ रा० ३, ३६ · ९ रा० ३, ३६
१० रा० २, ६१ · ११ वि० ३३ · १२ गी० १, ७
१३ गी० ५, ४६ · १४ रा० १, १६६ · १५ रा० १, ३१७
१६ रा० ५, २ · १७ रा० ४, ३ · १८ रा० २, ५१
१९ गी० १, १०२ · २० जा० म० ४५

दिन दिन *सयगुन* भूपति भाऊ ।[1]
यहि सुख ते *सतकोटिगुन* पावहि मातु अनंदु ।[2]

समुदायसूचक संख्यावाचक विशेषण—इनमें सकल सब, सगरे तथा 'अखिल' शब्दों की चर्चा की जा सकती है जो निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त हैं :—

सकल कला सब बिद्या हीनू ।[3]
तनु पोषक नारि नरा *सगरे* ।[4]
सुन मातु मैं पायो *अखिल* जग राजु आजु न संसयं ।[5]

प्रत्येकबोधक संख्यावाचक विशेषण के रूप में तुलसी की भाषा में बहुलता से प्रयुक्त 'प्रति' शब्द उल्लेखनीय है, उदाहरणार्थ :—

प्रति अवतार कथा प्रभु केरी ।[6]

उपर्युक्त संख्यावाचक विशेषणों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्फुट सख्यावाचक रूपों का प्रयोग भी तुलसी की शब्दावली में हुआ है जिन्हें उक्त वर्गों के भीतर नहीं लिया जा सकता। इनमें निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत 'अनेक', विविध, नाना, बहु, बहुतेरे, बहुतेरो और 'बिपुल' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

पथिक *अनेक* मिलहिं मग जाता ।[7]
बिविध भाँति होइहि पहुनाई ।[8]
नाना बाहन *नाना* बेषा ।[9]
जग *बहु* नर सर सरि सम भाई ।[10]
मै दुर्बचन कहे *बहुतेरे* ।[11]
बिछुरें सखि रबि मन नैननि ते पावत दुख *बहुतेरो* ।[12]
मोहमय कुहू निसा बिसाल काल *बिपुल* सोयो
खोयो सो अनूप रूप स्वप्न हू परे ।[13]

व्युत्पत्ति—उक्त संख्यावाचक-विशेषण-रूप प्राय: सीधे सस्कृत से अथवा सस्कृत से प्राकृत द्वारा विकसित होकर क्रमश: तुलसी की भाषा में आये हैं। इनमें कुछ प्रमुख रूपों की व्युत्पत्ति नीचे दी जा रही है।

आ० ∠ प्रा० अट्ठ ∠ सं० अष्ट ।
बीस ∠ प्रा० वीसइ ∠ सं० विंशतिः ।
चौथे ∠ प्रा० चउट्ठे ∠ सं० चतुर्थे ।
दूसर ∠ सं० द्विसृतः ।

---

१ रा० १, ३६०　२ रा० १, ३५० क　३ रा० १, ६
४ रा० ७, १०२　५ रा० ६, १०७　६ रा० १, १२४
७ रा० २, ११२　८ रा० १, ३११　९ रा० १, ६३
१० रा० १, ८　११ रा० १, १३८　१२ वि० ८७
१३ वि० ७४

तीसर ∠सं० त्रिसृतः।
डेवढ़ ∠प्रा० दि अड्ढ ∠स० दूयर्ध।
अढ़ाई ∠प्रा० अड्ढतीय ∠स० अर्द्धतृतीय।

'वँ' के योग से बने हुए सातवँ, आठवँ आदि स० 'तम्' प्रत्यय से बने रूपों से सम्बन्धित हैं, जैसे सातवँ ∠प्रा० सत्तम ∠स० सप्तम्।
आठवँ ∠प्रा० अट्ठम ∠स० अष्टम्।

बीम्स * के अनुसार 'पहला' स० 'प्रथर' रूप से निकला है, परन्तु इस विषय में डॉ० वर्मा† का मत अधिक युक्तिसगत है जिसके अनुसार हिं० पहला ∠प्रा० पढिल्ल, पथिल्ल ∠स० प्र-थ* इल।

अव्यय

हिंदी—व्याकरण के अतर्गत अव्यय प्रमुखतः चार वर्गों में विभक्त किये गये हैं :—

१. क्रियाविशेषण। २. समुच्चयबोधक। ३. सम्बन्धसूचक। ४. विस्मयादिबोधक। क्रमशः इसी वर्गीकरण के आधार पर तुलसी की भाषा में आए हुए प्रमुख अव्यय रूपों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ क्रियाविशेषण—अर्थ की दृष्टि से इनके भी पाँच विभाग हो सकते हैं :—

अ—स्थानवाचक, आ—कालवाचक, इ—रीतिवाचक, ई—दिशावाचक, उ—कारण-वाचक। लगभग इन सभी प्रकार के क्रियाविशेषण-रूपों का निर्वाह तुलसी ने प्रायः विभिन्न सर्वनाम रूपों के सहारे किया है, जैसा आगामी विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

स्थानवाचक—क्रियाविशेषणों के अतर्गत निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त इहाँ, उहाँ, जहँ, तहँ, जहवाँ, तहवाँ, कहाँ, कतहुँ, भीतर, बाहेर, अनत, दूरि और निअर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।[१]
बरनत छबि *जहँ तहँ* सब लोगू।[२]
करि सोइ रूप गयउ पुनि *तहवाँ*।
बन असोक सीता रह *जहवाँ*।[३]
कहाँ रहा बल गर्व तुम्हारा।[४]
कतहुँ होइ निसिचर सैं भेंटा।[५]
तुलसी *भीतर बाहेरहुँ* जो चाहसि उजियार।[६]
सुनत बचन फिरि *अनत* निहारे।[७]
दूरि फराक रुचिर सो घाटा।[८]
रिष्यमूक पर्वत *निअराया*।[९]

---

*बीम्स—क० ग्रैमर भाग २ § २७ †वर्मा : हिं० भा० इ० § २८०

१ रा० १, २०१ २ रा० १, २२६ ३ रा० ५, ८
४ रा० ६, ३६ ५ रा० ४, २४ ६ रा० १, २१
७ रा० १, २७० ८ रा० ७, २९ ९ रा० ४, १

व्युत्पत्ति—'हाँ' के योग से बने हुए 'यहाँ' और 'वहाँ' आदि रूपों का संबंध बीम्स † ने संस्कृत स्थाने से जोड़ना चाहा है (तहाँ = तत्स्थाने)। उनका यही मत तुलसी द्वारा प्रयुक्त इहाँ और उहाँ की व्युत्पत्ति के विषय में समझना चाहिए। परतु मैं इस विषय में डॉ० चटर्जी‡ से सहमत हूँ जो ऐसे रूपों का संबंध मध्यकालीन आर्यभाषाओं के त्थ ∠ सं० त्र से स्थापित करते हैं।

भीतर, बाहेर, दूरि और निअर का संबंध क्रमशः संस्कृत अभ्यतर, बहिः, दूरे और निकट से है।

कालवाचक क्रियाविशेषणों के अंतर्गत प्रधानतः निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त अब, कब, जब, तब, आजु, काल्हि, परौं, नरौं, जहिया, तहिया, तुरत, तुरंत, वेगि और नित उल्लेखनीय हैं :—

> अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं।[1]
> सुदिन सुघरी तात कब होइहि।[2]
> जब तें ब्रज तजि गये कन्हाई।[3]
> तब तें बिरह रबि उदित एकरस सखि बिछुरनि बृष पाई।[4]
> देखु सखि आजु रघुनाथ सोभा बनी।[5]
> आजु कि काल्हि परौं कि नरौं जड़ जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो।[6]
> भुज बल बिस्व जितब तुम *जहिया*। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु *तहिया*।[7]
> *तुरत* सकल लोगन्ह पहँ जाहू।[8]
> तव प्रताप उर राखि प्रभु जैहउँ नाथ *तुरंत*।[9]
> आलि बिदा करु बटुहि *बेगि* बड़ बरबर।[10]
> *नित* पूजत प्रभु पावँरी प्रीति न हृदयँ समाति।[11]

व्युत्पत्ति—अब, तब, जब आदि रूपों का संबंध बीम्स महोदय* संस्कृत 'वेला' से तथा चटर्जी‡ वैदिक एव, 7 स० एवं 7 प्रा० एव्व से मानते हैं। दूसरा मत अधिक युक्तिसंगत है।

'आजु' और 'काल्हि' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है :—

> आज ∠ प्रा० अज्ज ∠ सं० अद्य।
> काल्हि ∠ सं० कल्य।

---

†बीम्स—क० ग्रामर भाग ३ § ८१ ‡चैटर्जी—वें० लें० § ३०४

१ रा० १, २८६ २ रा० २, ६८ ३ श्रीकृ० २१
४ श्रीकृ० २६ ५ गी० ७, ५ ६ क० ७, १७६
७ रा० १, १३६ ८ रा० १, २४० ९ रा० ६, ६० क
१० रा० ६, ६६ ११ रा० २, ३२५

*बीम्स—क० ग्रामर भाग ३ § ८१ ‡चैटर्जी : वें० लें० § ६०२

राम भद्र मोहि आपनो सोच है अरु *नाहीं*।[१]
घटत न तेज चलत *नाहिंन* रथ रह्यो उर नभ पर छाई।[२]
अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।[३]
सत्रु मित्र मध्यस्थ *तीनि* ये मन कीन्हें *बरिआई*।[४]

व्युत्पत्ति—'न', नाहीं और नाहिन का संबंध सं० 'नहि' से है। 'जनि' की व्युत्पत्ति चटर्जी के अनुसार 'यत न' से है* 'अवसि' का संबंध सं० 'अवश्य' से स्पष्ट है।

२. समुच्चयबोधक अव्यय के अनेक रूप तुलसी की शब्दावली में आये हैं जिनमें अरु, बरु, बरुक, कि, नत, नतरु, जौं, जौपै, तौ, की किंबा, धौं, किधौं, कैधौं, मकु, जनु, मनहु, 'मानहु' जदपि और 'तदपि' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है:—

तत्व प्रेम कर मम *अरु* तोरा।[५]
बरु मन कियो बहुत हित मेरो बारहि बार काम दव लाई।[६]
निज प्रतिबिंब *बरुक* गहि जाई।[७]
चितव *कि* चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।[८]
बूढ भयउँ *नत* करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार।[९]
नतरु जाहिं बन तीनिहुँ भाई।[१०]
जौं प्रपंच परिनाम प्रेम फिरि अनुचित आचरिबे हो।[११]
जोपै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै।[१२]
नाउनि·अति गुनखानि *तौ* बेगि·बोलाई हो।[१३]
की तुम तीनि देव महँ कोऊ।[१४]
नृप अभिमान मोह बस *किंबा*।[१५]
मेरे बालक कैसे *धौं* मग निबहहिंगे।[१६]
जम करि धार *किधौं* बरिआता।[१७]
सुषमा को ढेरु *कैधौं* सुकृत सुमेरु कैधौं
    संपदा सकल मुद मंगल को घरु है।[१८]
मसक फूँक *मकु* मेरु उड़ाई।[१९]

१	वि० १५०	२	श्रीकृ० ३१	३	रा० २, १८४
४	वि० १२४	५	रा० ५, १५	६	श्रीकृ० ५६
७	रा० २, १५	८	दो० २८३	९	रा० ४, २८
१०	रा० २, २६६	११	श्रीकृ० ३६	१२	वि० १३७
१३	रा० ल० न० १०	१४	रा० ४, १	१५	रा० ६ २०
१६	गी० १, ९७	१७	रा० १, ९५	१८	क० ७, १३
१९	रा० २, २३२				

* देखिये डा० सक्सेना—ए० अ० § ३७०

सुपमा बेलि नवल जनु रूप फलनि फली ।[1]
मनहुँ काम आराम कल्पतरु फूलेउ ।[2]
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं ।[3]
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं ।[4]
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों
फिरत बिषय अनुरागे ।[5]

व्युत्पत्ति—अरु, बरु और 'नत' की व्युत्पत्ति क्रमशः संस्कृत अपर, वरन् तथा 'न तु' से मानी जा सकती है । 'कि' (अथवा 'की') और 'तौ' का संबंध क्रमशः संस्कृत के 'किम्' और 'तु' से है । 'किंवा' स्पष्टतः संस्कृत 'किंवा' का रूपांतर है । 'जनु' का संबंध 'जानना' क्रिया से तथा इसी प्रकार मनहुँ और मानहु का 'मानना' से जोडा जा सकता है । 'जदपि' और 'तदपि' संस्कृत 'यद्यपि' और 'तदापि' के अर्धतत्सम रूप कहे जा सकते हैं ।

संबंधसूचक अव्यय—के अंतर्गत बिनु, बिना और लगि ('तक' के अर्थ में) उल्लेखनीय हैं; उदाहरणार्थ :—

चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिय ।[6]
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना ।
नहि जैहैं जुबराज प्रबीना ।[7]
जब लगि मैं न दीन दयालु तैं मैं न दास तैं स्वामी ।[8]
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं
जद्यपि अंतरजामी ।[9]

व्युत्पत्ति—'बिनु' और 'बिना' का संबंध संस्कृत 'बिना' से स्पष्ट है ।

'लगि' का संबंध संस्कृत लग्न 7 प्रा० लग्ग से जोड़ सकते हैं ।

विस्मयादि बोधक अव्यय—के रूपों में प्रमुखतः अहो, अहह, 'आह दइअ' और 'हा हा' ध्यान देने योग्य हैं जिनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है :—

अहो मुनीस महा भटमानी ।[10]
अहह दैव मैं कत जग जायउँ ।[11]
आह दइअ मैं काह नसावा ।[12]
तुम ते कहा न होय हा हा सो बुझैये मोहिं हौं हूँ रहौं
मौन ही वयो सो जानि लुनिए ।[13]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अन्य शब्द रूपों की भाँति अव्यय भी तुलसी की भाषा के विधान में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ।

---

१ पा० मं० १३६ २ जा० मं० १४० ३ रा० १,२३०
४ रा० ५, ४६ ५ वि० ११७ ६ रा० ७, ८६ ख
७ रा० ४, २६ ८ वि० ११२ ९ वि० ११२
१० रा० १, २७२ ११ रा० ६, ६० १२ रा० २, १६२
१३ क० हनुमान बाहुक, ४४

वाक्य-रचना

पद्यकार कवि की भाषा के अंतर्गत वाक्य-रचना के क्षेत्र में पदक्रमादि का व्याकरणिक बंधन इतना महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता जितना गद्यकार की भाषा में—इस तथ्य का निर्देश हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर वाक्य-रचना के प्रसग में जिस बात पर विशेष रूप से विचार करना है वह यह है कि लम्बे-लम्बे वाक्यों में कई छोटे-छोटे वाक्यपदों की (जिन्हें अंग्रेजी भाषा में clauses की सज्ञा दी गई है) योजना करने की प्रवृत्ति तुलसी की भाषा के अंतर्गत किस रूप में और किस मात्रा में मिलती है। आगामी विवेचन एव विश्लेषण से भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि वे व्याकरण की इस दिशा में भी कुछ कम सिद्धहस्त न थे। पर्याप्त कौशल के साथ वाक्य-रचना की इस पद्धति का अनुसरण करने में भी उन्होंने पूरी सफलता प्राप्त की है।

संयुक्त (compound) और मिश्रित (complex) वाक्यों की रचना में प्रधान वाक्यपद (Principal clause) के साथ प्रयुक्त होने वाले सहकारी वाक्यपद (Coordinate clause), सज्ञा वाक्यपद (Nounclause), विशेषण वाक्यपद (Adjective clause) और क्रियाविशेषण वाक्यपद (Adverbial clause), प्रभृति आश्रित वाक्यपद (Sub ordinate clauses)। इन सभी प्रकार के वाक्यपदों के नमूने तुलसी ने अपनी भाषा के अंतर्गत उपस्थित किये हैं और वे भी बड़े स्वाभाविक रूप में। उक्त कथन की पुष्टि में कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

संयुक्त वाक्य तथा सहकारी वाक्यपद :

नाथ जथामति भाषेउँ *राखेउँ नहिं कछु गोइ।*[1]
एक भूख *जानि आगे आने कंद मूल फल,*
एक पूजे बाहुबल तोरि मूल फूल हैं।[2]
रामराज भयो काज सगुन-सुभ
राजा राम जगत विजयी है।[3]

उपर्युक्त तीनों पंक्तियों में 'जथामति भाषेउँ' 'एक भूखे जानि आगे आने कंद मूल फल' तथा 'रामराज भयो काज सगुन सुभ' **प्रधान वाक्यपद** तथा शेष सारे वाक्य **सहकारी वाक्यपद** कहे जायँगे जिनकी स्वतन्त्र सत्ता रह सकती है चाहे वे **प्रधान वाक्यपद** के अंग बनें, चाहे न बनें। इस प्रकार के वाक्यों का, जो सयुक्त वाक्यों तथा सहकारी वाक्य-पदों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए गये हैं, तुलसी ने प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

मिश्रित वाक्य तथा आश्रित वाक्यपद :

(क) **सज्ञा वाक्यपद** की योजना प्रधान वाक्यपद की उक्त अथवा अनुक्त क्रिया (क्योंकि पद्य में कहीं कहीं क्रिया स्पष्ट कथित न होकर प्रच्छन्न रूप में विद्यमान रहती है) के 'कर्ता' और 'कर्म' दोनों रूपों में उपलब्ध होती है, उदाहरणार्थ :—

---

१ रा० ७, १२२   २ क० ५, ३०   ३ वि० १३१

कर्ता-रूप में : जो कछु कहेहु सत्य सब सोई ।[४]
तू जो हम आदर्‌यो सो तो नव कमल की कानि ।[१]
जो कछु करिअ सो होई सुभ खुलहि सुमंगल खानि ।[२]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'सत्य सब सोई' इस प्रधान वाक्यपद में निहित क्रिया 'है' का कर्ता 'जो कछु कहेहु', 'सो तो नव कमल की कानि' के भीतर स्थित 'है' अथवा 'रही', क्रिया का कर्ता 'तू जो हम आदर्‌यो' तथा 'सो होई सुभ' की 'होई' क्रिया का कर्ता 'जो कछु करिअ' है। ये सारे कर्ता-रूप संज्ञा वाक्यपद कहे जायँगे।

कर्म रूप में— कहौ सो विपिन है धौं केतिक दूर ।[३]
गहि सिव पद कह सासु बिनय मृदु मानबि ।
गौरि सजीवनि मूरि मोर जिय जानबि ।।[४]
कोउ कह विहरत बन मधु मनसिज दोउ ।[५]
कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ ।[६]

उपर्युक्त वाक्यपदों में प्रथम 'कहौ' क्रिया का कर्म है। शेष वाक्यपद यथा स्थान 'कह' क्रिया के कर्म के रूप में प्रयुक्त हैं। इस प्रकार ये सारे वाक्यपद दूसरी कोटि के संज्ञा वाक्यपद हैं।

विशेषण वाक्यपद :

राज करत बिनु काज ही ठटहि जे कूर कुठाट ।
तुलसी ते कुरुराज ज्यों जैहैं बारहबाट ।[७]
तुलसीदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै ।[८]
तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई ।
जो आचरत मोर भल होई ।[९]

उपर्युक्त पंक्तियों के अंतर्गत टेढे अक्षरों में अंकित वाक्यपद क्रमशः अपने-अपने प्रधान वाक्यपदों में प्रयुक्त 'जे', 'ते', 'भजन' और 'सिख' संज्ञाओं के विशेषण होने के कारण विशेषण वाक्यपदों की कोटि में आते हैं।

क्रियाविशेषण वाक्यपद :

काल, स्थान, परिणाम, कारण, रीति और प्रयोजन आदि के आधार पर इस वाक्यपद के कई भेद होते हैं। लगभग इन सभी का समावेश तुलसी के वाक्यों में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

---

१ रा० ४, ७ २ श्रीकृ० ५२ ३ रामाज्ञा० १, १, ५
४ गी० २, १३ ५ पा० मं० १५७ ६ बरवै० २२
७ रा० ४, ७ ८ दो० ४१७ ९ श्रीकृ० ३३
१० रा० २, १७७

कालवाचक— *जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।*
क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा।[1]

स्थानवाचक— *जीव जहान में जायो जहाँ सो तहाँ*
तुलसी तिहुँ दाह दह्यो है।[2]

परिणामवाचक : पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी *ताते बाढी रारि*।[3]

कारणवाचक : *अब काहे सोचत मोचत जल* समय गये चित सूल नई।[4]

रीतिवाचक : यों मन कबहूँ तुमहि न लाग्यो।
ज्यों छल छाँडि सुभाव निरतर रहत विपय अनुराग्यो॥[5]

प्रयोजनवाचक : *जड़ जीवन को* करे *सचेता*। जग माहीं बिचरत एहि हेता॥[6]

उपर्युक्त पक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अकित अश क्रियाविशेषण वाक्यपदों की श्रेणी में आते हैं जिनमें यथास्थान काल, स्थान, परिणाम, कारण, रीति एव प्रयोजन आदि विभिन्न परिस्थितियों की व्यंजना हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्य में भी सुलझे हुए वाक्यपदों का प्रयोग करने वाले तुलसी की भाषा वाक्यरचना के क्षेत्र में भी उतनी ही प्रौढ़ सिद्ध होती है जितनी व्याकरण के अन्य अंगों के क्षेत्रों में।

---

१ रा० ६, ३२ २ क० ७, ६१ ३ दो० ४६४
४ श्रीकृ० २४ ५ वि० १७० ६ वै० स० ६

तृतीय अध्याय

भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण

भाषा-वैज्ञानिक पक्ष के अंतर्गत जिन प्रमुख बातो पर विचार करना आवश्यक है, उनमें तुलसी द्वारा प्रयुक्त ध्वनि-समूह का विवेचन, उनकी रचनाओं में प्रयुक्त अनेकानेक भाषाओं एवं बोलियों के प्रयोगो की सागोपाग छानबीन तथा शब्दकोष की दृष्टि से तुलसी की शब्दसंख्या का महत्व इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

तुलसी द्वारा प्रयुक्त ध्वनिसमूह

सक्षेप मे हम तुलसी को प्रामाणिक रचनाओं मे मिलने वाली ध्वनियों का सामान्य वर्गीकरण करके फिर उन पर उच्चारण की दृष्टि से तथा ध्वनि-परिवर्तन अथवा ध्वनि-विकार की दृष्टि से विचार करेंगे।

वर्गीकरण

स्वर—(१) मूल स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ (रि), ऍ, ए, ऐॅ, ओ, ऑ, औॅ।

(२) अनुनासिक स्वर : समस्त मूल स्वरों के अनुनासिक रूप, जैसे अँ, आँ, इँ, ईं आदि।

(३) संयुक्त स्वर : ह्रस्व तथा दीर्घ मूल स्वरों के अनेक संयुक्त रूप, जैसे अइ, अई, अए आदि।

व्यंजन—(१) स्पर्श—कंठ्य—क्, ख्, ग्, घ्।
तालव्य—च्, छ्, ज्, झ्।
मूर्द्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ढ्।
दन्त्य— त्, थ्, द्, ध्।
औष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्।

(२) अनुनासिक—ङ्, ञ्, न्, न्ह्, म्, म्ह्।

(३) अन्तस्थ—य्, र्, ल्, व्, ड़्, ढ़, ल्ह्।

(४) ऊष्म—ष् (श्) स्, ह्।

(५) अनुस्वार और विसर्ग

'ऋ' के दोनों रूप 'ऋ' और 'रि' लिखित मिलते हैं, किंतु उनका उच्चारण 'रि' ही रहता है।

विवेचन

स्वर-उच्चारण की दृष्टि से तुलसी द्वारा व्यवहृत स्वरों में ऋ (रि), एँ, ऐँ ओँ तथा औँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। अन्य के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं पाई जाती।

वैदिक ध्वनि 'ऋ' का मूल रूप में उच्चारण नहीं मिलता। इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि तुलसी की कृतियों में ही नहीं, वरन् प्राचीन ब्रज और अवधी में रचित हस्तलिखित पोथियों तथा उनके आधुनिक प्रामाणिक संस्करणों में भी 'ऋ' के स्थान पर 'रि' का व्यवहार प्रचुर मात्रा में मिलता है, जैसे ऋषि और ऋतु के स्थान पर 'रिषि' और 'रितु'। किन्तु इसका सूचक (नीचे लगने वाला चिन्ह) तुलसी की रचनाओं में प्रायः सुरक्षित मिलता है, जैसे कृपा, पृथु (क्रिपा, प्रिथु नहीं)।

एँ और ओँ से क्रमशः ए और ओ के ह्रस्व रूपों का बोध होता है। इसी प्रकार यद्यपि ऐ (अ+इ) और औ (अ+उ) दो स्वरों के संयुक्त रूप हैं, किन्तु उच्चारण एक ही मात्रा-काल में होने के कारण उनको मूल स्वरों के रूप में ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। इनका उच्चारण बहुत-कुछ अए, अओ की भाँति हो जायगा। यही बात ऐँ तथा औँ के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए, जो क्रमशः ऐ और औ के अपूर्णोच्चरित रूप हैं। दोनों प्रकार के रूपों की स्वतंत्र सत्ता मानने का कारण मात्रा-काल की विशेषता ही है।

क्रमशः उपर्युक्त पाँचो स्वरों के प्रयोग के कुछ उदाहरण तुलसी की रचनाओं में से उद्धृत किए जाते हैं।

रि—१—शुद्ध वैदिक 'ऋ' के रूप में सुरक्षित, उदाहरणार्थ—

ऋषिराज राजा आजु जनक समान को।[1]

२—'रि' के रूप में—*रिषय* संग रघुवंस मनि, करि भोजनु, बिश्रामु।[2]

३—चिन्ह से युक्त रूप—मुनि कुल तिलक कि *नृप* कुल पालक।[3]

एँ, ऐँ—अवधेस के *द्वारेँ सकारेँ* गई सुत गोद कैँ भूपति लै निकसे।[4]

कबहूँ करताल बजाइ कैँ नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।[5]

ओँ, औँ *सोँइ* सुख *सोँइ* गति *सोँइ* भगति, *सोँइ* निज चरन सनेहु।[6]

कहा जोँ प्रभु प्रवान पुनि सोई।[7]

सोइ हौँ बूझत राज सभा धनु कौन दल्यो दलिहौं बल ताको।[8]

गोरोँ गरूर गुमान भरो कहौँ कौसिक *छोटोँ सोँ ढोटोँ* है काको।[9]

---

१ गी० १,८६ २ रा० १,२१७ ३ रा० १,२१५
४ क० १,१ ५ क० १,४ ६ रा० १,१५०
७ रा० १,१५० ८ क० १,२० ९ क० १,२०

प्रयोग की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रत्येक मूल स्वर के अनुनासिक रूप का व्यवहार भी बराबर हुआ है। इसके पर्याप्त उदाहरण तुलसी की रचनाओं में मिलेंगे। जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में अंकित अंश—

अं—भक्ति विराग ज्ञान साधन कहि बहुविधि डहँकत लोग फिरौ।[1]
आं—काहे को बचन कहत *सवाँरी*।[2]
इं—मिले *गुरहिं* जन परिजन भेंटत भरत सप्रीति।[3]
ईं—बर मिलौ सीतहि सावँरो हम हरषि मंगल *गावहीं*।[4]
उं—बौरेहि के अनुराग *भइउं* बड़ि बाउरि।[5]
ऊं—ते तुम्ह कहहु मातु वन *जाऊं*। मैं सुनि बचन बैठि पछि*ताऊं*॥[6]
एं—*भेंटत* भरतु ताहि अति प्रीती।[7]
ऐं—बल विनय विद्या सील सोभा सिंधु इन्ह से एइ *अहैं*।[8]
ओं—जो अनुराग न राम सनेही *सों*। तौ लह्यो लाहु कहा नर देही सों।[9]
औं—सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार वेलि *पहिरावौं* चंपक होत॥[10]
एँ—*यातें* सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं।[11]
ऐँ—चौतनी चोलना काछे, सखि सोहैं आगे पाछे,
आछे हू तें आछे आछे आछे भाय पाए हैं।[12]
ओँ—तो सों कहों दसकंधर रे रघुनाथ विरोध न कीजिय बौरे।[13]
औँ—कोसलराज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै वारिधि बोरौं।[14]

अनुनासिक रूपों के साथ ही साथ लगभग प्रत्येक मूल स्वर के संयुक्त रूपों का व्यवहार भी तुलसी की भाषा के अन्तर्गत प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। इनमें अइ तथा अउ के स्थान में यत्रतत्र ऐ तथा औ का भी प्रचलन मिलता है, जैसा ब्रज-भाषा तथा अवधी के व्याकरण मे सामान्यतः हुआ करता है। कुछ संयुक्त स्वरों के प्रयोग उदाहरण सहित नीचे दिए जा रहे हैं :—

अआ—अति कोप सों रोप्यो है पावँ सभा सब लंक ससंकित सोर *मचा*।[15]
अइ—देखन मिसु मृग विहँग तरु, फिरइ वहोरि वहोरि।[16]
अई—सो कहौ मधुप जो मोहन कहि *पठई*।[17]

१	वि० १४१	२	श्रीकृ० ४३	३	रामाज्ञा० ६,२,२
४	जा० मं० ६३	५	पा० मं० ७०	६	रा० २, ५६
७	रा० २, १६४	८	रा० १, २११	९	वि० १६४
१०	बरवै० ६	११	क० १, १७	१२	गी० १, ७२
१३	क० ६, १२	१४	क० ६, १४	१५	क० ७, १५
१६	रा० १, २३४	१७	श्रीकृ० ३६		

अउ—जो सहज कृपाला दीन दयाला करउ अनुग्रह सोई ।[1]
अऊ—सिय रूप रासि निहारि लोचन-लाहु लोगन्हि *पायऊ* ।[2]
अए—उमंगि चल्यो आनंद लोक तिहुँ देत सबनि मंदिर *रितए* ।[3]
आइ—बरनउँ रघुबर बिसद जसु, सुनि कलि कलुष *नसाइ* ।[4]
आई—सानुज हिय हुलसति तुलसी के प्रभु की ललित *लरिकाई* ।[5]
आउ—सुनि सीतापति सील *सुभाउ* ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल, सो नर खेहर *खाउ* ॥[6]
आऊ—चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम *प्रभाऊ* । कलि बिसेषि नहिं आन *उपाऊ* ॥[7]
इअ—तिन्ह कहँ *कहिय* नाथ किमि चीन्हे ।[8]
इए—तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि *किए* ।[9]
एइ—*सेइय* सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी ।[10]
एई—प्रथम राम भेंटी कैकेई । सरल सुभाय भगति मति भेई ॥[11]
एउ—*मांगेउ* बिदा प्रनामु करि, राम लिए उर लाइ ।[12]
एऊ—जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीह जपि जानहिं *तेऊ* ।[13]
आउ—पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ।[14]
ओंइ—*सोंइ* रघुबर *सोंइ* लछिमन सीता । देखि सती अति भई सभीता ॥[15]
ओइ—तुलसी राम जो आदर्‌यो, खोटो खरो *खरोइ* ।[16]
ओई—तात जनक तनया यह *सोई* । धनुष जग्य जेहि कारन *होई* ॥[17]
ओउ—सिंधु तरन कपि गिरि हरन, काज साइं हित *दोउ* ।[18]
ओऊ—तू देखि देखि री ! पथिक परम सुदर *दोऊ* ।[19]

उक्त सयुक्त स्वरों के कुछ ऐसे भी प्रयोग मिलते हैं जिनमें एक स्वर अनुनासिक हो गया है, उदाहरणार्थ :—
अउँ—अस सुभाव कहुँ *सुनउँ* न *देखउँ* । केहि खगेस रघुपति सम *लेखउँ* ॥[20]
अई—मंजु मधुर मूरति उर आनी । *भई* सनेह सिथिल सब रानी ॥[21]
आईं—केसव कारन कौन *गोसाईं* ।[22]
आईं—भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलनि *झाईं* ।[23]

१	रा० १, १८६	२	जा० मं० ६०	३	गी० १, ३
४	रा० १, २६	५	गी० १, १६	६	वि० १००
७	रा० १, २२	८	रा० १, २६२	९	क० १, ६
१०	वि० २२	११	रा० २, २४४	१२	रा० २, ३१६
१३	रा० १, २२	१४	गी० २, ३६	१५	रा० १, ५५
१६	दो० १०६	१७	रा० १, २३१	१८	दो० ४४५
१९	गी० २, १६	२०	रा० ७, १२४	२१	रा० १, ३३७
२२	वि० ११२	२२	गी० १, १०६		

व्यंजन

व्यजनों पर दो प्रमुख दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है—

१—उच्चारण की दृष्टि से।

२—ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से।

उच्चारण की दृष्टि से स्पर्श व्यजनों के अंतर्गत कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं मिलती। अतः उन पर विचार करना अनावश्यक है।

अनुनासिको के संबध में इतना संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि ङ्, ञ् और ण् ध्वनियाँ अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं मिलतीं, प्रायः अनुस्वार से ही उनका भी बोध करा देने की प्रवृत्ति तुलसी मे अधिकता से दृष्टिगोचर होती है, जैसे 'गङ्गा' के स्थान में 'गगा', 'अञ्जन' के स्थान में 'अजन', 'कुण्डल' के स्थान में 'कुंडल'। 'ण' ध्वनि का 'न' उच्चारण प्रायः ब्रजभाषा और अवधी दोनो में ही बहुलता से प्रचलित है, जैसा आगे हम ध्वनि-परिवर्तन के विवेचन के प्रसग में देखेंगे। अंतस्थ व्यंजनो के अतर्गत 'ल्ह' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सयुक्त व्यंजनों के विविध उच्चारण में विशिष्ट ध्वनि के लिए उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'मल्हाइ' शब्द को ले सकते हैं।

बछरु, छबीलो छगन मगन मेरे कहति *मल्हाइ मल्हाई*[1]।

शेष व्यजनों में उच्चारण की दृष्टि से केवल 'स' तथा 'ष' विचारणीय है। 'श' का उच्चारण प्रायः 'स' की भाँति होने के परिणामस्वरूप ही संभवतः अनेक शब्दों में 'श' ध्वनि के स्थान में 'स' का व्यवहार प्रचुरता से मिलता है, जैसे 'शत' के स्थान पर 'सत' और 'शैल' के स्थान पर 'सैल' आदि का प्रयोग, उदाहरणार्थः—

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा।[2]

सुंदर स्याम सरीर सैल तें धँसि जनु जुग जमुना अवगाहैं।[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में 'जोजन' तथा 'जुग' शब्दों को देख कर, जो क्रमशः 'योजन' तथा 'युग' शब्दों के परिवर्तित रूप हैं, कोई भी यह अनुमान कर सकता है कि जिस प्रकार तालव्य 'श' के स्थान पर प्रायः दन्त्य 'स' उच्चरित होता है, उसी प्रकार 'य' के स्थान पर 'ज' का उच्चारण भी व्यापक रूप से होता होगा, परतु ऐसा नहीं है।

मूर्द्धन्य 'ष' का विवेचन उच्चारण की दृष्टि से सारे व्यजनो में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका उच्चारण एक साथ ही कुछ शब्दो में तालव्य 'श' की भाँति तथा कुछ शब्दों मे कण्ठ्य 'ख' की भाँति होता है।[4] कहीं-कहीं तो यह उच्चारण-विभिन्नता

---

१ गी० १, १६ २ रा० ५,२ ३ गी० ७,१२

४ ध्वनि विकास की दृष्टि से इस विकास का विश्लेषण बड़ा रोचक है कि संस्कृत में तालव्य 'श' से मिलती-जुलती यह मूर्द्धन्य 'ष' की ध्वनि किस प्रकार क्रमश' बोलचाल की हिंदी में, विशेष कर अवधी में 'श' की ही नहीं (क्योंकि 'श' की ध्वनि से इसका साम्य

वैकल्पिक है, जैसे भूषन, पुरुष आदि में, किंतु कहीं-कहीं विभिन्नता अनिवार्य सी हो गई है, जैसे 'लषन' को 'लशन' अथवा 'सेष' का 'सेख' उच्चारण करना बहुत कुछ हास्यास्पद एव अव्यावहारिक समझा जायगा। उक्त चारो शब्दों के उच्चारण की उपयुक्तता की जाँच निम्नलिखित पक्तियों में सरलतापूर्वक की जा सकती हैः—

त्राहि रघुबंस भूषन कृपा कर कठिन काल बिकराल कलि त्रास त्रस्तम्।[1]
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ।[2]
लोने लाल लषन सलोने राम लोनी सिय चारु चित्रकूट बैठे सुरतरु तर हैं।[3]
सारद सेष सुकबि स्रुति संत सरल मति।[4]

इनमें 'भूषन' तथा 'पुरुष' का उच्चारण 'भूखन' और 'पुरुख' के साथ-साथ 'भूशन' और 'पुरुश' का एक साथ हो सकता है, किंतु 'लषन' का उच्चारण केवल 'लखन' और 'सेष' का उच्चारण केवल 'सेश' है। दो शब्द क्ष, त्र और ज्ञ ध्वनियों के संबध में भी कह देना आवश्यक है, जो उच्चारण की दृष्टि से सयुक्त व्यजन होते हुए भी हिंदी की नागरी लिपि की दृष्टि से प्रायः मूल व्यजनों के साथ-साथ रखे जाते हैं। इस विषय में यहाँ पर इतना ही सकेत पर्याप्त होगा कि तुलसी ने प्रायः 'क्ष' की जगह 'छ' किंतु 'त्र' और 'ज्ञ' की जगह 'त्र' और 'ज्ञ' ही व्यवहृत किया है। यद्यपि यत्रतत्र 'त्र' के स्थान में 'त' तथा 'ज्ञ' के स्थान में 'ग्य' का व्यवहार भी मिलता है, जैसे गीता प्रेस के 'रामचरित मानस' के अतर्गत निम्नलिखित पक्तियों में—

सहज छमा बरु छांड़ै छोनी।[5]
धनुहीं सम *तिपुरारि* धनु, बिदित सकल संसार।[6]
सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। *ग्यान* नयन निरखत मन माना॥[7]

अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता) वरन् कुछ विशेष स्थलों पर ख' ध्वनि की भी सूचक हो गई। तुलसी की भाषा में तो बहुत से विद्वान कुछ हस्तलिखित प्रतियों की लिपि के आधार पर 'ष' का 'ख' उच्चारण ही सर्वत्र लागू करने के पक्ष में हैं। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह प्रवृत्ति किसी आकस्मिक घटना के रूप में नहीं आ गई। वस्तुत शुक्लयजुर्वेद की माध्यदिनी शाखा के अंतर्गत 'पुरुष सूक्त' में प्रयुक्त 'सहस्र शीर्षा पुरुषा ' इत्यादि शब्दों में 'ष का 'ख' उच्चारण नियमित रूप से प्रचलित रहा है। इसी उच्चारण प्रक्रिया में यदि हम प्रस्तुत ध्वनि विकास के मूल को खोजने का प्रयत्न करें, तो अनुचित न होगा। यह भी संभव है कि मूर्द्धन्य ध्वनियों के उपर्युक्त 'ष' उच्चारण में जो कठिनाई अवधी तथा इसके समीपवर्ती बोलियों का प्रयोग करने वालों को रही है उसको दूर करने के लिए प्रयत्न-लाघव से इस ध्वनि का उच्चारण मूर्द्धा के और आगे बढ़कर करने का ही यह एक स्वाभाविक परिणाम हो।

१ वि० ४१ २ रा० १,११६ ३ गी० २,४५
४ जा० मं० १ ५ रा० २, २३२ ६ रा० १, २७१
७ रा० १,३७

इनमें 'क्षमा' और 'क्षोणी' के स्थान में 'छमा' और 'छोनी', 'त्रिपुरारि' के स्थान में 'तिपुरारि' तथा 'ज्ञान' के स्थान में 'ग्यान' का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। 'च' के विषय में ध्वनि-परिवर्तन के कुछ और नियम भी लागू होते हैं, जिनका निर्देश यहाँ उच्चारण के प्रसग में न करके आगे ध्वनि-परिवर्तन के प्रसंग में किया जायगा।

अनुस्वार और विसर्ग के चिन्हों का व्यवहार प्रायः संस्कृत-तत्सम शब्दों में तथा यत्रतत्र अन्य शब्दों के साथ भी हुआ है। इसके संबंध में केवल एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह यह कि विसर्ग का व्यवहार तुलसी ने जितना कम किया है, अनुस्वार का उतना ही अधिक। अनुस्वार के विपय में भी एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि कहीं-कहीं इसके चिन्हों का उपयोग लेखन-सुविधा के विचार से मूल अनुस्वार के अतिरिक्त शब्दों के साथ अत में लगने वाले अर्द्ध-चद्र के लिए भी हुआ है; उदाहरणार्थ :—

बधें पाप अपकीरति *हारें*। मारतहूँ पा परिअ *तुम्हारें* ॥[1]

ध्वनि-परिवर्तन

उच्चारण के संबंध में विचार कर लेने के पश्चात हम ध्वनि-परिवर्तन संबंधी कुछ व्यापक नियमों पर आते हैं, जिनका अनुसरण तुलसी ने अपनी भाषा में किया है। इन नियमों के विषय में हम इस बात को पहले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह नियम सर्वत्र नहीं लागू होते। अधिकांश स्थलों में कुछ विशेष शब्दों में परिवर्तन की प्रवृत्ति को देख कर ही इनका निर्धारण किया गया है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

(क)—स्वर-भक्ति के द्वारा ध्वनि-परिवर्तन, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'तरक', 'संकलप' तथा 'मुकुता' शब्दों को क्रमशः 'तर्क', 'संकल्प' तथा 'मुक्ता' के अन्त्य सयुक्ताक्षरों के बीच स्वर ला कर बनाया गया है; उदाहरणार्थ :—

तासु *तरक* तिय गन मन मानी।[2]
कन्यादान *संकलप* कीन्ह धरनिधर।[3]
हाथ लेत पुनि *मुकुता* करत उदोत।[4]

(ख)—अग्रागम के सहारे ध्वनि-परिवर्तन की क्रिया; जैसे निम्नलिखित पक्तियों में व्यवहृत 'अस्नान' शब्द 'स्नान' शब्द के पूर्व प्रयत्नलाघव के सिद्धांत के अनुसार 'अ' स्वर के योग से बना है :—

निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह *अस्नाना*।[5]

इन संयुक्ताक्षरों के अंतर्गत ध्वनि-परिवर्तन के संबध में यत्रतत्र उपलब्ध होने वाले ऐसे स्फुट लक्षणों को जान लेना भी उपयोगी होगा जो बहुत व्यापक रूप से लागू

---

१ रा १, २०३ २ रा० २, २२२ ३ पा० मं० १४४
४ बरवै० १ ५ रा० १, २२३

न होते हुए भी उच्चारण एव प्रयोग की सुविधा की स्वाभाविक वृत्ति के फलस्वरूप व्यवहार में आ गए हैं और जिनका वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा के विकास मे पर्याप्त योग रहा करता है। इनका सक्षेप मे उदाहरण-सहित विश्लेषण नीचे किया जाता है: —

(क)—'क्ष' के स्थान में 'क्ख', 'च्छ' तथा 'छ' ध्वनियों का व्यवहार। ये चारों रूपान्तर तुलसी की भाषा में कुछ विशिष्ट शब्दो के सबध मे रूढ़ हो गए हैं। उदाहरणार्थ :—

'क्ष' का 'क्ख' में रूपातर निम्नलिखित पक्ति के टेढे अक्षरों वाले शब्दों 'लक्ख' तथा 'तिक्खन' (जो क्रमशः 'लक्ष' और 'तीक्ष्ण' के ही रूपातर हैं) का प्रयोग :—

लक्ख में पक्खर *तिक्खन* तेज जे सूर समाज मे गाज गने हैं।[१]

'क्ष' का 'च्छ' में रूपांतर जैसे निम्नलिखित पक्तियो के टेढे अक्षरों वाले अशो में 'लक्षण' के लिए 'लच्छन', 'पक्ष' के लिए 'पच्छ', 'विपक्ष' के लिए 'विपच्छ' तथा 'अक्ष' के लिए 'अच्छ' का व्यवहार:—

ए सब *लच्छन* बसहिं जासु उर।[२]
काक *पच्छ* मिलि सखि कस लसत कपोल।[३]
राम प्रताप हुतासन *कच्छ* *विपच्छ* समीर समीर दुलारो।[४]
अच्छ बिमर्दन कानन भांन दसानन आनन भाननि हारो।[५]

'क्ष' के स्थान में केवल 'छ' ध्वनि का प्रयोग, जिसका कुछ संकेत पीछे किया जा चुका है, जैसे 'राक्षस', 'क्षम' तथा 'अक्षय' के स्थान में क्रमशः 'राछस', 'छम' तथा 'अछय' शब्दों का व्यवहार निम्निलिखित पक्तियों में—

रिषि अगस्ति की साप भवानी। *राछस* भयउ रहा मुनि ग्यानी ॥[६]
ब्रह्म बिसिख ब्रह्मांड दहन *छम*, गर्भ न नृपति जर्‌यो।[७]
संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम *अछय* बट भ्राजे।[८]

(ख)—'ग्य' का 'ग' में रूपातर, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'जोगु' और 'भाग', जो क्रमशः 'योग्य' और 'भाग्य' के रूपातर हैं:—

देखि राम छबि कोउ एक कहई। *जोगु* जानकिहि यह वरु, अहई ॥[९]
भूमितल भूप के बड़ *भाग*।[१०]

---

१ क० ६ ३६	२ रा० ७, ३८	३ बरवै० ८
४ क० छ० बा० १६	५ क० छ० बा० १८	६ रा० ५, ५७
७ वि० २३६	८ गी० ७, १५	९ रा० १, २२२
१० गी० १, २६		

[१]पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के काल से ही 'क्ष' का 'क्ख' में रूपांतर हो चुका था, जैसे 'मोक्ष' का 'मोक्ख', 'अक्षर' का 'अक्खर'। यही प्रवृत्ति आगे हिंदी की बोलियों में भी आती गई है। तुलसी की शब्दावली में भी इस प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं।

(ग)—संयुक्ताक्षर 'त्व' का 'तु' में रूपांतर भी द्रष्टव्य है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'तुरा' तथा 'तुरत', जो क्रमशः संस्कृत 'त्वरा' तथा 'त्वरित' से सीधे संबंधित हैं—

तीखी *तुरा* तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।[१]
लछिमन *तुरत* बोलाए, पुरजन बिप्र समाज।[२]

(घ)—'त्स' का 'च्छ' अथवा 'छ' रूप में ग्रहण कई स्थानों पर स्थायी रूप से दिखाई पड़ता है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'बच्छ', 'मच्छर' तथा 'उछाह' शब्दों का व्यवहार, जो क्रमशः संस्कृत 'वत्स', 'मत्सर' तथा 'उत्साह' के व्युत्पन्न हैं—

बहुरि *बच्छ* कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।[३]
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥[४]
अनुदिन उदय *उछाह* उमग जग, घर घर अवध कहानी।[५]

इन संयुक्ताक्षरों के पश्चात् स्फुट रूप से कुछ व्यंजनों के भीतर ध्वनि-परिवर्तन के संबंध में जिन प्रमुख नियमों का अनुसरण तुलसी की भाषा में दिखाई पड़ता है, वे भी संक्षेप में नीचे दिए जा रहे हैं।

(क) मूर्द्धन्य ध्वनि 'च' का अन्तस्थ ध्वनि 'य' में रूपांतर, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त लोयन और बयन क्रमशः लोचन और वचन के रूपांतर हैं—

हिये हेरि हरि लेत, लोनी ललना समेत, *लोयननि* लाहु देत, जहाँ जहाँ जैहैं।[६]
कहहिं परस्पर कोकिल *बयनी*। एहि बिआह बड़ लाभु सुनयनी॥[७]

(ख) 'ज' ध्वनि का लोप, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'समाऊ' तथा 'मुनिराऊ' का व्यवहार, जो क्रमशः 'समाजू' तथा 'मुनिराजू' के रूपांतर हैं।

अरुंधती अरु अगिनि *समाऊ*। रथ चढ़ि चले प्रथम *मुनिराऊ*।[८]

(ग) 'ण' के स्थान में प्रायः 'न' का व्यवहार, उदाहरणार्थ 'पाणि' तथा 'प्राण' के लिए क्रमशः 'पानि' और 'प्रान' का प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में—

सर चारिक चारु बनाइ कसे करि *पानि* सरासन सायक लै।[९]
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,
बसत हृदय जोरी प्रिय परम *प्रान* की।[१०]

(घ) 'द' ध्वनि का लोप, जैसे 'प्रसादु' के स्थान में 'पसाउ' निम्नलिखित पंक्ति में—

तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम *पसाउ*।[११]

---

१ क० ६, ५४ २ रा० ४, ११ ३ रा० २, ६८
४ रा० ७, ७१ ५ गी० १, ४ ६ गी० २, ३७
७ रा० १, २१० ८ रा० २, १८७ ९ क० २, २७
१० गी० २, ४४ ११ वि० १००

(ङ) 'घ' 'थ' तथा 'ध' के स्थान में 'ह' का व्यवहार, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में 'मेघ', 'नाथ', 'क्रोध' और 'गाथा' के स्थान में क्रमशः 'मेह', 'नाह', 'कोह' और 'गाहा' का प्रयोग—

जग कह चातक पात की, ऊसर बरसै *मेह* ।[१]
इन्हहि बहुत आदरत महामुनि, समाचार मेरे *नाह* कहेरी ।[२]
खायो कै खवायो कै बिगार्‌यो ढार्‌यो लरिका री,
ऐसे सुत पर *कोह* कैसो तेरो हियो है ।[३]
करन चहउँ रघुपति गुन *गाहा* ।[४]

(च) 'भ' ध्वनि का 'ह' ध्वनि में रूपांतर, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में 'लाभ' के स्थान पर 'लाहु तथा 'जीभ' के स्थान पर 'जीह' का प्रयोग—

लेहु री लोचननि को *लाहु* ।[५]
नाम *जीह* जपि जागहि जोगी ।[६]

(छ) 'स' ध्वनि का 'ह' ध्वनि में रूपातर, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में 'बीस' के लिए 'बीह' तथा 'दस के लिए 'दह' का प्रयोग—

साँचेहु मैं लबार भुज *बीहा* । जौं न उपारिउँ तव दस जीहा ॥[७]
दह दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन । गरजहिं घोर कठोर भयावन ॥[८]

(ज) 'म' के स्थान में 'व' अथवा अनुनासिक 'वँ' का व्यवहार, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'रवन', 'गवन', 'कवँल' तथा 'पावँर' क्रमशः 'रमण', 'गमन', 'कमल' तथा 'पामर' के ही परिवर्तित रूप हैं—

कूबरी *रवन* कान्ह कही जो मधुप सों, सोई सिख सजनी सुचित है सुनी ।[९]
तिन्ह स्रवननि बन *गवन* सुनति हौं मो ते कौन अभागी ।[१०]
तुलसी सुतीय संग सहज सुहाए अंग, नवल *कवंल* हू ते कोमल चरन हैं ।[११]
ते नर *पावँर* पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि[१२] ।

(झ) 'व' का 'ब' ध्वनि में रूपांतर, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में क्रमशः 'वेद', 'विधि', 'विषय' तथा 'विवेक' के स्थान में 'बेद', 'बिधि', 'बिषय' तथा 'बिबेक' का प्रयोग—

लोक-बेद-*बिधि* कीन्ह लीन्ह जल कुस कर[१३] ।
बिषय-सुख-लालसा-द स-मसकादि, खल झिल्लि रूपादि सब सर्प स्वामी[१४] ।

---

१ दो० २६८ २ गी० २, ४२ ३ श्रीकृ० १६
४ रा० १, ८ ५ गी० १, १५ ६ रा० १, २२
७ रा० ६, ३४ ८ रा० ६, ६६ ९ श्री कृ० २७
१० गी० २, ४ ११ क० २, १७ १२ रा० ५, ४३
१३ पा० म० १४४ १४ वि० ५९

अस बिबेक जब देइ बिधाता ।[1]

(ञ) 'य' का 'ज' ध्वनि में रूपान्तर, जैसे निम्नलिखित पक्तियो में प्रयुक्त 'जोग' तथा 'जग्य' क्रमशः 'योग' तथा 'यज्ञ' के ही परिवर्तित रूप हैं—

राग राम नाम सों बिराग *जोग* जागिहै ।[2]
त्रेतॉ बिबिध *जग्य* नर करही ।[3]

इसके सबन्ध में इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि किसी मूल शब्द का अतिम व्यजन होने पर प्रायः 'य' का 'ज' में रूपांतर नही होता। केवल प्रारम्भ में ही प्रयुक्त होने पर बहुधा उक्त नियम का अनुसरण किया गया है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति मे 'सुभाय' के स्थान पर 'सुभाज' नहीं हुआ—

पंचवटी बर पर्न कुटी तर बैठे हैं राम *सुभाय* सुहाए ।[4]

(ट) सयुक्ताक्षरों के अनुनासिक व्यजनो ङ, ञ, ण, न तथा म के स्थान में यत्रतत्र स्वच्छदतापूर्वक केवल अनुस्वार का प्रयोग करके काम चलाया गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त अक, चंचल, पडित, मंडित, सत, अंत तथा चंपक, जो क्रमशः अङ्क, चञ्चल, पण्डित, मण्डित, सन्त, अन्त तथा चम्पक के ही रूपातर हैं—

राम नाम को *अंक* है; सब साधन है सून ।[5]
लरिकाई बीती अचेत चित, *चंचलता* चौगुनी चाय ।[6]
सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ग्याता । सोइ महि *मंडित* *पंडित* दाता ।।[7]
झूठो है झूठो है झूठो सदा जग *संत* कहंत जे *अंत* लहा है ।[8]
चंपक हरवा अङ्ग मिलि अधिक सोहाइ ।[9]

यहीं पर यह भी संकेत कर देना अनुचित न होगा कि उपर्युक्त ध्वनि-नियमों को तुलसी की भाषा के संबध में सर्वत्र लागू होने वाले लक्षणों की श्रेणी मे गिनना उचित न होगा, क्योंकि प्रत्यक्षतः इनके सूचक शब्दों के साथ ही साथ कहीं-कहीं तो इनसे भी अधिक सख्या में मूल संस्कृत-तत्सम शब्दों का व्यवहार हुआ है। यह बात दूसरी है कि जिन ग्रंथों में कवि ने जनभाषा के स्वरूप को अधिक सुरक्षित रखना चाहा है अथवा जहाँ तक विषय-तत्व एवं रचना-शैली के स्वाभाविक झुकाव ने ही कवि को तत्समता को दूर रखते हुए अधिकाधिक तद्भव शब्दो के क्षेत्र में विचरने को विवश कर दिया है, वहाँ पर इन ध्वनि-नियमों का अनुसरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है और वस्तुतः उन्हीं मे भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सामग्री भी उपलब्ध होती है—उदाहरणार्थ वत्स, नाथ, मेघ, गाथा, उत्साह और भाग्य आदि शब्दों की अपेक्षा प्रस्तुत अध्ययन में बच्छ, नाह,

---

१ रा० १, ७   २ वि० ७०   ३ रा० ७, १०३
४ क० ३, १   ५ दो० १०   ६ वि० ८३
७ रा० ७, १२७   ८ का ७, ३१   ९ बरवै० ५

मेह, गाहा, उछाह तथा भाग आदि शब्दों का प्रयोग कहीं अधिक महत्व रखता है, इसका स्पष्ट कारण यह है कि ऐसे शब्द भाषा के वैज्ञानिक विकास का उदाहरण उपस्थित करने में अधिक उपयुक्त हैं।

सामान्य रूप से भाषा-वैज्ञानिक आधार पर तुलसी द्वारा व्यवहृत समस्त शब्दावली का विभाजन निम्नलिखित पाँच वर्गों में किया जा सकता है—

१ संस्कृत भाषा के, तथा उसी से सीधे ग्रहण किए हुए तत्सम हिंदी शब्दों का वर्ग।

२. प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट करने वाले शब्दों का समूह।

३. विदेशी भाषाओं के तत्सम, अर्द्ध तत्सम अथवा तद्भव शब्दों का वर्ग।

४. इतर प्रान्तीय भाषाओं से लिए गए देशज शब्द।

५ हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश के अंतर्गत बोली जाने वाली विविध बोलियों तथा उपबोलियों के रूप में बिखरी हुई तत्कालीन जनभाषा के शब्द।

इन वर्गों का क्रमशः विवेचन एवं विश्लेषण करते हुए हम इनके सापेक्षिक महत्व का अध्ययन करेंगे।

१. संस्कृत-तत्सम शब्द

इस वर्ग के अंतर्गत संस्कृत श्लोकों की भाषा में व्यवहृत शब्द तथा अधिकाधिक संस्कृत-तत्सम शब्दावली समन्वित स्फुट स्तोत्रों अथवा गीतों की भाषा में व्याप्त प्रयोग विशेष रूप से आते हैं। इनका मूल्यांकन करने के लिए सब से पहले इस बात को स्मरण कर लेना चाहिए कि तुलसीदास जी अपनी कृतियाँ संस्कृत भाषा में नहीं, वरन् किसी जनभाषा में ही, जिसे उस काल की भाषा में 'भाषा' ही कहना अधिक उपयुक्त होगा, प्रस्तुत करना चाहते थे। इसका प्रबल प्रमाण यही है कि संस्कृत छंद-रचना का ज्ञान रखते हुए भी उन्होंने एक छोटा सा नाम मात्र का ग्रन्थ भी (रहीम जैसे अहिंदी-भाषी मुसलमान कवि तक ने 'मदनाष्टक' जैसे संस्कृत ग्रन्थ की रचना कर डालने का साहस किया था) विशुद्ध संस्कृत भाषा में नहीं उपस्थित किया। यह परम्परा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश काल से ही आरम्भ हो चुकी थी। तुलसी के पूर्वकालीन अपभ्रंश-काव्य तथा इतर हिंदी-काव्य के प्रवाह में संस्कृत भाषा,का काव्य माध्यम के रूप में ग्रहण लग-भग बिल्कुल बन्द हो चुका था। कवि और जनता दोनों के लिए संस्कृत कुछ दुर्बोध एवं अव्यावहारिक हो चली थी। मंगलाचरण तथा प्रायः अन्त में भी संस्कृत श्लोको का व्यवहार अपभ्रंश-साहित्य में परम्परा से चला आ रहा था।

संस्कृत श्लोकों की जो भी थोड़ी-सी रचना उन्होंने की है, वह केवल देववाणी की पवित्रता के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए तथा विशेषकर इस भाव को स्पष्ट कर देने के उद्देश्य से, कि वे न तो संस्कृत के प्रति कोई उपेक्षा अथवा अनादर की भावना के कारण, न उससे अनभिज्ञ होने अथवा उस पर अधिकार न रखने के कारण, किंतु

विशुद्ध जनोपयोगिता की दृष्टि से जनभाषा अथवा 'भाषा' को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाने का निश्चय किया। किसी परिस्थिति-जन्य विवशता के कारण भी नहीं, जिसके फलस्वरूप उन्हें केशव की भाँति अपने इस कृत्य पर किसी प्रकार के पश्चात्ताप का अनुभव हो, किंतु उस काल में स्वांतः सुखाय तथा साथ ही सर्वजनहिताय दोनों ही दृष्टियों से जो उन्हें सब से श्रेयस्कर मार्ग जान पड़ा, वह उन्होंने पकड़ा। प्रश्न हो सकता है कि क्या भाषा के साथ-साथ किसी ही किसी ग्रंथ में संस्कृत को स्थान दे देना आवश्यक था अथवा क्या इसे कवि की व्यक्तिगत अभिरुचि अथवा सनक मात्र कह कर हम नहीं संतोष कर सकते? वस्तुस्थिति यह है कि केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण से तो अवश्य ही ऐसा करना अनिवार्य न था, क्योंकि बिना संस्कृत में रचना किए हुए भी कवि देववाणी के प्रति अपनी श्रद्धा उसी प्रकार व्यक्त कर सकता था, जैसा उसने अन्य विषयों के प्रति वन्दना आदि प्रकरणों में किया है। तत्कालीन जनता के भीतर भी अपनी संस्कृत-भाषा-संबंधी श्रद्धा की अभिव्यक्ति हो सकती थी, यदि उसके समक्ष इस विषय में कोई विवाद न उपस्थित होता, किंतु जहाँ पर एक ओर अनेक निर्गुण धारा वाले संत कवियो के द्वारा संस्कृत भाषा तथा संस्कृत ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा के भाव का प्रसार हो रहा था, तथा दूसरी ओर जहाँ केशव जैसे सस्कृतज्ञ पडितों तथा उस कोटि के अन्य हिंदी कवियों द्वारा जनभाषा में रचना करते हुए भी जनभाषा के प्रति एक प्रकार की हीनता का ही भाव व्यक्त हो रहा था, ऐसे देश-काल में तुलसी जैसे लोकसंग्रही साहित्यकार को सम्भवतः यह सर्वथा उपयोगी ही नहीं, वरन् आवश्यक जान पड़ा कि वह जनभाषा को प्राधान्य देते हुए भी कम से कम अपने उन ग्रन्थों में, जो लोक-संग्रह की दृष्टि से, अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हों, कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी रचना को भी स्थान दे दे, जो जनता के लिए विशुद्ध संस्कृत भाषा का रूप उपस्थित करने तथा उसके महत्व की ओर सकेत करने के लिए पर्याप्त हो। देववाणी के प्रति भारतीय श्रद्धा को जाग्रत रखने के लिए उनकी पौराणिक परम्परा-प्रियता ने भी उन्हें बाध्य किया होगा।

अभी तक जो विवेचन किया गया है उसका सम्बन्ध प्रधान रूप से तुलसी की भाषा में उपलब्ध विशुद्ध संस्कृत श्लोकों तथा स्तोत्रों की शब्दावली से है। प्रायः इनका व्यवहार रामचरित मानस के प्रत्येक सोपान के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में, कहीं-कहीं इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत कुछ स्तुतियों में तथा विनयपत्रिका के पूर्वार्द्ध में उपलब्ध कुछ पदों के अन्तर्गत देखने को मिलता है। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि (से विशेष छानबीन के विषय न होने पर भी यह प्रयोग रूप-वैविध्य की दृष्टि) से अपना विशेष महत्व रखते ही हैं। अतः दिग्दर्शन मात्र के लिए ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरणों द्वारा हम तुलसी के संस्कृत-तत्सम शब्दावली के उक्त अंश की विशेषताओं का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

(क) मानस के प्रत्येक काड के प्रारंभिक मगलाचरण में आए हुए संस्कृत श्लोको में प्रयुक्त शब्दावली के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं—

कठिन शैली—मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं ।
वैराग्याम्बुज भास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ॥
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वः सम्भव शंकरं ।
वन्दे ब्रह्मकुलं कलंक शमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥[1]

सरल शैली—वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥[2]

(ख) मानस के भीतर की स्तुतियों की भाषा में व्यवहृत सस्कृत प्रयोग :—

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं । विभुं व्यापक ब्रह्म वेदस्वरूपम् ।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं । चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहम् ॥[3]

(ग) विनयपत्रिका के अंतर्गत उपलब्ध पदों में प्राप्त सस्कृत-प्रयोग, उदाहरणार्थः—

जयति मरुदंजनामोदमंदिर नतग्रीवसुग्रीव दुःखैक बन्धो ।
यातुधानोद्धत क्रुद्ध कालाग्नि हर सिद्ध सुर सज्जनानंद सिन्धो ॥[4]
सदा शंकरं सं प्रदं सज्जनानंददं शैल कन्या वरं परमरम्यं ।
काम मद मोचन तामरस लोचनं वामदेवं भजे भाव गम्यं ॥[5]

ऊपर केवल मानस तथा विनयपत्रिका में ही ऐसे प्रयोगों के पाए जाने का उल्लेख किया गया है, क्योंकि इन्हीं दोनों में इनकी सख्या महत्व रखती है, यद्यपि इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य किसी भी ग्रथ में ऐसे प्रयोग सर्वथा नहीं मिलते, किन्तु केवल श्रीकृष्णगीतावली के निम्नलिखित पद को छोड़कर, जो विनयपत्रिका के 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणम्' से प्रारम्भ होने वाले पद की तोल में रचित जान पड़ता है। तुलसी की अन्य समस्त कृतियों में कहीं पर एक भी ऐसा प्रयोग न मिलने के कारण केवल उक्त दो ग्रथों पर ही दृष्टि जाना स्वाभाविक है—

गोपाल गोकुल बल्लभी प्रिय गोप गो सुत वल्लभं ।
चरनारबिंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं ॥
घन स्याम काम अनेक छबि लोकाभिराम मनोहरं ।
किंजल्क बसन किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं ॥
सिर केकि पच्छ विलोल कुडल अरुन बनरुह लोचनं ।
गुन्जावतस बिचित्र सब अंग धातु भव भय मोचनं ॥
कच कुटिल सुंदर तिलक भ्रूराकामयंक समाननं ।
अपहरन तुलसी दास त्रास बिहार बृन्दा कानन ॥[6]

उपर्युक्त पद को भी ध्यान से देखने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि केवल दूसरी पक्ति के 'चरनारविंदमह भजे', इस अश को छोड़कर शेष पद में कहीं भी विशुद्ध सस्कृत

---

१ रा० ३, आ० श्लो० १ २ रा० १, आ० श्लो० ३ ३ रा० ७, १०८
४ वि० २७ ५ वि० १२ ६ श्री कृ० २३

व्याकरण-सम्मत प्रयोग नहीं आया। अंतिम शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग नाद-सौंदर्य में भी सहायक हुआ है और सम्भवतः बहुत कुछ इसी प्रयोजन से किया भी गया है।

मानस के आरम्भिक श्लोकों में प्राप्त संस्कृत प्रयोगों के विषय में यहाँ पर एक और बात ध्यान देने योग्य है कि मानस में संस्कृत भाषा में मंगलाचरण कर लेने के पश्चात् किसी भी कांड का विषय आरम्भ करने के पूर्व तुलसी ने जनभाषा में भी मगलाचरण के दोहों एवं सोरठों का व्यवहार पुनरुक्ति-दोष एवं प्रबन्धदोष, दोनों प्रकार के दोषों की कुछ भी परवाह न करते हुए किया है। 'परवाह न करते हुए' इसलिए कहा गया कि तुलसी जैसे तत्व-मर्मज्ञ कवीश्वर से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उक्त दोषों से अनभिज्ञ थे, और यह मान लिया जाय कि अनजान में ही ऐसे प्रयोग हो गए हैं। यह सम्मिश्रण ऐसे व्यवस्थित ढंग से किया गया है कि संस्कृत श्लोकों को मूलग्रंथ से अलग कर देने पर भी, ग्रंथ मे विषय-तत्व एवं प्रबन्ध निर्वाह की दृष्टि से किसी प्रकार की खटकने वाली बात नहीं पाई जाती, और जिसके फलस्वरूप संस्कृत भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ पाठक भी, केवल जनभाषात्मक अंशों को ही पढ़कर पूरे ग्रंथ का आनन्द लेने में समर्थ होते हैं। एक प्रकार से यही ग्रंथकार का अभिप्राय भी जान पड़ता है। वह सस्कृत भाषा के प्रति अपनी श्रद्धा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी, उसके अप्रचलन के कारण, पाठक को कष्ट न होने देने के लिए अपनी कृति को, जनभाषा की ही एक पूर्णकृति के रूप में उपस्थित करना चाहता है।

संस्कृत शब्दावली के वर्ग के अंतर्गत श्लोकों तथा स्तोत्रों में व्यवहृत प्रयोगों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के प्रयोगों पर विचार करना है। इन में एक तो वे स्थल हैं, जिनमें सस्कृत-व्याकरण अथवा सस्कृत-पद-रचना के नियमों पर जान अथवा अनजान में कोई विशेष ध्यान नहीं रखा गया है, किंतु उनमें बीच-बीच में संस्कृत-तत्सम शब्दों का सार्थक अथवा निरर्थक पुट देकर जनभाषा का व्यवहार किया गया है। वस्तुतः न तो वैसी भाषा में जनभाषा का ही स्वाभाविक रूप देखने को मिलता है, न संस्कृत भाषा का ही। कहीं-कहीं तो यह घोलमेल बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है।

दूसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिन मे संस्कृत शब्दों के आधार पर ही ऐसे शब्द निर्मित करके व्यवहृत किए गए हैं, जो देखने में सीधे संस्कृत भाषा से ग्रहण किए हुए जान पड़ते हैं। इसका अभिप्राय यह कि इन शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से इतना विकार नहीं आ सका, अथवा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से वे इतना विकास नहीं कर पाए कि वे विशुद्ध जनभाषा के अपने शब्द जान पड़ने लगें। उनमें अधिकांश प्रयोग भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखते, क्योंकि संस्कृत से ही क्रमशः पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अवस्थाओं के बीच होकर विकसित होने के कारण ऐसे शब्दों की कोई भिन्न सत्ता तुलसी के काल में रही होगी, ऐसा स्पष्ट नहीं होता। साथ-साथ यह भी प्रतीत होता है कि इस समय भाषा के जितने रूप चल रहे थे, उन सभी में संस्कृत का प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों के कारण हटता हुआ देख कर तुलसी को सांस्कृतिक दृष्टि से भी सस्कृत के प्रभाव को बल देने की आवश्यकता जान पड़ी होगी। अतः

कठिन शैली—मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं ।
वैराग्याम्बुज भास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ॥
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वः सम्भव शंकरं ।
वन्दे ब्रह्मकुलं कलंक शमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥[1]

सरल शैली—वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥[2]

(ख) मानस के भीतर की स्तुतियों की भाषा में व्यवहृत संस्कृत प्रयोग :—

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं । विभुं व्यापक ब्रह्म वेदस्वरूपम् ।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं । चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहम् ॥[3]

(ग) विनयपत्रिका के अंतर्गत उपलब्ध पदों में प्राप्त संस्कृत-प्रयोग, उदाहरणार्थः—

जयति मरुदंजनामोदमंदिर नतग्रीवसुग्रीव दुःखैक बन्धो ।
यातुधानोद्धत क्रुद्ध कालाग्नि हर सिद्ध सुर सज्जनानंद सिन्धो ॥[4]
सदा शंकरं सं प्रदं सज्जनानंददं शैल कन्या वरं परमरम्यं ।
काम मद मोचन तामरस लोचनं वामदेवं भजे भाव गम्यं ॥[5]

ऊपर केवल मानस तथा विनयपत्रिका में ही ऐसे प्रयोगों के पाए जाने का उल्लेख किया गया है, क्योंकि इन्हीं दोनों में इनकी संख्या महत्व रखती है, यद्यपि इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य किसी भी ग्रथ में ऐसे प्रयोग सर्वथा नहीं मिलते, किन्तु केवल श्रीकृष्णगीतावली के निम्नलिखित पद को छोड़कर, जो विनयपत्रिका के 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणम्' से प्रारम्भ होने वाले पद की तोल में रचित जान पड़ता है। तुलसी की अन्य समस्त कृतियों में कहीं पर एक भी ऐसा प्रयोग न मिलने के कारण केवल उक्त दो ग्रंथों पर ही दृष्टि जाना स्वाभाविक है—

गोपाल गोकुल बल्लभी प्रिय गोप गो सुत वल्लभं ।
चरनारबिंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं ॥
घन स्याम काम अनेक छबि लोकाभिराम मनोहरं ।
किंजल्क बसन किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं ॥
सिर केकि पच्छ विलोल कुंडल अरुन बनरुह लोचनं ।
गुन्जावतंस बिचित्र सब अंग धातु भव भय मोचनं ॥
कच कुटिल सुंदर तिलक भ्रूराकामयंक समाननं ।
अपहरन तुलसी दास त्रास बिहार बृन्दा कानन ॥[6]

उपर्युक्त पद को भी ध्यान से देखने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि केवल दूसरी पंक्ति के 'चरनारबिंदमह भजे', इस अंश को छोड़कर शेष पद में कहीं भी विशुद्ध संस्कृत

---

१ रा० ३, आ० श्लो० १ २ रा० १, आ० श्लो० ३ ३ रा० ७, १०८
४ वि० २७ ५ वि० १२ ६ श्री कृ० २३

व्याकरण-सम्मत प्रयोग नहीं आया। अंतिम शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग नाद-सौंदर्य में भी सहायक हुआ है और सम्भवतः बहुत कुछ इसी प्रयोजन से किया भी गया है।

मानस के आरभिक श्लोकों में प्राप्त संस्कृत प्रयोगों के विषय में यहाँ पर एक और बात ध्यान देने योग्य है कि मानस में संस्कृत भाषा में मगलाचरण कर लेने के पश्चात् किसी भी कांड का विषय आरम्भ करने के पूर्व तुलसी ने जनभाषा में भी मगलाचरण के दोहो एवं सोरठों का व्यवहार पुनरुक्ति-दोष एवं प्रबन्धदोष, दोनों प्रकार के दोषों की कुछ भी परवाह न करते हुए किया है। 'परवाह न करते हुए' इसलिए कहा गया कि तुलसी जैसे तत्व-मर्मज्ञ कवीश्वर से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उक्त दोषों से अनभिज्ञ थे, और यह मान लिया जाय कि अनजान में ही ऐसे प्रयोग हो गए हैं। यह सम्मिश्रण ऐसे व्यवस्थित ढंग से किया गया है कि सस्कृत श्लोकों को मूलग्रंथ से अलग कर देने पर भी, ग्रंथ में विषय-तत्व एवं प्रबन्ध निर्वाह की दृष्टि से किसी प्रकार की खटकने वाली बात नहीं पाई जाती, और जिसके फलस्वरूप संस्कृत भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ पाठक भी, केवल जनभाषात्मक अंशों को ही पढकर पूरे ग्रंथ का आनन्द लेने में समर्थ होते हैं। एक प्रकार से यही ग्रंथकार का अभिप्राय भी जान पड़ता है। वह संस्कृत भाषा के प्रति अपनी श्रद्धा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी, उसके अप्रचलन के कारण, पाठक को कष्ट न होने देने के लिए अपनी कृति को, जनभाषा की ही एक पूर्णकृति के रूप में उपस्थित करना चाहता है।

संस्कृत शब्दावली के वर्ग के अंतर्गत श्लोकों तथा स्तोत्रों में व्यवहृत प्रयोगों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के प्रयोगों पर विचार करना है। इन में एक तो वे स्थल हैं, जिनमें संस्कृत-व्याकरण अथवा सस्कृत-पद-रचना के नियमों पर जान अथवा अनजान में कोई विशेष ध्यान नहीं रखा गया है, किंतु उनमें बीच-बीच में संस्कृत-तत्सम शब्दों का सार्थक अथवा निरर्थक पुट देकर जनभाषा का व्यवहार किया गया है। वस्तुतः न तो वैसी भाषा में जनभाषा का ही स्वाभाविक रूप देखने को मिलता है, न सस्कृत भाषा का ही। कहीं-कहीं तो यह घोलमेल बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है।

दूसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिन में सस्कृत शब्दों के आधार पर ही ऐसे शब्द निर्मित करके व्यवहृत किए गए हैं, जो देखने में सीधे संस्कृत भाषा से ग्रहण किए हुए जान पड़ते हैं। इसका अभिप्राय यह कि इन शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से इतना विकार नहीं आ सका, अथवा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से वे इतना विकास नहीं कर पाए कि वे विशुद्ध जनभाषा के अपने शब्द जान पड़ने लगें। उनमें अधिकांश प्रयोग भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखते, क्योंकि सस्कृत से ही क्रमशः पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अवस्थाओं के बीच होकर विकसित होने के कारण ऐसे शब्दों की कोई भिन्न सत्ता तुलसी के काल में रही होगी, ऐसा स्पष्ट नहीं होता। साथ-साथ यह भी प्रतीत होता है कि इस समय भाषा के जितने रूप चल रहे थे, उन सभी में संस्कृत का प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों के कारण हटता हुआ देख कर तुलसी को सांस्कृतिक दृष्टि से भी सस्कृत के प्रभाव को बल देने की आवश्यकता जान पड़ी होगी। अतः

कठिन शैली—मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं ।
वैराग्याम्बुज भास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ॥
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वः सम्भव शंकरं ।
वन्दे ब्रह्मकुलं कलंक शमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥[1]

सरल शैली—वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वन्यते ॥[2]

(ख) मानस के भीतर की स्तुतियों की भाषा में व्यवहृत संस्कृत प्रयोग :—

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं । विभुं व्यापक ब्रह्म वेदस्वरूपम् ।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं । चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहम् ॥[3]

(ग) विनयपत्रिका के अंतर्गत उपलब्ध पदों में प्राप्त संस्कृत-प्रयोग, उदाहरणार्थः—

जयति मरुदंजनामोदमंदिर नतग्रीवसुग्रीव दुःखैक बन्धो ।
यातुधानोद्धत क्रुद्ध कालाग्नि हर सिद्ध सुर सज्जनानंद सिन्धो ॥[4]
सदा शंकरं सं प्रदं सज्जनानंददं शैल कन्या वरं परमरम्यं ।
काम मद मोचन तामरस लोचनं वामदेवं भजे भाव गम्यं ॥[5]

ऊपर केवल मानस तथा विनयपत्रिका में ही ऐसे प्रयोगों के पाए जाने का उल्लेख किया गया है, क्योंकि इन्हीं दोनों में इनकी संख्या महत्व रखती है, यद्यपि इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य किसी भी ग्रंथ में ऐसे प्रयोग सर्वथा नहीं मिलते, किन्तु केवल श्रीकृष्णगीतावली के निम्नलिखित पद को छोड़कर, जो विनयपत्रिका के 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणम्' से प्रारम्भ होने वाले पद की तोल में रचित जान पड़ता है। तुलसी की अन्य समस्त कृतियों में कहीं पर एक भी ऐसा प्रयोग न मिलने के कारण केवल उक्त दो ग्रंथों पर ही दृष्टि जाना स्वाभाविक है—

गोपाल गोकुल बल्लभी प्रिय गोप गो सुत वल्लभं ।
चरनारबिंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं ॥
घन स्याम काम अनेक छबि लोकाभिराम मनोहरं ।
किंजल्क बसन किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं ॥
सिर केकि पच्छ बिलोल कुंडल अरुन बनरुह लोचनं ।
गुञ्जावतंस बिचित्र सब अंग धातु भव भय मोचनं ॥
कच कुटिल सुंदर तिलक भ्रूराकामयंक समाननं ।
अपहरन तुलसी दास त्रास बिहार बृन्दा कानन ॥[6]

उपर्युक्त पद को भी ध्यान से देखने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि केवल दूसरी पंक्ति के 'चरनारबिंदमहं भजे', इस अंश को छोड़कर शेष पद में कहीं भी विशुद्ध संस्कृत

---

१ रा० ३, आ० श्लो० १ २ रा० १, आ० श्लो० ३ ३ रा० ७, १०८
४ वि० २७ ५ वि० १२ ६ श्री कृ० २३

व्याकरण-सम्मत प्रयोग नहीं आया। अंतिम शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग नाद-सौंदर्य में भी सहायक हुआ है और सम्भवतः बहुत कुछ इसी प्रयोजन से किया भी गया है।

मानस के आरंभिक श्लोकों में प्राप्त संस्कृत प्रयोगों के विषय में यहाँ पर एक और बात ध्यान देने योग्य है कि मानस में संस्कृत भाषा में मगलाचरण कर लेने के पश्चात् किसी भी कांड का विषय आरम्भ करने के पूर्व तुलसी ने जनभाषा में भी मगलाचरण के दोहों एव सोरठों का व्यवहार पुनरुक्ति-दोष एवं प्रबन्धदोष, दोनों प्रकार के दोषों की कुछ भी परवाह न करते हुए किया है। 'परवाह न करते हुए' इसलिए कहा गया कि तुलसी जैसे तत्व-मर्मज्ञ कवीश्वर से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उक्त दोषों से अनभिज्ञ थे, और यह मान लिया जाय कि अनजान में ही ऐसे प्रयोग हो गए हैं। यह सम्मिश्रण ऐसे व्यवस्थित ढंग से किया गया है कि सस्कृत श्लोकों को मूलग्रथ से अलग कर देने पर भी, ग्रथ में विषय-तत्व एवं प्रबन्ध निर्वाह की दृष्टि से किसी प्रकार की खटकने वाली बात नहीं पाई जाती, और जिसके फलस्वरूप संस्कृत भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ पाठक भी, केवल जनभाषात्मक अंशों को ही पढ़कर पूरे ग्रंथ का आनन्द लेने में समर्थ होते हैं। एक प्रकार से यही ग्रंथकार का अभिप्राय भी जान पड़ता है। वह सस्कृत भाषा के प्रति अपनी श्रद्धा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी, उसके अप्रचलन के कारण, पाठक को कष्ट न होने देने के लिए अपनी कृति को, जनभाषा की ही एक पूर्णकृति के रूप में उपस्थित करना चाहता है।

संस्कृत शब्दावली के वर्ग के अंतर्गत श्लोकों तथा स्तोत्रों में व्यवहृत प्रयोगो के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के प्रयोगों पर विचार करना है। इन में एक तो वे स्थल हैं, जिनमें सस्कृत-व्याकरण अथवा सस्कृत-पद-रचना के नियमों पर जान अथवा अनजान में कोई विशेष ध्यान नहीं रखा गया है, किंतु उनमें बीच-बीच में संस्कृत-तत्सम शब्दों का सार्थक अथवा निरर्थक पुट देकर जनभाषा का व्यवहार किया गया है। वस्तुतः न तो वैसी भाषा में जनभाषा का ही स्वाभाविक रूप देखने को मिलता है, न संस्कृत भाषा का ही। कहीं-कहीं तो यह घोलमेल बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है।

दूसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिन मे सस्कृत शब्दों के आधार पर ही ऐसे शब्द निर्मित करके व्यवहृत किए गए हैं, जो देखने में सीधे सस्कृत भाषा से ग्रहण किए हुए जान पड़ते हैं। इसका अभिप्राय यह कि इन शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से इतना विकार नही आ सका, अथवा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से वे इतना विकास नहीं कर पाए कि वे विशुद्ध जनभाषा के अपने शब्द जान पड़ने लगें। उनमें अधिकांश प्रयोग भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखते, क्योंकि सस्कृत से ही क्रमशः पालि, प्राकृत, अपभ्रश आदि अवस्थाओ के बीच होकर विकसित होने के कारण ऐसे शब्दों की कोई भिन्न सत्ता तुलसी के काल में रही होगी, ऐसा स्पष्ट नहीं होता। साथ-साथ यह भी प्रतीत होता है कि इस समय भाषा के जितने रूप चल रहे थे, उन सभी में संस्कृत का प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों के कारण हटता हुआ देख कर तुलसी को सांस्कृतिक दृष्टि से भी सस्कृत के प्रभाव को बल देने की आवश्यकता जान पड़ी होगी। अतः

यह दूसरे प्रकार के प्रयोग प्रायः ऐतिहासिक दृष्टि से ही उल्लेखनीय हैं, यद्यपि इनकी सत्ता आज तक अर्द्धतत्सम शब्दों के रूप में बनी हुई है, जो भारतीय जनभाषाओं का संस्कृत से शाश्वत एवं प्राचीन सम्बन्ध घोषित करते हैं।

प्रथम प्रकार के प्रयोगों की सक्षिप्त छानबीन करके हम उनकी उपयोगिता अथवा आवश्यकता पर वैज्ञानिक आलोचना के दृष्टिकोण से विचार करेंगे। इन प्रयोगों के सबध में हिन्दी तथा सस्कृत के व्याकरणिक नियमो का सम्मिश्रण उपस्थित करने वाली, जिस मिश्रित शब्दावली की ओर निर्देश किया गया है, उसके दर्शन कई रूपों में होते हैं। कुछ तो ऐसे स्थल हैं, जहाँ पर वे सस्कृत शब्द छद-पूर्ति में किसी प्रकार सहायक सिद्ध हुए हैं, और कुछ ऐसे, जहाँ पर कोई ऐसा लक्ष्य नहीं दिखाई पड़ता और केवल कुतूहलवश उन्हें स्थान दे दिया गया है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश प्रस्तुत किए जाते हैं—

राम अनन्त अनन्त *गुनानी*। जन्म कर्म अनन्त *नामानी*॥[1]
अनघ अविछिन्न सर्वज्ञ सर्वेस खलु सर्वतो *भद्रदाताऽसमाकं*।
प्रणत-जन-खेद-विच्छेद-विद्या निपुन *नौमि* श्रीराम *सौमित्रि साकं*॥
युगल-पद-पद्म-सुख सद्म *पद्मालयं* चिन्ह कुलिसादि सोभातिभारी।
हनुमंत-हृदि-विमल-कृत-परम मंदिर-सदा दास तुलसी सरन सोकहारी॥[2]
दुष्ट विबुधारि संघात महिभार अपहरन अवतार कारन *अनूपं*।
अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म *सुमिरामि नर भूप रूपं*॥
सेष स्रुति सारदा संभु नारद सनक गनत गुन अंत नहिं *तव चरित्रं*।
सोइ राम कामारि प्रिय अवध पति सर्वदा दास तुलसी त्रास निधि *बहित्र*॥[3]

उपर्युक्त पक्तियों के अतर्गत 'नामानी', 'दाताऽसमाक,' 'नौमि सौमित्रि साकं' 'पद्मालय', 'हनुमत हृदि,' 'अनूप', 'सुमिरामि नरभूपरूप', 'तव चरित्र' और 'बहित्र' इत्यादि प्रयोग स्पष्ट रूप से सस्कृत तथा सस्कृत-मिश्रित हिन्दी के प्रयोग कहे जा सकते हैं। इन में शुद्ध और विकृत दोनों प्रकार के संस्कृत रूप आ गए हैं, जैसे 'नामानी' स्पष्टतः 'नामानि' का, जो नपुसकलिंग शब्द 'नाम' की प्रथमा एव द्वितीया विभक्ति का बहुवचन-रूप है, विकृत रूपांतर है। इसका व्यवहार यहाँ पर केवल चौपाई छन्द के अन्त में मात्रा पूर्ति के अर्थ जानबूझ कर किया गया जान पड़ता है। छदबद्ध रचना में ऐसी व्याकरणिक अशुद्धि चाहे सस्कृत पिंगल के अनुसार न क्षम्य हो, किंतु हिंदी पद्य-रचना का विधान अधिक कठोर न होने के कारण इस में तो सह्य मानी ही जा सकती है। 'दाताऽसमाक' तथा 'नौमि' आदि विशुद्ध सस्कृत प्रयोग होते हुए भी हिंदी छद की सस्कृत-व्याकरण नियमरहित पक्तियों के अश के रूप में रखे गए हैं। इस प्रवृत्ति के मूल में या तो छद की वर्ण एव मात्रा की तोल व्यवस्थित करने में इन शब्दों अथवा शब्द-समूहों की तात्कालिक उपयोगिता हो सकती है अथवा केवल कवि की अभिरुचि

---

१ रा० ७ ९२ २ वि० ५१ ३ वि० ५०

विशेष, जिसके पीछे कोई स्पष्ट वैज्ञानिक लक्ष्य नहीं जान पड़ता। अन्य प्रयोगों के अंतर्गत विशेष रूप से 'हनुमत हृदि' तथा 'सौमित्रि साक' में व्याकरण से असम्मत मिश्रित शब्दावली का व्यवहार ध्यान देने योग्य है। 'हनुमंत हृदि' के साथ 'विमल कृत परम मदिर सदा' तथा 'सौमित्रि साकं' के साथ 'श्रीराम' के, व्याकरण की दृष्टि से, असंगत प्रयोग पर (क्योंकि 'हृदि' संस्कृत 'हृत्' की सप्तमी विभक्ति एकवचन का विशुद्ध रूप और साकं भी संस्कृत का एक प्रसिद्ध विशुद्ध परसर्ग है, जो 'के साथ' अथवा 'समेत' के अर्थ में आता है) विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि 'नामानी' आदि शब्दों में छंद-पूर्ति-विषयक उपयोगिता तथा 'हनुमंत हृदि और 'दाताऽसमाकं' आदि में कुतूहल वृत्ति का प्राधान्य है। इनमें 'सुमिरामि नर भूप रूप' को छोड़ कर (जिसके अतर्गत संस्कृत 'स्मरामि' का 'सुमिरामि' कर के उसे हिंदी 'सुमिरौं' का स्थानापन्न बनाते हुए अथवा हिंदी की ही 'सुमिर' धातु को संस्कृत-व्याकरण के ढाँचे में ढालते हुए एक प्रकार के व्याकरणिक समन्वय की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।) शेष में किसी प्रकार के गंभीर समन्वय-सिद्धांत की झलक देखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यहाँ पर समन्वय-सिद्धान्त से तात्पर्य तुलसी की उस वृत्ति से है, जिसके अनुसार कदाचित् ऐसे संस्कृत और हिन्दी का मिश्रण भी जानबूझ कर उचित समझा गया हो। इसकी खोज अन्य प्रकार के सार्थक एवं साभिप्राय-दृष्टि से व्यवहृत प्रयोगों में करना अधिक समीचीन होगा, जिनका हम आगे प्रसंगानुसार विवेचन करेंगे।

अस्तु, इन संस्कृत मिश्रित प्रयोगों के सम्बन्ध में हम सामान्यतः इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि इनमें से अधिकाश के मूल में तीन मुख्य परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, जिन्होंने तुलसी को इस प्रवृत्ति की ओर प्रभावित किया है :—

(१) संस्कृत के प्रति अपनी सहज श्रद्धा अभिव्यक्त करने के लक्ष्य से उनको अपनी भाषा में स्थान देने की उपयोगिता एवं आवश्यकता का अनुभव, यद्यपि ऐसा करना किसी प्रकार व्यक्तिगत दृष्टि से अनिवार्य न था।

(२) सस्कृत की सर्वथा उपेक्षा कर के चलने वाले निर्गुणवादी पंथाई संत कवियों तथा जनभाषा से खार खाए उसे एक निचले स्तर की वस्तु समझने वाले पंडितों के परस्पर विद्वेषी विचारों एव प्रचारात्मक कथनों से उद्भ्रांत जन-समुदाय एवं नवीन कवि-समुदाय के समक्ष एक संतुलित एवं सामजस्यपूर्ण हल उपस्थित करने की सामयिक आवश्यकता।

(३) बहुज्ञता-प्रदर्शन एवं कलाबाजी दिखाने के उद्देश्य से नहीं, किन्तु शैली की विविधता प्रस्तुत करने की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का समावेश करने की अभिरुचि।

इन सभी परिस्थितियों का उपयोग तुलसी ने जिस सफलता के साथ किया है, उसके मूल में उनके विपुल संस्कृत ग्रन्थाध्ययन का संस्कार तथा विशाल-पर्यटन-जन्य व्यापक जनभाषा-ज्ञान विद्यमान है। किंतु जहाँ पर उक्त प्रयोगों के द्वारा कोई महत्त्व-पूर्ण लक्ष्य साधित होता नहीं जान पड़ता, वहाँ उनके विषय में इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि उन स्थलों पर कवि भाषा के संबंध में विशेष सावधानी नहीं रख सका।

(२) प्राकृत और अपभ्रंश आदि का प्रभाव सूचित करने वाले प्रयोग

ऐसे प्रयोगों का विश्लेषण करने के पूर्व इतना सकेत कर देना आवश्यक होगा कि तुलसी की शब्दावली पर इन मध्यकालीन भाषाओं का प्रभाव केवल कुछ विशेष सज्ञाओं, विशेषणों एवं क्रियापदों के उन सामान्य रूपों तक ही सीमित है, जो हिंदी पद-रचना के भीतर किसी न किसी रूप में घुलमिल सकते हैं। जहाँ कहीं भी इन मध्य कालीन भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ उनकी व्यवस्था उन भाषाओं के व्याकरण के आधार पर नहीं हुई है। इन का समावेश बहुत कुछ उसी पद्धति पर हुआ है, जिस पर तुलसी के पूर्ववर्ती चन्द बरदाई जैसे कवियों की प्राचीन हिंदी में दिखाई पड़ता है।

इनके भीतर जिन प्रयोगों की गणना होती है, उनमें से अधिकाश को पूर्णरूपेण बचाया जा सकता था और भाषा के शब्द-विन्यास की व्याकरणिक गठन में इनके न होने से कोई व्याघात न उपस्थित होता, किंतु फिर भी पूर्वकालीन एव तत्कालीन विशिष्ट भाषा-शैली के प्रयोगों को कुछ विशेष प्रसंगों में स्थान देने की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करने की प्रवृत्ति के कारण तथा बहुत कुछ अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के वशीभूत होकर तुलसी ने ऐसा किया है।

कुछ भी हो, किंतु इतना तो प्रत्यक्ष है कि इसके पीछे कोई सामान्य प्रवृत्ति या अभिरुचि ही मानी जा सकती है, न कि कोई बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत, जैसा संस्कृत तथा कतिपय अन्य भाषाओं से ग्रहीत अथवा प्रभावित प्रयोगों के सम्बन्ध में प्रायः दिखाई देता है। इस सामान्य प्रवृत्ति अथवा अभिरुचि के मूल में दो ही बातें प्रमुखतः जान पड़ती हैं:—

प्रथम तो यह कि हिंदी (अथवा तत्कालीन बोली में कहें, तो 'भाषा') के पूर्व जनता के दैनदिन बोलचाल एवं व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले माध्यमों के रूप में प्राकृत एव अपभ्रश आदि ही विद्यमान रही हैं, जो इतिहास-क्रम में एक दूसरे के पश्चात् जनता में प्रधानता ग्रहण करती गई हैं। हिंदी, स्पष्टतः इन्हीं में से अंतिम रूप अपभ्र श के एक रूप से ही विकसित होने के कारण, अपने जनभाषापन का सम्बन्ध देखते हुए सस्कृत की अपेक्षा प्राकृत, अपभ्र श के अधिक निकट पड़ती है। इसी के अवशेष तुलसी की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं।

दूसरी बात कवि की व्यक्तिगत प्रवृत्ति अथवा सूझ से संबधित न होकर भाषा के सहज वैज्ञानिक विकास और यत्रतत्र छंद की अन्तिम मात्राओं की पूर्ति से अधिक सबधित हो जाती है, वह यह है कि कुछ रूपों को तत्कालीन हिंदी भाषा ने उक्त मध्य-कालीन भाषाओं, विशेषकर अपभ्रश से दायस्वरूप पाया हो और तुलसी के समय तक उनमें कम से कम इतना परिवर्तन न हो सका हो कि उनके पूर्वरूप सर्वथा अप्रचलित एव अव्यावहारिक समझ लिए जायँ। सभव है, जनता द्वारा विस्मृत एव बहिष्कृत हो जाने पर भी साहित्य-क्षेत्र में वे उसी प्रकार अर्द्ध प्रचलित माने जाते रहे हों, जिस प्रकार आधुनिक साहित्य-क्षेत्र में कुछ लोगों द्वारा व्रज और अवधी आदि प्रान्तीय भाषाओं के वे साहित्यिक प्रयोग, जो आज से बहुत पहले प्रचलित थे और जिन्होंने इन

बोलियों के आधुनिक रूपो में अपना अस्तित्व खो दिया है। छन्द-पूर्ति से संबधित प्रयोगों से हमारा अभिप्रायः उन स्थलो पर आए हुए शब्दों से है, जहाँ वे छंदों की अन्तिम मात्राओं की व्यवस्था में तात्कालिक सुविधा की दृष्टि से उपयोगी जान पड़े हैं, और इसीलिए तत्कालीन हिंदी शब्द-कोश से बाहर होते हुए भी किसी न किसी रूप में एक पूर्ववर्ती संबंधित भाषा के शब्द होने के कारण उनसे भी तुलसी ने यथावसर लाभ उठाने में कोई हानि नहीं समझी।

तुलसी की भाषा में अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भाषाओं के प्रयोग कई रूपों में देखने को मिलते हैं, जिनका हम क्रमशः उदाहरण-सहित विवेचन करेंगे। (क) वे स्थल, जहाँ पर किसी रस अथवा भाव की वृद्धि में उपयोगी होने के कारण कवि ने ऐसी शब्दावली को स्थान देना उचित समझा है, जिनका उपयोग उसके पूर्ववर्ती कवियों ने ही नहीं, वरन् कई समकालीन एवं परवर्ती कवियों तक ने अपनी रचनाओं में किया है। विशेषकर ओज गुण तथा वीर, रौद्र एवं भयानक रस आदि की व्यंजना में ऐसे प्रयोग विशेष सहायक समझे गए हैं। तुलसी की रचनाओं में केवल दो के ही अंतर्गत इन प्रयोगों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार दिखाई पड़ता है। ये ग्रथ हैं, रामचरित मानस और कवितावली।

इन स्थलों पर प्रायः या तो वीर, रौद्र अथवा भयानक रस से संबंधित युद्ध-वर्णन तथा भीषण दृश्यों के चित्रण के प्रसंग में विशेष प्रभाव डालने के उद्देश्य से, और कहीं-कहीं किसी विशेष पात्र के रूपांकन एवं गुण-कथन को अधिकाधिक सजीवता प्रदान करने के लिए कवि ने उक्त शब्दावली का व्यवहार किया है। उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते हैं—

(अ) मानस के लंका कांड में युद्ध-वर्णन के अंतर्गत निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश—

देखि चले सम्मुख कपि *भट्टा*। प्रलय काल के जनु घन *घट्टा*॥[1]
बहु कृपान तरवारि *चमंकहिं*। जनु दहँ दिसि दामिनी *दमंकहिं*॥[2]
जोगिनि भरि भरि *खप्पर* संचहि। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥[3]
जंबुक निकर *कटक्कट* *कट्टहि*। खाहिं हुवाहि अघाहिं *दपट्टहिं*॥[4]
बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं।
खप्परिन्ह *खग्ग* *अलुज्झि* *जुज्झहिं* सुभट भटन्ह ढहावहीं॥[5]

(आ) कवितावली के अंतर्गत युद्ध-वर्णन के प्रसंग में ही और भी अधिक बाहुल्य के साथ व्यवहृत ऐसी शब्दावली का दिग्दर्शन निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंशों में किया जा सकता है—

---

१ रा० ६, ८७ २ रा० ६, ८७ ३ रा० ६, ८८
४ रा० ६, ८८ ५ रा० ६, ८८

मत्त भट मुकुट दस कंध साहस *सइल* सृंग *बिद्दरनि* जनु बज्र टांकी।
दसन धरि धरनि *चिक्करत* दिग्गज कमठ सेष संकुचित संकित पिनाकी॥
चलित महि मेरु *उच्छलित सायर* सकल बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिस झांकी।
रजनिचर घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत सुनत हनुमान की हांक बांकी॥[1]

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन *बरक्खत*।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज *करक्खत*॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर *बज्जत*।
बिकट कटक *बिद्दरत* बीर बारिद जिमि *गज्जत*॥[2]

दुर्गम दुर्ग पहार तें भारे प्रचंड महा भुज दंड बने हैं।
लक्ख में *पक्खर तिक्खन* तेज जे सूर समाज में गाज गने हैं॥[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में आए हुए टेढ़े अक्षरों वाले प्रयोगों की वैज्ञानिक आलोचना करने के पूर्व हम कुछ ऐसे स्थलों को भी उद्धृत कर रहे हैं जिनका सम्बन्ध भीषण दृश्य-चित्रण तथा पात्र-रूपांकन के प्रसगों से है, जैसे—

(अ) कवितावली के अंतर्गत धनुषभग से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश—

डिगति उर्बि अति गुर्बि सर्ब *पब्बै* समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत परत दसकंध *मुक्ख* भर।
सुर बिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित कोल कमठ अति कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो॥[4]

(आ) किसी पात्र अथवा देवता विशेष के रूपांकन एवं गुण-कथन से सम्बन्धित प्रयोग का उदाहरण हम कवितावली के अंतर्गत हनुमान बाहुक की निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंशों में देख सकते हैं—

अच्छ बिमर्दन कानन भान दसानन आनन भाननि हारो।
बारिद नाद अकंपन *कुंभकरन्न* से कुंजरि केहरि बारो॥
राम प्रताप हुतासन *कच्छ बिपच्छ* समीर समीर दुलारो।
पाप तें साप तें ताप तिहू तें सदा तुलसी कहँ सो रखवारो॥[5]

रामचरित मानस के भीतर ऐसे प्रयोगों की ओर उतनी अधिक रुचि नहीं दिखाई देती, जैसी कवितावली में। मानस की प्रबध-धारा के बीच कवि को इतना अवसर सभवतः नहीं प्राप्त हो सका, जितना कवितावली के स्फुट वर्णनों एवं चित्रणों में।

---

१ क० ६, ४४ २ क० ६, ४७ ३ क० ६, ३१
४ क० १, ११ ५ क० ह० बा० १६

उपर्युक्त पंक्तियों के समस्त टेढ़े अक्षरोंवाले शब्दों में, वैज्ञानिक उपयोगिता की दृष्टि से अथवा रस-वृद्धि एवं भावोत्कर्ष के विचारसे, जो विशेष उल्लेखनीय हैं, वे भट्टा, घट्टा, चमकहिं, दमंकहिं, खप्पर, नंचहिं, कटक्कट, कट्टहिं, दपट्टहिं, खग्ग, अलुज्झि, जुज्झहि, बिद्दरनि, उच्छलित, सायर, बरक्खत, करक्खत, बज्जत, गज्जत, तिक्खन, पब्बै, अच्छ और विपच्छ हैं। शेष शब्दों का प्रयोग मध्यकालीन भाषाओं से उतना नहीं है, उन्हें भाषा के सामान्य नादोत्कर्ष एवं ओज-सृष्टि के अनुकूल कठोर ध्वनि-योजना की रूढ़िगत मनोवृत्ति से प्रेरित समझना चाहिये, जैसे कुम्भकरन्न, वोल्लहिं, डोल्लहिं जैसे शब्दों का व्यवहार, जो क्रमशः सामान्य हिंदी भाषा के शब्दरूपों, कुंभकरन, बोलहिं तथा डोलहिं आदि, को ही विकृत करके रखे गए हैं। 'मुक्ख भर' इन सब में ऐसा विचित्र रूप है, जो न तो मध्यकालीन भाषाओ के और न सामान्य हिंदी भाषा के ही किसी शिष्ट शब्द के आधार पर बना है। यह एक ग्रामीण ठेठ बोलचाल 'मुंह भरा' (जो 'मुँह के बल' अर्थ का द्योतक है) को ही बलपूर्वक एक अर्द्ध साहित्यिक रूप देने के प्रयास का परिणाम जान पड़ता है। इस प्रकार के शब्दों से तुलसी की शब्द-निर्माण-विषयक अनोखी सूझ का पता चलता है।

मध्यकालीन प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं से प्रभावित जिस शब्दावली का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसके भीतर सामूहिक रूप से चार विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं :—

१—इनमें अधिकांशतः द्वित्व वर्णों का बाहुल्य है, जिसके द्वारा ओज गुण की व्यञ्जना तथा युद्धादि दृश्य विशेष के वातावरण के चित्रण का प्रयत्न किया गया है। पीछे उद्धृत भट्टा, घट्टा, बज्जत, गज्जत आदि का व्यवहार भटा, घटा, बाजत, गाजत आदि के स्थान में करना इसी प्रयत्न का द्योतक है।

२—इनमें सयुक्त वर्णों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है, जिसके द्वारा कहीं-कहीं तो उपर्युक्त उद्देश्य ही अभिप्रेत है और कहीं कहीं केवल सस्कृत शब्दों के स्थान पर जानबूझ कर ऐसे रूपों को प्रश्रय देने का उद्योग हुआ है। प्रथम प्रकार के शब्दों के अंतर्गत अलुज्झ, जुज्झहिं और उच्छलित आदि शब्द आते हैं और दूसरे प्रकार के शब्दों में करक्खत, बरक्खत, अच्छ और तिक्खन आदि की गणना की जा सकती है, जो क्रमशः कर्षत, वर्षत, अक्षय और तीक्ष्ण आदि संस्कृत तत्सम शब्दों से प्रभावित रूपों के विकार अथवा (यदि आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों की भाषा में कहें तो) विकास हैं।

३—अनुस्वार-युक्त वर्णों का अनावश्यक एवं व्याकरण-विरुद्ध रूप में व्यवहार करने की उस प्रवृत्ति का अनुसरण, जो कतिपय पूर्वकालीन तत्कालीन एवं परकालीन वीरकाव्यों में रूढ़िगत रूप में प्रचलित रही हैं। चमंकहिं, दमंकहिं, और नंचहिं जैसे अशुद्ध और अप्रचलित रूपों का व्यवहार इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इन्हें केवल रूढ़िगत परंपरा से प्राप्त संस्कारों से प्रभावित अथवा प्राचीन हिन्दी के कुछ ऐसे भी नमूने प्रस्तुत कर देने की कुतूहल वृत्ति से प्रेरित समझना चाहिए।

४—संस्कृत से मध्यकालीन प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में स्वाभाविक भाषा-विकास के प्रवाह में नवीन रूप ग्रहण करने वाले शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग न करके इन्हीं नवीन विकृत अथवा विकसित रूपों में व्यवहार दिखाई पड़ता है। इनमें सयुक्त, द्वित्व तथा साधारण तीनों प्रकार के वर्णों से समन्वित वे सब शब्द लिए जा सकते हैं, जो शब्दों के स्वाभाविक भाषावैज्ञानिक विकास के नियमों के अनुसार अधिकाधिक अनुकूल दिशा में परिवर्तित हुए हैं, जैसे खप्पर (स० खर्पर), खग्ग (स० खड्ग), सायर (स० सागर), पब्बै (स० पर्वत), सइल (स० सैल) और विपच्छ (स० विपक्ष) इत्यादि। इनमें प्रायः सभी ध्वनि-परिवर्तन मध्यकालीन प्राकृत, अपभ्रंश आदि के व्याकरणिक नियमों से प्रभावित हैं।

अब केवल दो प्रकार के रूपों के प्रयोग की छानबीन करना शेष रह जाता है। एक तो वे स्थल, जहाँ पर विशेष छंदों की गति की व्यवस्था में कवि को कहीं-कहीं प्रचलित हिन्दी या सस्कृत शब्दों की अपेक्षा यह प्राकृत, अपभ्रंश आदि से प्रभावित रूप सभवतः अधिक सुविधाजनक जान पड़े, और सहसा शब्द-योजना के समय उपस्थित हो जाने पर उनका उपयोग कर लेना व्याकरण-विरुद्ध होते हुए भी अनुचित नहीं समझा गया, जिनके विषय में पीछे कुछ निर्देश किया जा चुका है। ये प्रयोग कहीं-कहीं खटकते भी हैं, किन्तु कवि की इतनी स्वतन्त्रता छद-बंध में क्षम्य मानी जा सकती है। ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले अशों में द्रष्टव्य हैं:—

तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो *प्रतच्छ परब्बत* की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥[1]*
स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तो सों तुही *दसरत्थ* दुलारे।[2]
तजि आस भो दास *रघुप्पति* को *दसरत्थ* को दानि दया दरिया।[3]

---

1 क० ६, ५४ 2 क० ७ १२ 3 क० ७, ४६

*इस पंक्ति मे आये हुए प्रतच्छ तथा परब्बत केवल प्रभाव सृष्टि में भी योग देने में कितने समर्थ हुए हैं और इस प्रकार के निरर्थक प्रतीत होने वाले परिवर्तनों में भी तुलसी की भाषाशक्ति कितनी सजग रही है, इस का पता निम्नलिखित सवैये के देखने से जिसमें से यह पंक्ति उद्धृत की गई है, चल जाता है—

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुत नंदन, मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥

इस 'तीखी तुरा में 'धुकि' धाने वाले तथा मारुत मन और खगराज के वेग को भी लजाने वाले 'मारुत नन्दन की प्रचंड गति के चपेट में आकर यदि 'प्रत्यक्ष' और 'पर्वत' शब्द भी उपमा की खोज में भटकते हुए तुलसी के चकित चित की झपटा-झपटी में 'प्रतच्छ' और 'परब्बत' बन गए हों, तो आश्चर्य ही क्या ?

एक कृपालु तहाँ तुलसी *दसरत्थ* को नंदन बंदि कटैया।[1]
जहाँ जम जातना घोर नदी भट कोटि *जलच्चर* दंत टेवैया।[2]
ते रन तीर्थनि *लक्खन* लाखन दानि ज्यों दारिद दाबि दले हैं।[3]
भयउ न होइहि, है न जनक सम *नरवइ*।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'प्रत्यक्ष' और ''पर्वत' के लिए 'प्रतच्छ' और 'परब्बत', 'दशरथ' के लिए 'दसरत्थ' (ये परिवर्तन बहुत प्रचुर हैं, यहीं पर तीन उदाहरण उपस्थित हैं), 'रघुपति' के लिए 'रघुप्पति', जलचर' के लिए 'जलच्चर' 'लखन' के लिए 'लक्खन', तथा 'नरपति' के लिए 'नरवइ' का व्यवहार प्रायः छंदों के लय-विधान की सुविधा को दृष्टि में रखकर किया गया है। इनके अभाव में पर्याप्त लय एवं गति तब तक नहीं आ सकती थी, जब तक छद के कई शब्दों में परिवर्तन न किया जाता। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी जैसे भाषाधिकार-सम्पन्न कवि के लिए ऐसा करना कठिन नहीं था, तथापि प्रयत्न-लाघव (भाषा-विज्ञान में भाषा-विकास के सिद्धान्तों मे इस सिद्धात की बड़ी चर्चा मिलती है) के सिद्धांत का अनुसरण करने में संभवतः उन्होंने कोई अनौचित्य न समझा हो।

अंत में हम उन प्रयोगों को ले सकते हैं जो न तो किसी विशेष भाव, वृत्ति अथवा रस की व्यंजना में योग देते हैं, न छंद-विधान की सुविधा की दृष्टि से ही कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध करते हैं, किंतु बिना किसी आवश्यकता या उपयोगिता का विचार किए ही केवल कुतूहलवश अथवा स्वाभाविक समन्वय-वृत्ति की प्रेरणा के वशीभूत होकर तुलसीदास जी कर गए हैं, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। तुलसी के भाषाधिकार को पूर्णरूपेण स्वीकार करते हुए भी हम एक तटस्थ आलोचक के अधिकार से इन प्रयोगों की सार्थकता में संदेह करने को बाध्य हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस सदेह का समाधान करने में केवल एक ही तर्क थोड़ा-बहुत सहायक हो सकता है, वह यह कि तुलसी का सम्पर्क ऐसे प्रयोगों का समावेश करते समय उन कतिपय कवियों अथवा पंडितों से रहा हो, जो ऐसे प्रयोगों को अपनी भाषा में बहुलता से स्थान देते रहे हो और इसीलिए उन प्रयोगों को बचा जाने की ओर तुलसी का ध्यान न गया हो। ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्दों में देखे जा सकते हैं—

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो जती कहाय विषय वासना न छंडै॥[5]
गति तुलसीस की लखै न कोउ जो करत, पब्बइ तें छार छारै पब्वइ पलक ही।[6]
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं।[7]

---

१ क० ७, ५१ २ क० ७ ५२ ३ क० ७, ३३
४ पा० मं० ७ ५ क० ७, ११६ ६ क० ७, १८
७ रा० ६, ८८

मानो *मरक्कत* सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीर बहूटी ।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों के अंतर्गत छंडै, पब्बइ, डोल्लहिं, बोल्लहिं और मरक्कत जैसे शब्द उक्त प्रकार के प्रयोगों में ही हैं ।

प्राकृत, अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भाषाओं से प्रभावित तुलसी की शब्दावली बहुत-कुछ पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती कवियों की रचनाओं के अंतर्गत वीर रसात्मक प्रसंगों में व्यवहृत शब्द-योजना शैली की परंपरा में रखी जा सकती है, जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है । चंद बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो', विद्यापति की 'कीर्तिलता', भूषण के 'शिवा बावनी', 'छत्रसाल दशक' और 'शिवराज भूषण' तथा सूदन के 'सुजान चरित' इत्यादि ग्रंथों में उपलब्ध प्रयोगों से इस परंपरा की पुष्टि होती है । प्रासंगिक रूप से इनके भी कुछ उदाहरण तुलना में प्रस्तुत किए जाते हैं । टेढे अक्षरों वाले शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(क) बीय बधं धर, किंत्ति जपै *सरं*
अस्सु ढु ढै फिरं, *रंभ* बछै बरं ।
थान *थानं* नरं, धार धारं *तुट* । *भ्रंम* बासं छुट ।
साह गोरी बरं *षग्ग* खोले कर ।[2]
उरं फुट्टि बरछी बरं *छब्बि* नासी ।
मनो जाल में मीन अद्धी निकासी ।
लटक्के जु *रंन* उड़ैं हंस हल्लै ।
रसं भीजि सूरं *चवग्गान षल्लै* ।[3]

(ख) बालचंद *बिज्जावइ* भासा,
दुहुँ नहि *लग्गइ दुज्जन* हासा ।
ऊ परमेसुर हर सिर सोहइ,
ई *णिच्चइ नाअर* मन मोहइ ।[4]

(ग) सुनि सुनि रीति बिरुदैत के बडप्पन की,
थप्पन उथप्पन की बानि छत्र साल की ।[5]
खग्ग खगराज महाराज सिवराज जू को,
अखिल भुजंग *मुगलदल* निगलि गो ।[6]

(घ) धड़धद्धरं धडधद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं
तडतत्तरं तड़तत्तरं कड़क- क्कड़ं कड़कक्कड़ं ।
घड़घग्घरं घड़घग्घरं झड़झज्झरं झड़झज्झरं
अररर्रर अररर्रं सरर्ररं सरर्ररं ।[7]

---

१ क० ६, ५१ २ पृथ्वी राज रासो रेवा तट समय, ८७
३ पृथ्वीराज रासो, रेवा तट समय, ४३ ४ कीर्तिलता
५ छत्रसाल दशक ६ शिवा बावनी ७ सुजान चरित

दव्बत लुत्थिन अव्वत इक्क सुखव्वत से ।
चव्वत लोह अचव्वत सोनित गव्वत से ।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित हक्क मही ।
जुट्टित फुट्टित सीस सुखुट्टित तंग गहो ।
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही ।
छुट्टित आयुध हुट्टित गुट्टित देह दही ।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्दों में, द्वित्व वर्णों के बाहुल्य, संयुक्ताक्षरों के प्रयोग और अनुस्वार-युक्त वर्णों के प्रचुर तथा कहीं-कहीं अनावश्यक एवं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग इत्यादि में जिन प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है, वे सभी किसी न किसी रूप में तुलसी की शब्दावली में दृष्टिगोचर होती हैं, जैसा पिछले विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है ।

(३) विदेशी भाषाओं के तत्सम, अर्द्ध तत्सम अथवा तद्भव शब्द

तुलसी की भाषा में प्रयुक्त समस्त शब्दावली के वर्गीकरण के क्रम में इनका तीसरा वर्ग है, जिसके अन्तर्गत केवल अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं से ग्रहीत अथवा प्रभावित प्रयोगों का समावेश हो सकता है । कतिपय ऐसे कथावाचक व आलोचक, जो तुलसी की रचना में सर्वत्र चमत्कार ही चमत्कार खोज निकालने में एँड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहते हैं, तुलसी की भाषा में अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्द भी (जिनके प्रभाव की कोई कल्पना भी तुलसी की समकालीन भाषा में करना इतिहास-ज्ञान का दिवालियापन सूचित करता है) खोज निकालते हुए देखे जाते हैं;* पर इस प्रवृत्ति को वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा महत्वहीन एवं व्यर्थ की कल्पना-मात्र

---

१ सुजान चरित

*प्रसंग वश ऐसे नमूनों की कुछ बानगी देख लेना अनुचित न होगा; उदाहरणार्थ रामचरित मानस की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त निअर, नो, गौन अन आदि शब्दों में अंग्रेजी भाषा के near, no, gone तथा un आदि की झलक सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है ।

ऋष्य मूक पर्वत निअराया । रा० ४, १ ।
देहु उतर, अन करहु कि नाहीं । रा० २
भरतहिं बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौन । रा० २,
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यंति नो मानवा: । रा० ७ अंतिम श्लोक २।

श्री भैरवानंद शर्मा के मानस महत्व-पृ० ४७ में ऐसे प्रयोगों को महत्त्व दिया गया है, परन्तु केवल कुतूहल की दृष्टि से ही इनका उपयोग है, वैज्ञानिक-दृष्टि से नहीं ।

समझ कर केवल अरबी फारसी-तुर्की आदि भाषाओं से (जिनका सपर्क मुसल्मान बाद-शाहों, एव अन्य इस्लाम धर्मानुयायी तुर्की, अरबी और फारसी लोगों के भारत-प्रवेश एव भारत-निवास के फलस्वरूप एक स्पष्ट ऐतिहासिक तत्व है।) सबधित शब्दों का ही विवेचन प्रस्तुत प्रसङ्ग में किया जायगा।

तुलसी की भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का आगमन जिन परिस्थितियों में सभव हुआ है, अथवा जिन वैयक्तिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोणों ने उनको विविध रूपों में उपस्थित होने का अवसर प्रदान किया है, उनकी स्वतत्र विवेचना करने के पूर्व ऐसे प्रयोगों के विषय में श्री रामनरेश त्रिपाठी के विचारों का उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

स्वसपादित रामचरित मानस की भूमिका के अतर्गत, तुलसी द्वारा व्यवहृत अरबी फारसी शब्दों के संबध में वे लिखते हैं--

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में इतने अधिक अरबी, फारसी के शब्दों का उप-योग किया है, जितना शायद हिंदी के किसी पुराने और नये कवि ने नहीं किया है। तुलसीदास जैसे हिंदू सस्कृति के प्रबल समर्थक और धार्मिक कवि के लिये यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

मेरा अनुमान ही नहीं, दृढ विश्वास भी है कि तुलसीदास अपने समय की राज-भाषा से अभिज्ञ थे, और यही कारण है कि उन्होंने अपनी कविता में स्वतन्त्रतापूर्वक राजभाषा के शब्दों का व्यवहार किया है। उन्होंने जो यह लिखा है—

फूलइ फरइ ने बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।

यह तो शेख सादी की इन पक्तियों का अक्षरशः अनुवाद ही है—

अब्र मर आबे जिंदगी बारद, हरगिज्ञ अज्ञ शाख बेद बर न खुरीं।

राजभाषा का प्रभाव तुलसीदास ही पर पड़ा हो, यह बात नहीं है, सस्कृत कवि भी उससे अछूते नहीं बचे थे। लोलिम्बराज ने वैद्यावतस में सुल्तान और पादशाह शब्दों को बडे गर्व के साथ ग्रहण किया है।

हुतवहहुतजंघाजानुमांसप्रभावादधिगतगिरिवायाः स्तन्यपीयूषपानः।
रचयति चरकादीन् वीक्ष्य वैद्यावतंसं कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः।
समस्तपृथ्वीपतिपूजनीयो दिगंगनाश्लिष्टःशरीरः।
गुणिप्रियं ग्रंथममु व्यतानीलल्लोलिम्बराजःकविपादशाहः।

तुलसीदास ने अपनी कविता में अरबी, फारसी के शब्दों का मनमाना प्रयोग किया है। यह भी उनके पश्चिम प्रान्त निवासी होने का प्रमाण माना जा सकता है। सोरों और उसके आस-पास के जिलों में मुसल्मानों की बस्तियाँ बहुत हैं। इसी से अरबी, फारसी के जितने शब्द इनमें मिलते हैं, उतने पूर्वी हिंदी में नहीं। या तो तुलसीदास तत्कालीन राजभाषा जानते थे, या अरबी, फारसी के बहुत से शब्द उनके मन में ऐसा घर कर लिए थे कि उनके प्रयोग में उनको कुछ भी हिचकिचाहट नहीं थी, जैसे—

लागति सांग विभीषन ही पर सीपर आप भये हैं।—गीतावली

सीपर फारसी का 'सिपर' है, जिस का अर्थ है ढाल। यह तो स्पष्ट ही है कि ही पर (हृदय पर) का अनुप्रास मिलाने के लिए ही 'सीपर' आया है, पर आया है कितनी आसानी से यह ध्यान देने की बात है। तुलसीदास न म्लेच्छों के हिमायती थे, न म्लेच्छ भाषा के प्रेमी। यदि सिपर शब्द उनकी बोलचाल में आम तौर से प्रचलित न होता, तो फारसी कोश में से निकाल कर वे इस शब्द को राम के साथ प्रयोग करने की चेष्टा हरगिज न करते। कुछ एक शब्द और लीजिए—

भई आस सिथिल जगन्निवास दील की।
मैं बिभीषन की कछु न सबील की। कवितावली।

दिल (दील) और सबील शब्दों को देखिए, किस स्वाभाविक प्रवाह में जड़ दिए गए हैं। राम के मुख से तुलसीदास जैसे वैष्णव साधु का यह कहलाना कि 'मैंने विभीषण की कुछ सबील (प्रबन्ध) नहीं की' साधारण महत्व नहीं रखता। यदि सबील और दिल उनकी रोजमर्रा की बोलचाल के शब्द न होते, तो मेरा विश्वास है वे कम से कम राम के मुख में तो उन्हें न जाने देते।

रामचरित मानस में तो अरबी, फारसी शब्दों का एक ताँता-सा लगा हुआ है। जहान, कागज़, ग़रीबनेवाज, बखशीश, रुख, गरदन, खुआर, शोर, गुमान, हवाले आदि शब्दों का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि वे पश्चिमी प्रान्त के निवासी थे, जहाँ अरबी, फारसी के शब्द हिंदुओं के घरों में निधड़क चलते हैं। उनके साथ छुआछूत का विचार नहीं रखा जाता।

अपने अनुमान को अधिक सबल करने के लिए, यहाँ विरोधी पक्ष की इस बात पर भी हमें विचार कर लेना चाहिए कि तुलसीदास ने पूर्वी प्रान्तों में प्रचलित बहुत से घरेलू शब्दो और प्रथाओं का जिक्र भी तो किया है, फिर उन्हें पूर्वी ही प्रात में उत्पन्न हुआ क्यों न मान लें? यह प्रश्न उपेक्षणीय नही है। पर यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने पूर्वी हिंदी में रामचरित मानस लिखा। वे जीवन के अंत समय तक रहे भी इसी तरफ। अतएव इधर के घरेलू शब्द उनकी भाषा में आ गए, यह आश्चर्य की बात नही। पर अरबी, फारसी के शब्द उन्होंने पूर्वी हिंदी से नहीं चुने, यह हम संदेहरहित होकर कह सकते हैं। क्योंकि अरबी, फारसी के शब्द उनकी मातृभाषा द्वारा उनको न मिले होते, तो वे कदापि म्लेच्छ शब्दों को देवताओं के पवित्र मुख में रखने की धृष्टता न करते। आजकल हिंदी के कवि, जो भक्त नहीं हैं, बहुत अंशों में उच्छृङ्खल ही हैं, अपनी रचना में अरबी, फारसी के शब्दों को रखने में भड़कते हैं। तुलसीदास तो भक्त थे और हिंदू संस्कृति के प्रबल समर्थक भी। अरबी, फारसी के शब्दों से उनकी भड़क साधारण न होती।[1]

त्रिपाठी जी के उपर्युक्त अनुमानों में कुछ बातें ऐसी ही हैं जो कुछ विशेष वैयक्तिक संस्कार से, तथा खींचतान कर कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध करने के उद्देश्य से

---

[1] रामचरित मानस : प्रथम संस्करण, सं० रामनरेश त्रिपाठी। भूमिका पृष्ठ ७३,७४

प्रेरित होकर कही गई जान पड़ती हैं। अतः तुलसी द्वारा व्यवहृत अरबी, फारसी शब्दों के संबंध में किसी प्रकार का व्यर्थ का भ्रम न उत्पन्न होने देने के अभिप्राय से उन भ्रमपूर्ण बातों का निराकरण कर देना आवश्यक होगा।

यहाँ पर जिन शब्दों में त्रिपाठी जी ने अपना आशय व्यक्त किया है उनके पीछे दो धारणाओं का प्रमुख हाथ जान पड़ता है। पहली बात का संबंध उनकी उस धारणा से है, जो सोरों को तुलसी का जन्मस्थान मानने और मनवाने के लिए अन्य उपलब्ध सामग्री के साथ-साथ, उनके ग्रंथों की भाषा का भी आधार लेना आवश्यक समझती है, दूसरी यह कि त्रिपाठी जी को अपने इस कल्पित दृष्टिकोण पर पूर्ण विश्वास है कि हिंदू संस्कृति के एक प्रबल समर्थक कवि की रचना में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग इतनी अस्वाभाविक बात है कि जिसका तुलसी में होना किसी भी आलोचक को अवश्य खटकना चाहिए। इन दोनों धारणाओं में सोरों-संबंधी धारणा त्रिपाठी जी के अनुमानों को जन्म देने में अपेक्षाकृत अधिक महत्व रखती है।

अस्तु, हमें देखना यह है कि उक्त दोनों धारणाएँ वैज्ञानिक दृष्टि से कहाँ तक संगत कही जा सकती हैं। जहाँ तक सोरों का संबंध है, उसको तुलसी का जन्मस्थान मानने वालों ने अपने पक्ष में अनेक जनश्रुतियों, किंवदंतियों तथा अन्य उपलब्ध साक्षियों को प्रस्तुत किया है, किन्तु प्रामाणिक खोजों से जो नवीनतम निष्कर्ष तुलसी के जीवन के विषय में निकाले गए हैं, उनके अनुसार न तो पूर्णतः राजापुर ही उनका जन्मस्थान ठहरता है, न सोरों ही।[1] वैसे एक बार यदि हम मान भी लें कि सोरों ही कवि का जन्मस्थान है, तो भी अधिक से अधिक उसकी बाल्यावस्था ही वहाँ पर बीती हुई मानी जा सकती है। कवि का शेष समस्त जीवन प्रायः पर्यटनशील रहा है। फिर, यदि स्थान-निवास को भाषात्मक प्रवृत्तियों के आधार के रूप में ग्रहण करना है, तो मेरे विचार से सोरों-निवास की अपेक्षा काशी-निवास को अधिक महत्व देना चाहिए, जहाँ हमारे कवि का प्रौढ़ साहित्यिक जीवन व्यतीत हुआ है, क्योंकि यह एक स्वाभाविक तथ्य है कि भाषा के साहित्यिक रूप की व्यवस्था तथा भाषाविषयक दृष्टिकोण से संबन्धित गम्भीर संस्कार कवि की प्रौढ़ावस्था में ही बनते हैं, न कि प्रारंभिक बाल्य-जीवन में, जब कि उसे भाषा के साधारण से साधारण रूपों की योजना तक के विषय में कोई पुष्ट ज्ञान एवं अभ्यास नहीं हुआ करता। तुलसी इस सामान्य तथ्य के अपवाद नहीं जान पड़ते, क्योंकि उनके अपने कथनों से भी यही ध्वनि निकलती है कि मंजुल-भाषा-निबंध रचने की कल्पना अथवा रामकथा को भाषाबद्ध करने का विचार करते समय, जो उनकी भाषा-संबंधी-धारणाएँ बनीं, उनका आधार पर्याप्त प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर लेने पर पुष्ट हुआ था, न कि उस बालपन में, जब उन्होंने 'अति अचेत' अवस्था में अपने गुरु से 'सूकर खेत' में वह रामकथा सुनी थी, और जब उनमें इतनी भी योग्यता न थी कि वह उसको समझ सकते। ऐसे अबोध बालपन में

---

१ देखिए, डॉ० माता प्रसाद गुप्त· 'तुलसीदास' पृ० १११ से १२० तक

हमारे कवि को इतना प्रौढ़ समझ लेने का प्रयत्न, कि वह भाषा जैसे गंभीर वैज्ञानिक विषय के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण बनाने लगा होगा, स्वाभाविक एवं युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। ऐसी परिस्थिति में सोरों के अरबी-फारसी भाषा-भाषी मुसलमानों के सम्पर्क को ही महत्व न देकर यह अधिक उचित होगा, यदि हम मान लें कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति ही ऐसी थी, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण तथा मुगल राजदर्बार मे भी फारसी का विशेष प्रचलन होने से जनभाषा में ऐसे बहुत-से रूप आ गए थे, जिन्हें तुलसी ने अपने सहज समन्वयात्मक दृष्टिकोण की उदारता से प्रेरित होकर ग्रहण कर लिया हो। संभव है भाषा की थोड़ी बहुत विविधरूपता और कुतुहलोत्पादकता लाना भी इस प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान हो।

श्री रामनरेश त्रिपाठी के अनुमान के पीछे निहित दूसरी·धारणा जो हिंदू संस्कृति के समर्थक कवि तुलसी की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों के आगमन को अस्वाभाविक समझती है और उन्हें घरेलू बोली से प्रभावित प्रयोग मानने को विवश होती है। इस अतिरंजित अस्वाभाविकता के निराकरण में हमारे समक्ष सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है मलिक मुहम्मद जायसी तथा अन्यान्य प्रेमाख्यानकार और रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवियों की हिंदी रचनाओं में प्राप्त भाषा का स्वरूप। जायसी जैसे इस्लाम और मुहम्मद के प्रति पूर्ण निष्ठा रखने वाले कवियों में भी सस्कृत-तत्सम हिंदी-शब्दों का पुट देख कर यदि हमें कोई आश्चर्य नहीं होता, और उसमें हम किसी प्रकार की अस्वाभाविकता की गध नहीं देख पाते, तो तुलसी जैसे उदार, विचारशील एवं समन्वयात्मक वृत्ति वाले कवि की भाषा मे उक्त विदेशी भाषा के प्रयोगों को देख कर नाक-भौं सिकोड़ना कहाँ तक ठीक है, और अन्य पर्याप्त कारण उपस्थित रहते हुए भी, इस संबंध में सोरों-निवास जैसे कारणों की कल्पना कहाँ तक आवश्यक अथवा अनिवार्य कही जा सकती है?

इस प्रकार अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के प्रयोगों के महत्व एवं उनकी परिस्थिति-जन्य उपयोगिता पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने के पश्चात अब हम तुलसी की रचनाओं से कतिपय उदाहरण उद्धृत करते हुए इन प्रयोगों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से तुलसी की रचनाओं में अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली को तीन मोटे वर्गों में विभक्त कर सकते है :—

१—वे स्थल, जहाँ पर केवल अत्यंत प्रचलित शब्द आए हैं, जो आज तक हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र की जनता की बोलचाल में व्यापक रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। ऐसे प्रयोगों को ऐसे आधुनिक कवि और लेखक भी, जिनका ध्यान भाषा के किसी विशेष रूप को स्थिर रखने पर नहीं रहता, अपनी रचनाओं में बराबर स्थान देते रहते हैं। इनमें कवि की दृष्टि प्रायः जनता पर अपनी भाषा का रूप लादने पर नहीं, वरन् जनता की भाषा के अधिकाधिक निकट पहुँचने की प्रवृत्ति से प्रभावित रहती है। इस

प्रेरित होकर कही गई जान पड़ती हैं। अतः तुलसी द्वारा व्यवहृत अरबी, फारसी शब्दों के संबंध में किसी प्रकार का व्यर्थ का भ्रम न उत्पन्न होने देने के अभिप्राय से उन भ्रमपूर्ण बातों का निराकरण कर देना आवश्यक होगा।

यहाँ पर जिन शब्दों में त्रिपाठी जी ने अपना आशय व्यक्त किया है उनके पीछे दो धारणाओं का प्रमुख हाथ जान पड़ता है। पहली बात का संबंध उनकी उस धारणा से है, जो सोरों को तुलसी का जन्मस्थान मानने और मनवाने के लिए अन्य उपलब्ध सामग्री के साथ साथ, उनके ग्रंथों की भाषा का भी आधार लेना आवश्यक समझती है, दूसरी यह कि त्रिपाठी जी को अपने इस कल्पित दृष्टिकोण पर पूर्ण विश्वास है कि हिंदू संस्कृति के एक प्रबल समर्थक कवि की रचना में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग इतनी अस्वाभाविक बात है कि जिसका तुलसी में होना किसी भी आलोचक को अवश्य खटकना चाहिए। इन दोनों धारणाओं में सोरों-संबंधी धारणा त्रिपाठी जी के अनुमानों को जन्म देने में अपेक्षाकृत अधिक महत्व रखती है।

अस्तु, हमें देखना यह है कि उक्त दोनों धारणाएँ वैज्ञानिक दृष्टि से कहाँ तक संगत कही जा सकती हैं। जहाँ तक सोरों का संबंध है, उसको तुलसी का जन्मस्थान मानने वालों ने अपने पक्ष में अनेक जनश्रुतियों, किंवदंतियों तथा अन्य उपलब्ध साक्षियों को प्रस्तुत किया है, किन्तु प्रामाणिक खोजों से जो नवीनतम निष्कर्ष तुलसी के जीवन के विषय में निकाले गए हैं, उनके अनुसार न तो पूर्णतः राजापुर ही उनका जन्मस्थान ठहरता है, न सोरों ही।[1] वैसे एक बार यदि हम मान भी लें कि सोरों ही कवि का जन्मस्थान है, तो भी अधिक से अधिक उसकी बाल्यावस्था ही वहाँ पर बीती हुई मानी जा सकती है। कवि का शेष समस्त जीवन प्रायः पर्यटनशील रहा है। फिर, यदि स्थान-निवास को भाषात्मक प्रवृत्तियों के आधार के रूप में ग्रहण करना है, तो मेरे विचार से सोरों-निवास की अपेक्षा काशी-निवास को अधिक महत्व देना चाहिए, जहाँ हमारे कवि का प्रौढ़ साहित्यिक जीवन व्यतीत हुआ है, क्योंकि यह एक स्वाभाविक तथ्य है कि भाषा के साहित्यिक रूप की व्यवस्था तथा भाषाविषयक दृष्टिकोण से संबन्धित गम्भीर संस्कार कवि की प्रौढ़ावस्था में ही बनते हैं, न कि प्रारंभिक बाल्य-जीवन में, जब कि उसे भाषा के साधारण से साधारण रूपों की योजना तक के विषय में कोई पुष्ट ज्ञान एवं अभ्यास नहीं हुआ करता। तुलसी इस सामान्य तथ्य के अपवाद नहीं जान पड़ते, क्योंकि उनके अपने कथनों से भी यही ध्वनि निकलती है कि मंजुल-भाषा-निबंध रचने की कल्पना अथवा रामकथा को भाषाबद्ध करने का विचार करते समय, जो उनकी भाषा-संबंधी-धारणाएँ बनीं, उनका आधार पर्याप्त प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर लेने पर पुष्ट हुआ था, न कि उस बालपन में, जब उन्होंने 'अति अचेत' अवस्था में अपने गुरु से 'सूकर खेत' में वह रामकथा सुनी थी, और जब उनमें इतनी भी योग्यता न थी कि वह उसको समझ सकते। ऐसे अबोध बालपन में

---

१ देखिए, डॉ० माता प्रसाद गुप्तः 'तुलसीदास' पृ० १११ से १२० तक

हमारे कवि को इतना प्रौढ़ समझ लेने का प्रयत्न, कि वह भाषा जैसे गंभीर वैज्ञानिक विषय के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण बनाने लगा होगा, स्वाभाविक एवं युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। ऐसी परिस्थिति में सोरों के अरबी-फारसी भाषा-भाषी मुसलमानों के सम्पर्क को ही महत्व न देकर यह अधिक उचित होगा, यदि हम मान लें कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति ही ऐसी थी, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण तथा मुगल राजदर्बार में भी फारसी का विशेष प्रचलन होने से जनभाषा में ऐसे बहुत-से रूप आ गए थे, जिन्हें तुलसी ने अपने सहज समन्वयात्मक दृष्टिकोण की उदारता से प्रेरित होकर ग्रहण कर लिया हो। संभव है भाषा की थोड़ी बहुत विविधरूपता और कुतुहलोत्पादकता लाना भी इस प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान हो।

श्री रामनरेश त्रिपाठी के अनुमान के पीछे निहित दूसरी धारणा जो हिंदू संस्कृति के समर्थक कवि तुलसी की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों के आगमन को अस्वाभाविक समझती है और उन्हें घरेलू बोली से प्रभावित प्रयोग मानने को विवश होती है। इस अतिरंजित अस्वाभाविकता के निराकरण में हमारे समक्ष सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है मलिक मुहम्मद जायसी तथा अन्यान्य प्रेमाख्यानकार और रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवियों की हिंदी रचनाओं में प्राप्त भाषा का स्वरूप। जायसी जैसे इस्लाम और मुहम्मद के प्रति पूर्ण निष्ठा रखने वाले कवियों में भी संस्कृत-तत्सम हिंदी-शब्दों का पुट देख कर यदि हमें कोई आश्चर्य नहीं होता, और उसमें हम किसी प्रकार की अस्वाभाविकता की गंध नहीं देख पाते, तो तुलसी जैसे उदार, विचारशील एवं समन्वयात्मक वृत्ति वाले कवि की भाषा में उक्त विदेशी भाषा के प्रयोगों को देख कर नाक-भौं सिकोड़ना कहाँ तक ठीक है, और अन्य पर्याप्त कारण उपस्थित रहते हुए भी, इस संबंध में सोरों-निवास जैसे कारणों की कल्पना कहाँ तक आवश्यक अथवा अनिवार्य कही जा सकती है!

इस प्रकार अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के प्रयोगों के महत्व एवं उनकी परिस्थिति-जन्य उपयोगिता पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने के पश्चात अब हम तुलसी की रचनाओं से कतिपय उदाहरण उद्धृत करते हुए इन प्रयोगों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से तुलसी की रचनाओं में अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली को तीन मोटे वर्गों में विभक्त कर सकते है :—

१—वे स्थल, जहाँ पर केवल अत्यत प्रचलित शब्द आए हैं, जो आज तक हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र की जनता की बोलचाल में व्यापक रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। ऐसे प्रयोगों को ऐसे आधुनिक कवि और लेखक भी, जिनका ध्यान भाषा के किसी विशेष रूप को स्थिर रखने पर नहीं रहता, अपनी रचनाओं में बराबर स्थान देते रहते हैं। इनमें कवि की दृष्टि प्रायः जनता पर अपनी भाषा का रूप लादने पर नहीं, वरन् जनता की भाषा के अधिकाधिक निकट पहुँचने की प्रवृत्ति से प्रभावित रहती है। इस

विषय में उसका ध्यान इन प्रयोगों के पीछे देखी जाने वाली संकुचित जातीयता की मनोवृत्ति पर बिल्कुल नहीं रहती।

ऐसी शब्दावली का व्यवहार तुलसी के सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों, रामचरित मानस, विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि के अतर्गत प्रचुर मात्रा में हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त गरूर, गुमान, गनी, गरीब, साहेब, रहम, गरीब निवाज, गरीबी, खसम और कलई इत्यादि, जो केवल ध्वनि की दृष्टि से सुसस्कृत एवं परिवर्तित कर दिए गए हैं और ग़रूर, ग़नी, गरीब इत्यादि के ही रूपांतर हैं। :—

गोरो *गरूर गुमान* भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है का को।[1]
गनी गरीब ग्राम नर नागर।

साहेब समर्थ दसरत्थ के दयालु देव दूसरो
न तो सों तुही आपने की लाज को।[2]
राम के बिरोधे बुरो बिधि हरि हर हू को,
सब को भलो है राजा राम के *रहम* ही।[3]

नाथ *गरीब निवाज* हैं मैं गही *गरीबी*।[4]
राम के प्रसाद गुरु गौतम *खसम* भए रावरे हू सतानंद पूत भए माय के।[5]
साति सत्य सुभ रीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट *कलई* है।[6]

२—वे स्थल, जहाँ पर ऐसे अप्रचलित अथवा कम प्रचलित अरबी, फारसी और तुर्की आदि भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो जानबूझ कर अपनी भाषा में कवि द्वारा लाये गये जान पड़ते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों के पीछे तीन बातें हो सकती हैं—

(क) या तो कवि एक अन्य भाषाभाषी वर्ग को अपनी रचना की ओर आकृष्ट करना अथवा उसमें अपने विचारों का प्रचार करना चाहता है।

(ख) अथवा वह अपनी भाषा में एक रोचक विविधरूपता लाकर अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को उपस्थित करना चाहता है।

(ग) अथवा यह भी सभव है कि जिन शब्दों को प्रायः आजकल हम हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र में अप्रचलित पाते हैं, उनमें से अधिकांश कवि के रचनाकाल में सचमुच ही जनभाषा के स्वाभाविक अंग रहे हैं, जिससे कवि ने उनका प्रयोग करना कदाचित् आवश्यक समझा हो, और कालांतर में वे कवियों की विशेष सावधानी के फलस्वरूप धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर हो गए हों। कुछ भी हो, ऐसे अप्रचलित अथवा कम प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी तुलसी की रचनाओं में बराबर हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित

---

१ क० १ २०   २ रा० १, २८   ३ क० ७, १३
४ का० ६, ८   ५ वि० १४८   ६ गी० १, ६५
७ वि० १३१

पंक्तियों में व्यवहृत सबील, फहम, खलक, हलक, कहरी, वहरी, दिरमानी और हबूब इत्यादि का व्यवहार, जिनमें थोड़े रूपांतर के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों का प्रभाव स्पष्ट है—

भाई को न मोह, छोह सीय को न तुलसीस, कहैं मैं विभीषन की कछु न *सबील* की।[१]
आए सुक सारन बोलाए ते कहन लागे, पुलक सरीर सेना करत *फहम* हीं।[२]
जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूरि कीन्हे, पैयत न छत्री खोज खोजत *खलक* में।[३]
माहिषमती को नाथ साहसी सहस बाहु, समर समर्थ नाथ हेरिए *हलक* में।[४]

लंक से बंक महा गढ़ दुर्गम ढाहिबे दाहिबे को *कहरी* है।[५]
तीतर तोम तमीचर सेन समीर को सूनु बड़ो *वहरी* है।[६]
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा *दिरमानी*।[७]
साधु जानै महासाधु, खल जानै महा खल, बानी झूँठो साँची कोटि उठत *हबूब* है।[८]

३—वे स्थल, जहाँ पर अरबी, फारसी शब्दों को हिंदी भाषा के व्याकरणिक साँचे में ढालने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। यहाँ पर तत्सम रूपों के बहिष्कार तथा उनके देशी संस्कार की ओर कवि की प्रबल प्रवृत्ति जान पड़ती है। भाषा-विज्ञान के अंतर्गत मान्य भाषाविकास के सिद्धान्तों की दृष्टि से ऐसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप किए गए परिवर्तनों का बड़ा महत्त्व हुआ करता है। यह प्रवृत्ति भी बहुधा दो रूपों में मिलती है—

(अ) एक तो ऐसे रूप हैं, जिनमें केवल ध्वनियों और मात्राओं में ही इस उद्देश्य से साधारण परिवर्तन किए गए हैं कि उनको अपनी भाषा की ध्वनियों व मात्राओं के मेल में रख लिया जाय।

(आ) दूसरे कुछ ऐसे रूप भी हैं जिनमें इन विदेशी भाषाओं के शब्दों से अपनी भाषा के व्याकरणिक नियमों के आधार पर प्रत्यय और उपसर्ग आदि के सहारे नए शब्द-रूपों का निर्माण किया गया है, और इस प्रकार उनका देशी संस्कार ही नहीं, वरन् एक प्रकार से देशी रूपांतर तक कर लिया गया है। इस क्रिया में बड़ी सावधानी और कौशल की अपेक्षा होती है और बहुत कम कवि ऐसे परिवर्तनों को स्वाभाविक एवं लोकप्रिय बनाने में समर्थ हो पाते हैं, परन्तु तुलसी की शब्दावली में इन दोनों प्रकार के रूपों की योजना बड़े सुव्यवस्थित ढंग से की गई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त नेवाजू, साहिब, जवारु, सीपर, बैरख, बैरक, नेव, मसीत और हलाकी आदि ध्यान देने योग्य हैं। अस्तु, दोनों प्रकार के उदाहरण निम्नलिखित ढंग से वर्गीकृत हैं—

(अ) प्रथम प्रकार के रूप:—

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल *साहिब* रघुराजू॥[१]

---

१ क० ६, २२ २ क० ६, ८ ३ क० ६, २५
४ क० ६, २५ ५ क० ६, २६ ६ क० ६, २६
७ वि० १२२ ८ क० ७, १०८ १ रा० १, १३

लागति सांग बिभीषन ही पर *सीपर* आपु भये है।[1]
बैरष बॉह् बसाइये पै तुलसी-घरु, ब्याध अजामिल खेरे।[2]
दीजै भगति बॉह् बैरक यों सुबस बसै अब खेरो।[3]
स्वारथ अगम परमारथ की कहा चली पेट की कठिन जग जीव को *जवारु* है।[4]
कुल गुरु सचिव निपुन नेवनि, अवरेब न समुझि सुधारी है।[5]
मांगि कै खैबो *मसीत* को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।[6]

(आ) दूसरे प्रकर के रूप :—

ऊधो जू क्यों न कहै कुबरी जो बरी नट नागर हेरि *हलाकी*।[7]
करुनाकर की करुना करुना हित नाम सुहेत जो देत *दगाई*।[8]
एही दरबार मे है गरब तें सरब हानि लाभ जोग छेम को गरीबी *मिसकीनता*।[9]
सुर स्वारथी अनीस *अलायक*, निठुर दया चित नाहीं।[10]
नाम गरीब अनेक *नेवाजे*[11]

टूट्यो सो न जुरैगो सरासन महेस जू को, रावरी पिनाक में *सरीकता* कहाँ रही।[12]

उपर्युक्त (आ) भाग में आए हुए टेढे अक्षरों वाले शब्द-रूपों के अंतर्गत हलक से हलाकी, दगा से दगाई, मिसकीन से मिसकीनता, लायक से अलायक, नेवाज से नेवाजे (क्रिया) तथा सरीक से सरीकता इत्यादि शब्दों के निर्माण में क्रमशः 'ई' तथा 'ता' प्रत्ययों और 'अ' उपसर्ग का उपयोग विचित्र कौशल के साथ हुआ है।

उक्त वर्गों में विवेचित रूपों के अतिरिक्त एक रोचक एव विचित्र प्रकार का और प्रयोग मानस में देखने को मिलता है, जिसका निर्देश यहाँ पर अप्रासगिक न होगा, वह है निम्नलिखित संस्कृत छंद में रचित स्तुति के अतर्गत 'बाज़' जैसे विदेशी शब्द का सस्कृत-प्रथमा विभक्ति के अकारान्त पुल्लिग एकवचन सज्ञा की भाँति व्यवहार—

त्रातु सदा नो भव खग *बाज.*।[13]

इस स्थल पर एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि यह स्तुति शुद्ध सस्कृत में न होकर हिंदी भाषा में ही है, अवश्य ही इसमें सस्कृत शब्दों की एक शृंखला, साथ ही कहीं-कहीं संस्कृत-शब्दों के विशेष व्याकरणिक रूपों का दर्शन भी होता है। अतएव उपर्युक्त प्रयोग में 'मृगराज.' के जोड़ में केवल मात्रा-पूर्ति के लिए 'बाज' का 'बाजः' किया गया है, न कि अज्ञानवश उसे संस्कृत का शब्द समझ कर उसे अकारांत पुल्लिग एकवचन के रूप में रखा गया हो। अवश्य ही संस्कृत-बहुल पक्ति में इस शब्द

---

१ गी० ६, ५ २ क० ७, ४२ ३ वि० १४५
४ क० ७ ६७ ५ गी० १, ६८ ६ क० ७, १०६
७ क० ७, १३४ ८ क० ७, ६३ ९ वि० २६२
१० वि० १४५ ११ रा० १, २५ १२ क० १, १६
१३ रा० ३, ११

का प्रयोग एक कुतूहल की सृष्टि करता है, संभव है कवि ने स्वयं जानबूझ कर 'बाज' शब्द का इस प्रकार प्रयोग कर के कुतूहल का अवसर दिया हो।

(४) प्रान्तीय भाषाओं के देशज शब्दों से प्रभावित प्रयोग

प्रांतीय भाषाओं के प्रयोगो का समावेश तुलसी की रचनाओ में अधिक नहीं है, और जहाँ पर है भी, वह प्रायः अत्यंत प्रचलित एवं व्यापक रूप में है। वस्तुतः भाषा की स्थिरता और शैली की सुव्यवस्था के निर्वाह की दृष्टि से यही उचित भी था। फिर भी जिस मात्रा में ऐसे प्रयोग आए हैं, उसका भी अपना महत्व है और उसके पीछे भी कुछ विशेष परिस्थिति-जन्य कारण अथवा कवि का व्यक्तिगत उद्देश्य अवश्य विद्यमान है। इन प्रयोगो के विश्लेषण के पूर्व, इस परिस्थिति, उद्देश्य तथा महत्व के विषय में थोड़ा बहुत निर्देश कर देना उचित होगा।

व्यक्तिगत परिस्थिति के विचार से प्रांतीय भाषाओं का प्रभाव प्रमुखतः दो रूप में माना जा सकता है—

१—एक तो कवि के पर्यटनशील जीवन के बीच विविध प्रांतीय भाषा-भाषियों के साथ संपर्क के रूप में।

२—कवि का उन प्रातीय भाषाओं के साहित्य के अध्ययन अथवा परिचय के रूप मे।

सामूहिक परिस्थिति की दृष्टि से विचार करें तो भी दो ही बातें सामने आती हैं—

(१) संभव है, तत्कालीन जनभाषा का ही अमुक प्रांतीय भाषाओं के अमुक शब्दों से इतना अधिक सपर्क रहा हो, कि इसके अंतर्गत उनका प्रयोग प्रचलित हो गया हो, और कवि ने अपनी भाषा को तत्कालीन जनभाषा के अधिकाधिक मेल में रखने के लिए उन शब्दों को अपनी रचनाओं मे स्थान न देना उचित न समझा हो।

(२) सभव है कि तत्कालीन जनभाषा में ऐसे प्रांतीय शब्दों अथवा प्रयोगों का स्वाभाविक रूप में अधिक समावेश न होते हुए भी तत्कालीन शासक-वर्ग तथा विजातीय वर्ग द्वारा अपनी भारतीय सस्कृति के अन्य अंगों की भाँति भाषा पर भी, फारसी के संगठित प्रचार आदि की व्यवस्था के फलस्वरूप, आघात होते देखकर उस समय के सभी व्यापक एव दूरदर्शी विचार रखने वाले कवियों ने इस बात की आवश्यकता एवं उपयोगिता को समझा हो, कि अन्य प्रांतीय भाषा-भाषियों से स्थायी एवं गंभीर संबध स्थापित करने के लिए प्रांतीय भाषाओं से भी कुछ सरल प्रयोगों को लेकर अपनी रचनाओं की भाषा को उन भाषा-भाषियों के लिए भी सुबोध और उपयोगी बनाया जाय। ऐसी अवस्था में कदाचित पूर्ववर्ती और अन्य समकालीन संत कवियों के भाषादर्श का अनुसरण करते हुए तुलसी ने भी अपनी भाषा में प्रातीय भाषाओं के प्रयोगों का समावेश करना उचित समझा हो।

इसी प्रसंग में इस बात का भी निर्देश कर देना असंगत न होगा कि प्रांतीय भाषाओं के प्रयोगो के समावेश का कारण भी श्री रामनरेश त्रिपाठी जैसे आलोचकों ने

तुलसी के सोरों-निवास को सिद्ध करना चाहा है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अरबी फारसी आदि विदेशी भाषाओं के प्रयोगों के सम्बन्ध में, जिसका कुछ संकेत पीछे किया जा चुका है। सोरों के मेले में अन्य प्रातीय भाषा-भाषियों के आने से उनके संपर्क के प्रभाव से उक्त प्रयोग स्वभावत: तुलसी की रचनाओं में आ गए हैं, ऐसा उनका विचार है।[1] इस तर्क की भी आंशिक-उपयोगिता समझी जा सकती है किंतु इसी को तुलसी की उक्त प्रवृत्ति का मूल अथवा प्रधान कारण मान लेना, दृष्टिकोण की व्यापकता का अभाव सूचित करता है। एक तो, जैसा पीछे सकेत किया जा चुका है, सोरों में तुलसी का इतना अधिक काल तक निवास करना ही सदिग्ध है, कि उनकी भाषा के स्वरूप-विधान पर उसका मुख्य प्रभाव माना जा सके, और दूसरे यदि इस प्रभाव को मान भी लें, तो भी उसका उतने ही अश में ग्रहण करना समीचीन है, जितना कि तुलसी के संपक में आए हुये अन्य बहुत से स्थानों में, किसी भी विशेष स्थान का। तात्पर्य यह कि इस बात को ही मुख्य कारण न मानकर अवश्य ही किसी सीमा तक इसे भी स्वीकार किया जा सकता है।

अवश्य ही तुलसी का विविध तीर्थस्थानों का पर्यटन और निवास (जिसका स्पष्ट सकेत उनके ग्रथों—मानस-विनय पत्रिका-दोहावली और विशेषत: कवितावली के उत्तरकाड में बराबर मिलता है) उनके अन्य प्रांतीय भाषा-भाषियों के साथ सम्पर्क का और फलतः उनकी भाषा में प्रांतीय प्रयोगों के समावेश का प्रमुख कारण कहा जा सकता है। इस सपर्क का एक यह रूप भी संभव है कि स्वयं तुलसी को अपने जीवनकाल में ही पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल जाने के कारण स्वयं बहुत से अन्य प्रांतीय भाषा भाषी लोग किसी व्यक्तिगत अभिरुचि अथवा अभिप्राय से उनसे परामर्श अथवा पत्र-व्यवहार आदि करने लगे हों और इस सपर्क के क्रमशः बढ़ते-बढ़ते तुलसी की अपनी भाषा में भी कुछ प्रांतीय प्रयोगों ने घर कर लिया हो। इसके अतिरिक्त तुलसी का व्यापक अध्ययन भी कुछ अंशों में उक्त प्रांतीय-भाषा-प्रयोगों के मूल में माना जा सकता है, किंतु इन प्रयोगों का समावेश इतनी अल्प मात्रा में हुआ है, कि उन्हें अध्ययन प्रसूत संस्कारों का परिणाम मानना वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। वैसे कुतूहल एवं रोचकता की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों की भी उपयोगिता उसी प्रकार सिद्ध है, जिस प्रकार अन्य प्रयोगों की।

तात्पर्य यह कि कवि का समन्वयात्मक दृष्टिकोण, तत्कालीन परिस्थिति में अन्य भाषा-भाषी-प्रांतों के प्रयोगों का सपर्क अथवा कुतूहल एवं रोचकता की प्रवृत्ति, यही

---

[1] सोरों ब्रज राजपूताना, पंजाब, काठियावाड़ और गुजरात निवासियों का मुख्य तीर्थस्थान है। वहाँ उन प्रान्तों के लोग गंगा जी में अपने मृतकों की अस्थियाँ डालने के लिये लाते हैं। वहाँ हर साल एक बड़ा मेला लगता है, जिसमें उपर्युक्त प्रांतों के लोग ही अधिक संख्या में एकत्र होते है। इससे सोरों की बोलचाल में उन प्रांतों के बहुत से शब्द स्वभावत: भर गये हैं।

तुलसीदास और उनकी कविता : त्रिपाठी

वे मुख्य बातें हैं, जो तुलसी की भाषा में इन प्रांतीय भाषा प्रयोगों के महत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अब हम इन प्रयोगो के संक्षिप्त विश्लेषण की ओर अग्रसर होते हैं।

तुलसी की भाषा में जिन प्रांतीय भाषाओं के शब्दों का व्यवहार हुआ है, उनमें राजस्थानी, गुजराती और बँगला प्रमुख रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त मराठी प्रयोगों का भी कुछ समावेश तुलसी की भाषा में है किंतु उतना नहीं, जितना उपर्युक्त राजस्थानी, गुजराती और बँगला प्रयोगों का।

(१) राजस्थानी

तुलसी की भाषा में व्यवहृत समस्त प्रांतीय भाषाओं की शब्दावली के अंतर्गत राजस्थानी शब्दावली सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके साधारण शब्द ही नहीं, वरन् मुहावरे तक, अपने शुद्ध रूप में ही यत्र तत्र प्रयुक्त हुए हैं, इससे स्पष्ट है, कि गोस्वामी जी का इससे घनिष्ठ संपर्क था। इसके कई कारण हो सकते हैं—

(अ) एक तो राजस्थानी भाषा-भाषियों से पर्यटन के समय अथवा अन्य अवसरों पर तीर्थयात्रा के समय या उस समय, जब कि वे लोग स्वयं ही तुलसी की प्रसिद्धि सुन कर उनसे मिलने आते रहे हों, उनका प्रायः संपर्क आया होगा।

(आ) राजस्थानी का क्षेत्र मीरा जैसी भक्त कवयित्री और महाराणा प्रताप जैसे देशभक्त की निवास भूमि होने से, वहाँ की भाषा के प्रति तुलसी का प्रेम और आकर्षण स्वाभाविक ही रहा होगा।

(इ) वैसे भी तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति एवं परंपरा पर दृष्टि डालें, तो भी इस विषय में कोई आश्चर्य की संभावना नहीं रह जाती, क्योंकि तुलसी के पहले चंद-वरदाई जैसे वीरगाथा कार कवियों की राजस्थानी मिश्रित हिंदी में यदि ब्रज भाषा के प्रयोगों का समावेश हो सकता है, तो तुलसी की अवधी और ब्रज भाषा की रचनाओं में कुछ राजस्थानी प्रयोगों का आ जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

(ई) साथ ही ऐसे प्रयोगो की सीमित संख्या को देखकर यह भी अनुमान किया जा सकता है, कि तुलसी ने अपने समन्वयात्मक दृष्टि कोण को बल देने के लिए अथवा भाषा में केवल कुतूहल एव विविध रूपता उत्पन्न करने के लिए ही उक्त प्रयोगों को अपनी शब्दावली में स्थान दिया होगा।

अस्तु, अन्य सारी प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा राजस्थानी प्रयोगों का व्यवहार तुलसी की रचनाओं के अंतर्गत कहीं अधिक मात्रा में हुआ है और हिंदी भाषा भाषी क्षेत्र से राजस्थानी क्षेत्र का सामीप्य ही भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इसका प्रधान कारण हो सकता है। कम से कम अपनी काव्यभाषा से पड़ोसिन भाषा के संबंध को प्रदर्शित करने की उपयोगिता पर तुलसी की प्रवृत्ति का विचार करने पर इन प्रयोगों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इस विषय में और अधिक विस्तार में न जाकर अब हम कुछ उदाहरण तुलसी की रचनाओं से उद्धृत करके उक्त कथन की पुष्टि करेंगे।

(क) संज्ञा-शब्द जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त दारू (बारूद) तथा नारि (गर्दन)

काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल।[1]
जियत न नाई *नारि*, चातक घन तजि दूसरहिं।[2]

(ख) सर्वनाम-रूप; उदाहरणार्थ 'म्हाको' (मेरा) जो राजस्थानी का अत्यत प्रचलित और अवधी और ब्रजभाषा आदि बोलियों में बिल्कुल ही अप्रचलित रूप कहा जा सकता है, का व्यवहार निम्नलिखित पक्ति में दृष्टव्य है।

दास तुलसी सभय बदति मयनंदिनी,
मंदमति कंत ! सुनु मंत *म्हाको*।[3]

(ग) क्रिया-रूपों के अतर्गत मेलना,* सारना तथा पूजना, जो क्रमशः डालना, लगाना तथा पूरी होना का अर्थ व्यक्त करते हैं, आदि शब्दों का व्यवहार निम्नलिखित पक्तियों में हुआ है, जो स्पष्टतः राजस्थानी से प्रभावित हैं।

१. मेला, मेली—तुरत भिभीषन पाछें *मेला*[4] सियँ जयमाल राम उर *मेली*।[5]
२. सारा, सार्यो—जातहि राम तिलक तेहि *सारा*।[6]
परम साधु जिय जानि बिभीषन लकापुरी तिलक *सार्यो*।[7]
३. पूजहि, पूजी, पूजो— *पूजिहि* मन कामना तुम्हारी।[8]
एकहिं बार आस सब *पूजी*।[9]
मूरति कृपाल मंजुमाल दै बोलत भई, पूजो मनकामना भावतो बरू, बरिकै।[10]

(घ) निम्नलिखित पक्तियों में व्यवहृत 'ठोंकि ठोंकि खये' अर्थात् कधा ठोंक ठोक कर तथा 'जो घन बरसै समय सिर' इन मुहाविरों का प्रयोग भी प्रायः राजस्थानी के ही प्रभाव को व्यक्त करता है।

कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि, मन कसि कसि *ठोंकि ठोंकि खये*।[11]
जो घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।[12]

---

१ दो० ५१५	२ दो० ३०५	३ क० ६, २१
४ रा० ६, ११	५ १,२६४	६ रा० ५,४४
७ गी० ७,३८	८ रा०१,२३६	९ रा०२,१६
१० गी० १,७०	११ गी० १,४३	१२ दो० २७८

* डॉ० पीताबरदत्त बड़थ्वाल ने 'मेल्यों की जीवन कथा' शीर्षक निबंध से अनेक रचनाओं से अनेक उदाहरण देते हुए सिद्ध किया है कि 'मेलना' केवल राजस्थानी में ही नहीं वरन् किसी न किसी रूप में अपभ्रंश साहित्य में भी प्रयुक्त होता रहा है। उन्होंने इसका मूल संस्कृत की 'मिल' धातु के 'मेलयति' शब्द में खोजना चाहा है। गढ़वाली मे यह 'मेल्यों' के रूप में प्रचलित है और वस्तुतः इसी गढ़वाली शब्द की ही जीवन गाथा का वर्णन करते हुए डॉ० बड़थ्वाल ने तुलसी के भी मेली', 'मेला' जैसे शब्दों की चर्चा की है। देखिए मकरंद (संपादक डॉ भगीरथ मिश्र) पृ० १५४—१६१

(२) गुजराती

गुजराती भाषा के साथ तुलसी का संपर्क आने की तीन ही परिस्थितियाँ संभव जान पड़ती हैं—

१—कदाचित् तुलसी पर्यटन करते हुए कभी गुजरात प्रान्त में अथवा अन्य किसी प्रान्त में ही गुजराती भाषा बोलने वाले समुदाय के साथ कुछ काल रहे हों, और इसके फलस्वरूप उनकी बोलचाल में ऐसे कुछ शब्द अपने आप आ गए हों, और इसीलिए उनका प्रयोग तुलसी की रचनाओं में अनायास ही अनजान में ही हो गया हो। ऐसी परिस्थिति में बहुत संभव यही है कि स्वयं तुलसी ने इनके भेद पर उतना ध्यान न दिया हो, जितना हम इस समय उनकी भाषा का विश्लेषण करते समय दे रहे हैं।

२—हो सकता है कि तुलसी का गुजराती-भाषा-भाषी जनता से साक्षात् संपर्क न हुआ हो, किंतु वे गुजराती के भक्त कवियों की रचनाओं के संपर्क में आए हों; और उसी के परिणाम स्वरूप कुछ शब्द उनको इतने अधिक अभ्यस्त हो गए हों, कि उनकी भाषा में सहज ही उनका समावेश हो गया हो।

३—यह भी संभव है (जैसा कि पीछे कुछ संकेत किया जा चुका है) कि तुलसी के प्रमुख निवास-स्थल, जैसे काशी, अयोध्या और सूकरखेत आदि तीर्थ-स्थलों में आने वाले गुजराती भाषा-भाषियों से उनका संपर्क हुआ हो और इस प्रकार उनका गुजराती शब्दों से कुछ परिचय हो गया हो।

इन समस्त परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप तुलसी की रचनाओं में जो गुजराती प्रयोग आ गए हैं, उनका सक्षेप में आगे उदाहरण-सहित विश्लेषण किया जाता है। निम्नलिखित उदाहरणों से उक्त गुजराती प्रयोगों का नमूना देखने को मिल जायगा।

(अ) 'जून' शब्द का व्यवहार—यह सस्कृत जीर्ण शब्द का ही परिवर्तित रूप है और गुजराती की समीपवर्ती भाषा सिंधी में भी 'जूना' के रूप में 'प्राचीन' के अर्थ में प्रचुरता से व्यवहृत होता है। इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पंक्ति में द्रष्टव्य है—

का छति लाभ जून धनु तोरें।[1]

यहीं पर यह भी निर्देश कर देना अनुचित न होगा, कि आजकल हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र की ब्रज व अवधी आदि बोलियों में इस शब्द का प्रयोग होता तो है, किंतु इस अर्थ मे बिल्कुल नहीं। यहाँ पर इससे दैनिक कालांश का बोध होता हे, जैसे संझा की जून अर्थात् संध्या के समय, ऐसे ही 'कौनी जून' अर्थात् किस समय ?

(आ) दरिया—इसका प्रयोग निम्नलिखित पंक्ति में हुआ है।

तजि आस भो दास रघुप्पति को दसरत्थ को दानि दया दरिया।[2]

यहाँ पर 'दरिया' शब्द मूलतः फारसी का होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से गुजराती का प्रयोग कहा जायगा, क्योंकि फारसी में दरिया का अर्थ होता है 'नदी' और उसी का अर्थ गुजराती के व्यवहार में 'समुद्र' होता है। डॉ० तारापुरवाला ने भी

---

1 रा० 1, २७२ 2 क० ७, ४६

गुजराती के व्यवहार में फारसी शब्द दरिया का अर्थ समुद्र किया है।* तुलसी भी उपर्युक्त पक्ति में संभवतः 'दरिया' द्वारा समुद्र का ही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं, क्योंकि जो अनेक स्थलों पर अपने आराध्य-भगवान् राम को दयासिंधु, करुणासिंधु कहता आया है, वह उन्हीं को 'दया की नदी' का विशेषण देगा, ऐसा संभव नहीं जान पड़ता। अस्तु यहाँ पर 'दरिया' को गुजराती भाषा का प्रयोग मानना ही अधिक युक्ति संगत होगा, फारसी का नहीं।

उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त एकाध उदाहरण और दिये जाते हैं, जैसे निम्न-लिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'लाधे' (प्राप्त किया), लामे का ही रूपांतर, 'मूकिये' (छोड़िये) तथा मोंगी (मौन, चुप) का व्यवहार, जो स्पष्टतः गुजराती भाषा के प्रभाव को सूचित करता है—

काहु न इन्ह समान फल *लाधे*।[1]

पालो तेरे टूक को परेहूँ चूक *मूकिए* न कूर कौड़ी दूका हौं आपनी ओर हेरिए।[2]

सुनि खग कहत अंब ! *मौंगी* रहि समुझि प्रेम पथ न्यारो।[3]

(३) बँगला

इस भाषा के प्रयोग गुजराती की ही भाँति अल्प मात्रा में होने पर भी तुलसी की भाषा में यत्र तत्र अपनी मौलिक गठन को सुरक्षित रखने के कारण महत्त्व पूर्ण हैं। ऐसे प्रयोगों के समावेश का मूल कारण लगभग उन्हीं सारी परिस्थितियों में खोजा जा सकता है, जिनका निर्देश गुजराती प्रयोगों पर विचार करते समय किया गया है, जैसे बंगाली वैष्णव साहित्य से अथवा बंगाली वैष्णव भक्तों से संपर्क इत्यादि, साथ ही केवल रोचकता और विविध रूपता की सृष्टि करने के लक्ष्य से भी ऐसे एकाध प्रचलित प्रयोग तुलसी ने अपना लिए हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। अस्तु इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(अ) बैसा, बैसें (अर्थ बैठा, बैठे)—इन का प्रयोग निम्नलिखित पक्तियों में द्रष्टव्य है—

जाइ कपिन्ह सो देखा *बैसा*। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥[4]

अंगद दीख दसानन *बैसें*। सहित प्रान कज्जल गिरि जैसें॥[5]

(आ) पारा-पारी (अर्थ सका, सकी, 'पारना' अर्थ में 'सकना' का पर्याय है) का व्यवहार निम्नलिखित पक्तियों में—

सोक बिबस कछु कहै न *पारा*। हृदय लगावत बारहिं बारा॥[6]

---

१ रा० १, ३१० २ क० ह० बा० ३४ ३ गी० २, ६६
४ रा० ६, ७६ ५ रा० ६, १९ ६ रा० २, ४४

*देखिए, डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० १००

अध रात पुर द्वार पुकारा । बाली रिपु बल सहै न पारा ॥[1]
मधुकर कहहु कहन जो पारो ।[2]

(इ) खटाइ, खटाहि (निभती हैं, निभाती हैं) का प्रयोग; यथा निम्नलिखित पंक्तियों में—

लंका जरी जोहे जिय सोच सो विभीषन को,
कह्यो ऐसे साहब की सेवा न खटाइ को ।[3]
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँ कि नारि खटाहिं ।[4]

(४) मराठी

मराठी भाषा के प्रयोगों का भी तुलसीदास जी की शब्दावली में सर्वथा अभाव नहीं है, यद्यपि परिमाण की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं । संभवतः काशी के महाराष्ट्री पण्डितों के संपर्क में आने से, अथवा कतिपय मराठी भक्त कवियों की रचनाओं के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप, इन शब्दों से गोस्वामी जी का परिचय हुआ होगा । इनके उदाहरण के लिए दो शब्द—

(१) पवाँरो और (२) अवकलत दिए जा सकते हैं, जिन का प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

वीर बड़ो विरुदैत बली अजहूँ जग जागत जासु पवाँरो ।[5]
मोहि अवकलत उपाउ न एकू ।[6]

यहीं पर यह भी संकेत कर देना आवश्यक होगा, कि इनमें 'पवाँरा' शब्द 'लबी गाथा' के अर्थ में आज भी अवधी की बोलचाल में बराबर प्रयुक्त होता है, जैसे 'कहाँ का पवाँरा गावत हौ' इत्यादि । अतः तर्क की दृष्टि से यही युक्त सगत जान पड़ता है कि तुलसी ने अपनी सुपरिचित बोली अवधी से ही उक्त शब्द को ग्रहण किया होगा, न कि किसी मराठी-जैसी सुदूरवर्ती प्रांतीय भाषा से ।

(५) हिंदी की बोलियों तथा उपबोलियों के प्रयोग

इनके अंतर्गत जिन विविध बोलियों की गणना की जा सकती है, उनमें प्रमुख रूप से अवधी, ब्रज, बुंदेलखंडी, भोजपुरी, खड़ीबोली, बघेली और छत्तीसगढ़ी उल्लेखनीय हैं, जिनमें प्रयोगों के समावेश की मात्रा के विचार से अवधी और ब्रज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, क्योंकि इन्हीं में तुलसी ने प्रधानतः अपने ग्रंथों की रचना की । फलतः इन दो की शब्दावली का अधिक विस्तार से विवेचन किया जायगा ।

तुलसी में इन बोलियों के प्रयोगों का, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से, अन्य समस्त भाषाओं से आए हुए प्रयोगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व है । क्योंकि तुलसी प्रधा-

---

१ रा० ४, ६ २ श्रीकृ० ३४ ३ क० ७, २२
४ रा० १, ७६ ५ क० ६, ३८ ६ रा० २, २४३

नतः जन भाषा के कवि थे, और इस नाते जनता की बोल चाल में प्रचलित बोलियों को साहित्यिक रूप देने में जिस मौलिकता की व्यजना हो सकती थी, वह सस्कृत, अपभ्रंश आदि पूर्ववर्ती भाषाओं, अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं अथवा राजस्थानी-गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं के प्रति अपना परिचय जताने में नहीं। मूल रूप में तो अवधी, ब्रज प्रभृति, हिंदी भाषा-भाषी चेत्र की समृद्ध बोलियाँ ही तुलसी की भाषा को सगठित रूप देने वाली नाड़ियाँ एव अस्थियाँ कही जा सकती हैं। इन्हीं बोलियो के चेत्र भी अधिकांशतः तुलसी के पर्यटन, निवासस्थान तथा उनके ग्रथ-रचना से संबधित रहे हैं, जैसे उनकी कृतियों में उपलब्ध अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य दोनो से पता चलता है। बिना किसी पर्यटन के भी, तुलसी को इन भाषा-भाषियो के सम्पर्क में लाने के लिए तो स्थानिक समीपता ही पर्याप्त है। और ऐसे सहज सपर्क का परिणाम उनकी भाषा की रूप-रचना एव व्यवस्था पर अधिकता से दिखाई पड़ना वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा समीचीन जान पड़ता है। क्रमशः उनका सक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

(क) अवधी

अवधी बोली की दृष्टि से, तुलसी की भाषा पर विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा व्यवहृत सभी बोलियों में इस का प्रभाव सब से अधिक है। वस्तुतः उन की ब्रज भाषा की सारी रचनाएँ मिल कर भी उन को वह प्रतिष्ठा एवं गौरव नहीं प्रदान कर सकती थीं, जितना अवधी में लिखा गया रामचरित मानस, जिसकी प्रसिद्धि एव महत्ता सर्वथा असदिग्ध है। एक ही बात तुलसी की रचनाओं में अवधी के प्रमुत्व एव महत्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है, किंतु अन्य भी कई कारण एवं परिस्थिवियाँ हैं, जिन का अवधी को उनकी भाषा का एक अनिवार्य अंग बना देने में विशिष्ट व्यवहार है और जिन की उपेक्षा करना किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। उनमें प्रमुख ये हैं—

१—तुलसी का जन्म-स्थान चाहे राजापुर मानें चाहे सोरों, चाहे और कोई स्थान, पर इतना तो निश्चित है कि हमारे कवि का अधिकांश निवास-काल अवधी-भाषा-भाषी चेत्र के भीतर अथवा उसी के आस पास व्यतीत हुआ है। ऐसी स्थिति में निःसदेह अवधी एक प्रकार से नित्य ही विचारों के आदान-प्रदान का एक परिचित माध्यम हो जाने के कारण उनकी अपनी घरेलू बोली हो चुकी थी। अतः इस बोली के प्रति उनकी आत्मीयता स्वाभाविक थी। इसीलिए जब तुलसी ने अपने समय में प्रचलित तथा अपने से परिचित अनेक भाषा-रूपों एव शैलियों में अधिकांश को रामकथा का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया, तो वह अपनी घरेलू बोली को भी राम यश गान द्वारा पवित्र करने की आवश्यकता एव उपयोगिता को महत्व न देते, ऐसा कैसे सभव था।

२—अवधी हमारे कवि के आराध्य भगवान् राम की जन्मभूमि एव लीलाभूमि, अयोध्या के निवासियों की अपनी बोली होने के कारण तुलसी के लिए कितनी पूजा एवं श्रद्धा की वस्तु बन गई होगी, साथ ही लक्ष्मण की बसाई हुई, कही जाने वाली

नगरी लखनऊ की बोली भी अवधी ही थी, इस तथ्य ने भी उसे कम प्रभावित न किया होगा। अतः इस दृष्टि से भी अवधी के प्रति हमारे कवि का तीव्र आकर्षण होना सर्वथा स्वाभाविक है।

३— सूक्ष्मसाहित्यिक दृष्टिकोण से इस प्रवृत्ति की जाँच करें, तो एक और बात पर ध्यान जाता है, वह यह कि तुलसी के पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियो की रचनाओ में अवधी और ब्रज दोनों का व्यवहार हो चुकने पर भी, तुलसी को अवधी के क्षेत्र मे अपनी प्रतिभा प्रकाशित एवं विकसित करने का अधिक अवसर था, जिसका उन्होने भलीभाँति प्रयोग किया। वस्तु स्थिति यह थी कि दोनों बोलियों को उनकी रचनाओं में स्थान मिल जाने पर भी प्रयोग बाहुल्य के कारण जितना परिमार्जन ब्रजभाषा का हो चुका था, उतना अवधी का नहीं। सूरदास जैसे प्रथम श्रेणी के कवि अपने पदों में ब्रजभाषा को एक शिष्ट काव्यात्मक रूप प्रदान कर चुके थे और नंददास जैसे जड़िया कलाकार उसके वाह्य रूपरंग को भी पर्याप्त मात्रा में निखार रहे थे, किन्तु अवधी में तुलसी से पहले एक निश्चित परिमाण में ऐसा करने वाले कवि जायसी जैसे एकाध कवि कहे जा सकते हैं। जायसी प्रबंध-कौशल, प्रकृति-चित्रण, सौंदर्याङ्कन प्रभृति अनेक बातों के विचार से चाहे जितने सफल हुए हों, किंतु इतना तो निर्विवाद है कि उनकी अवधी में ठेठ बोली का ही ठाठ अधिक था, और उस पर्याप्त मात्रा में शिष्ट एवं काव्यात्मक बनाने की आवश्यकता बनी थी। अन्य किसी प्रतिभाशाली कवि को इस दिशा में अग्रसर होते न देखकर बहुत संभव है कि तुलसी ने इस आवश्यकता की पूर्ति करने की ओर विशेष ध्यान दिया हो, और अवधी को अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति का माध्यम बनाकर अपने इस कार्य के लिए उत्कृष्ट द्वार खोल देना उपयोगी समझा हो। तुलसी वस्तुतः इस कार्य में इतने सफल हुए, कि उन्होंने अपनी अद्वितीय प्रतिभा एवं अपूर्व भाषाधिकार के बल पर रामचरित मानस जैसे ग्रन्थ की उक्त बोली में रचना करके, ऐसी उत्तम शैली में, कि आज भी उसके जोड़ में हिन्दी साहित्य का कोई ग्रथ नहीं रखा जा सकता, अवधी को शाश्वत अमरता प्रदान कर दी।

यही कारण है कि तुलसी की वर्णमाला तथा प्रयोग-पद्धति में अवधी के लगभग सारे व्याकरणिक लक्षणों का व्यापक समावेश दृष्टिगोचर होता है। केवल अवधी में लिखित ग्रन्थों के अंतर्गत ही नहीं, वरन ब्रज भाषा मे रचित ग्रन्थों में भी, इसका पर्याप्त पुट देखकर इस व्यापकता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। अस्तु, अवधी की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर तुलसी की शब्दावली मे उपलब्ध, अवधी प्रयोगों की उदाहरण सहित छान-बीन नीचे की जाती है।

(क) अवधी में सज्ञा के ह्रस्व अकारांत रूपों का वाहुल्य पाया जाता है, उदाहरण के लिए, निम्नलिखित पंक्तियो में 'गङ्गा' के लिए 'गंग', 'माला' के लिए 'माल', तथा 'पताका' के लिए 'पताक'—

गंग सकल मुद मंगल मूला।[१]

---

१ रा० २, ८७

सीस *गंग* गिरिजा अधग भूषन भुजंग वर ।[१]
मुंड *माल*, बिधु बाल भाल डमरू कपाल कर ।[२]
लसत ललित कर कमल *माल* पहिरावत ।
काम फंद जनु चंदहि बनज फंदावत ।[३]
चामर *पताक* बितान तोरन कलस दीपावलि बनी ।[४]

बरवै रामायण की निम्नलिखित पंक्तियों में आए हुए हरवा (हार) को चाहे तो दूसरे प्रकार के अवधी संज्ञा रूप, जैसे घोड़वा आदि शब्दों की कोटि में रख सकते हैं—

चम्पक *हरवा* अंग मिलि अधिक सोहाइ ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्भिलाइ ।[५]
सीय बरन सम केतकि अति हिय हारि ।
किहेसि भँवर कर *हरवा* हृदय बिदारि ।[६]

(ख) अवधी में विकारी बहुवचन-रूपों का निर्माण एक वचन-रूपों में 'न्ह' प्रत्यय का योग करके बनता है, जो तुलसी की रचनाओं में प्रचुरता से दिखाई देता है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत नारिन्ह, जुवतिन्ह बीथिन्ह, बदिन्ह इत्यादि—

राम रूप अरु सिय छबि देखें । नर *नारिन्ह* परिहरीं निमेषें ।[७]
दल फल मूल दूब दधि रोचन, *जुवतिन्ह* भरि भरि थार लये ।[८]
गावत चलीं भीर भइ *बीथिन्ह बदिन्ह* बांकुरे बिरद बये ।[९]

केवल 'न' प्रत्यय के योग से भी अवधी में बहुवचन रूप बनाए जाते हैं, किंतु यही प्रवृत्ति ब्रजभाषा के विकारी रूपों में भी बहुलता से मिलती है । इसलिए ऐसे रूपों को ब्रजभाषा से प्रभावित प्रयोगों में ही दिखाना अधिक युक्तिसङ्गत है । अवधी के 'न्ह' प्रत्यय से युक्त रूपों को विशेष महत्व इस लिए दिया गया, कि वे इस बोली के अपने विशेष हैं, जो ब्रजभाषा में नहीं मिलते ।

(ग) अवधी में बहुत सी संज्ञाओं व विशेषणों के अकरांत रूपों को उकारांत रूप में प्रयोग करने की परम्परा पाई जाती है । इस प्रवृत्ति के दर्शन तुलसी की भी अवधी-बहुल रचनाओं में बराबर होते हैं, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित शब्द*—

नगर नारि नर हरषित सब चले खेलन *फागु* ।[१०]
देखि राम छबि अतुलित उमगत उर *अनुरागु* ।[११]
प्रेरित राम चलेउ सो, *हरषु बिरहु* अति ताहु ।[१२]

---

१ वि० १४६	२ वि० १४६	३ जा० मं० १२२
४ गी० १, ५. १	५ बरवै० ५	६ बरवै० २२
७ रा० १, २४६	८ गी० १, ३	९ गी० १, ३
१० गी० ७, २१	११ गी० ७, २१	१२ रा० ७, ४

तुलसि दास कहै कहौ धौं कौन बिधि, अति लघु मति जड़ कूर गवांरु।[१]

(घ) अवधी के कारक चिन्हों में, भूत निश्चयार्थ क्रियाओं के प्रसङ्ग में, कर्ता कारक के 'ने' का किसी रूप में भी व्यवहार नहीं मिलता। तुलसी की भाषा में इसका पूरा अनुकरण हुआ है। यहाँ कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं।[२]

सुनी मैं सखि मङ्गल चाह सुहाई।[३]

आलसी अभागी अघी आरत अनाथ पाल,

साहेब समर्थ एक नीके मन *गुनी मैं*।[४]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'राम कहा', 'मैं सुनी' तथा 'मैं गुनी' में इन सबके बीच बीच में कर्ता कारक चिन्ह 'ने' का लोप अथवा अभाव मिलता है। यहीं पर यह भी संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि तुलसी की निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'सीता बोला' भी अवधी के व्याकरणिक नियमों के अनुसार ही हुआ है। इसे व्याकरणिक दृष्टि से दोषपूर्ण कहने का साहस करने वाले आलोचकों को सावधानी से काम लेना चाहिए।

मरम बचन जब *सीता बोला*। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥[५]

प्राचीन अवधी के अंतर्गत कर्मणि प्रयोग में क्रिया का रूप कर्म के अनुसार होता है, यद्यपि कारक अविकारी रूप में रहता है। इसी नियम के अनुकूल उक्त प्रयोग को भी शुद्ध मानना चाहिए।

(घ) अवधी में सम्बन्ध कारक के परसर्ग 'के', 'कर' और 'केर' बहुलता से प्रयुक्त होते हैं। इनका व्यवहार भी तुलसी की रचनाओं में प्रचुरता से हुआ है। उदाहरणार्थ—

त्रेता भइ *कृतजुग के* करनी।[६]

गंगाजल कर कलस तौ तुरित मंगाइय हो।[७]

माय-बाप गुरु स्वामि *राम कर* नाम।[८]

ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न *जीवन्ह केर* कलेसा।[९]

आजकल अवधी में बहुलता से प्रयुक्त सम्बन्ध कारक परसर्ग 'का' का तुलसी की रचनाओं में अभाव मिलना उक्त परसर्ग की आधुनिकता का सूचक कहा जा सकता है।

(च) अधिकरण कारक का वर्तमान अवधी परसर्ग 'मां' अपने विशुद्ध रूप में सम्भवतः कहीं अधिक आधुनिक है। तुलसी की रचनाओं में इसके लिए, 'मांह',

---

१ गी० ७, १०   २ रा० १, २३७   ३ गी० २, ८१
४ क० ७, २१   ५ रा० ३, २८   ६ रा० ७, २३
७ रा० ल० न० ३   ८ बरवै० ५०   ९ रा० ७, ७९

'मह' तथा 'महु' का व्यवहार हुआ है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले अश—

> गरब करहु रघुनंदन जनि *मन माह*। देखहु आपनि मूरति सिय कै छांह ॥[1]
> कौसल्या कल कनक *अजिर मह*, सिखवति चलन अंगुरियॉ लाये ।[2]
> उठे हरषि सुख *सिंधु महुँ*, चले थाह सी लेत ।[3]

(छ) सर्वनामों के अतर्गत अवधी के सम्बन्धकारक रूप कुछ विशेष प्रकार के मिलते हैं, जिनमें यहॉ पर मोर, तोर, हमार, तुम्हार, ताकर, जाकर, केहि कर आदि का उल्लेख किया जा सकता है। तुलसी की भाषा में इनका भी पर्याप्त प्रयोग, अवधी के प्रभाव का द्योतक है। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

> विषय विमुख *मन मोर* सेइ परमारथ।
> इन्हहि देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ ॥[4]
> *मोर दास* कहाइ नर आसा। करइत कहहु कहा विश्वासा ॥[5]
>
> राम बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर।
> ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी *तोर* ॥[6]
> प्रनतपाल प्रन *तोर मोर* प्रन जिअउँ कमल पद देखे।[7]
> गिरिजहिं लागि *हमार* जिवन सुख संपति।[8]
> कहा *हमार* न सुनेहु तब, नारद के उपदेस।[9]
> नाथ मोहिं बालकन्ह सहित पुर परिजन।
> राखन हार *तुम्हार* अनुग्रह घर बन ॥[10]
> *ताकर* दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥[11]
> *जाकर* नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई ॥[12]
> गालु करब *केहिकर* बलु पाई।[13]

क्रियारूपों की दृष्टि से विचार करें, तो सहायक क्रिया के बहुत से भूतकालिक-रूप तुलसी की भाषा में 'रह्' धातु के सहारे बनाए गए हैं, जैसे रहेउँ, रहे और रहा इत्यादि, जो अवधी में व्यापक रूप से व्यवहृत हुए हैं। उदाहरणार्थ—

> जात रहेउँ बिरंचि के धामा[14]।
> हमहू उमा रहे तेहि संगा[15]।

१	बरवै० १७	२	गी० १, २१	३	रा० १, ३०७
४	जा० म० ५०	५	रा० ७, ४६	६	दो० १
७	वि० ११३	८	पा० मं० २०	९	रा० १, ८१
१०	जा० मं० २८	११	रा० ५, २६	१२	रा० १, ११३
१३	रा० २, १४	१४	रा० ३, ८	१५	रा० ६, ८१

रहा बालि बानर मैं जाना ।[१]

(ज) क्रियार्थक संज्ञाओं के अवधी रूप अटनु, गवनु, देन, करन, मिलब और भुलाब आदि (जो नु, न तथा ब के योग से बनते हैं) का व्यवहार भी तुलसी की शब्दावली में प्रचुरता से मिल जायगा। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में—

अटनु राम गिरि बन तापस थल ।[२]
असन अजीरन को समुझि तिलक तज्यो, बिपिन गवनु भले भूखे को सुनाजु भो ।[३]
जब तेहि कहा देन बैदेही । चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही ॥[४]
करन चहउँ रघुपति गुन गाहा । लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥[५]
मिलब हमार भुलाब निज, कहहु त हमहिं न खोरि ।[६]

(झ) भूतकालिक सहायक क्रिया के रूपों में वचन, लिंग तथा पुरुष के कारण विभिन्नता होना भी तुलसी की भाषा में अवधी-व्याकरण तथा अवधी बोलचाल में प्रचलित सामान्य नियमों के प्रभाव के ही कारण आया है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त भा, भे, भइ, भई और भये आदि—

अपनी समुझि साधु सुचि को भा ।[७]
भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ।[८]
सो कुचालि सब कहं भइ नीकी ।[९]
पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई ।[१०]
तेहि कें भये जुगल सुत बीरा ।[११]

(ञ) संयुक्त क्रियाओं का निर्माण अवधी की भाँति तुलसी की भाषा में प्रायः कृदतों के आधार पर हुआ है, जैसे, नहान लाग, लगे सँभारन, कहै लाग इत्यादि जिन का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

प्रात नहान लाग सब कोऊ ।[१२]
लगे सँभारन निज निज अनी ।[१३]
कहै लाग खल निज प्रभुताई ।[१४]

(ट) भविष्यकाल के अधिकांश रूप अवधी में मूल धातु के साथ 'ब' प्रत्यय के योग से बनते हैं। यह प्रवृत्ति तुलसी की भाषा में बहुतायत से दृष्टिगोचर होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त कहब, जाब और देब जैसे रूप उनकी प्रायः सभी रचनाओं में यत्रतत्र बिखरे हुए मिलेंगे—

---

१ रा० ६, २१ २ रा० २, २८० ३ क० २, ३३
४ रा० ५, ५७ ५ रा० १, ८ ६ रा० १, १६५
७ रा० २, २६१ ८ रा० १, २६ ९ रा० २, ३१७
१० रा० ९, ३२१ ११ रा० १, १५३ १२ रा० २, २७३
१३ रा० ६, ५५ १४ रा० ६, ८

राम भरत सानुज लखनु दसरथ बालक चारि ।
तुलसी सुमिरत सगुन सुभ मंगल कहब पचारि ।[1]
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई ।[2]
पन परिहरि सिय देब जनक बर स्यामहि ।[3]

(ठ) कर्तृवाचक संज्ञाओं में सबसे अधिक प्रचलित एवं व्यापक अवधी-रूपों का, जिनका निर्माण मूल धातु के साथ अंत में 'ऐया' प्रत्यय जोड़कर होता है और जो पुराने और आधुनिक रूपों में समान रूप से मिलता है, प्रचुर प्रयोग तुलसी की रचनाओं में, विशेष कर कवितावली और गीतावली आदि ग्रंथों में दिखाई देता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों मे व्यवहृत लुटैया, सुनैया, अन्हवैया, बसैया, कहैया और जितैया इत्यादि—

ह्वै हैं सकल सुकृत सुख भाजन, लोचन लाहु *लुटैया* ।[4]
अनायास पाइहैं जनम फल, तोतरे बचन *सुनैया* ।[5]
भरत राम रिपुदवन लखन के, चरित सरित *अन्हवैया* ।[6]
तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे, रघुबर नगर *बसैया* ।[7]

तिन कही जगत मे जगमगति जोरी एक, दूजो को *कहैया* औ *सुनैया* चख चारिखो ।[8]
मख राखिबे के काज राजा मेरे संग दये, जीते जातुधान जे *जितैया* बिबुधेस के ।[9]

(ड) क्रिया के सामान्य वर्तमानकाल में केवल मूल धातु के व्यवहार की प्रवृत्ति भी अवधी की एक प्रमुख विशेषता है, जिसके उदाहरण तुलसी की शब्दावली में भी बहुलता से मिल जाते हैं, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'जान' और 'कह' आदि—

जान आदि कबि तुलसी नाम प्रभाउ ।[10]
कुँवरि लागि पितु काँध ठाढि भई सोहइ।
रूप न जाइ बखानि *जान* जोइ जोहइ ॥[11]
कोउ *कह* संकर चाप कठोरा ।[12]

तुलसी की रचनाओं के अंतर्गत बहुत से ऐसे शब्दों, मुहावरों एवं कहावतों का ठेठ रूप में भी व्यवहार हुआ है जो अवधी के क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं और उनकी छानबीन का अपना विशिष्ट महत्व है, क्योंकि इसके बिना, तुलसी की भाषा को जनता में इतनी लोकप्रियता प्रदान करने में अवधी के ठेठ शब्दावली ने जो बहुमूल्य सहायता प्रदान की है, और जिस के फलस्वरूप ही, वह तुलसी द्वारा व्यवहृत अन्य सारी भाषाओं एवं बोलियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, उसका

१ रामाज्ञा० १, २, ७ २ रा०, ११२ ३ जा० मं०, ६४
४ गी० १,६ ५ गी० १ ६ ६ गी० १,६
७ गी० १,६ ८ क० १,१६ ९ क० १,२१
१० बरवै० ५४ ११ पा० मं० १३ १२ रा० १,२२३

स्पष्टीकरण न हो सकता। अस्तु, हम संक्षेप मे तुलसी की रचनाओं में बिखरे हुए इन ठेठ शब्दों में से कतिपय चुने हुए रूपो के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

१. ख्याल : बालक नृपाल जू के *ख्याल* ही पिनाक तोर्यो,
मंडलीक मंडली प्रताप दाप दालि री।[1]

२. पेटारी : अजस *पेटारी* ताहि करि, गई गिरा मति फेरि।[2]

३. सरवरि (बराबरी), माथा (मस्तक) : हमहिं तुम्हहि *सरबरि* कस नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ *माथा*।[3]

४. अमराई : देखि अनूप एक *अमराई*।[4]

५. कौर (ग्रास) : जानकी-जीवन ! जनम-जनम जग ज्यायो
तिहारेहि कौर को हौं।[5]

६. नाउँ, गाउँ : मारग अगम संग नहिं संबल, *नाउँ गाउँ* कर भूला रे।[6]

७. घरौंधा : पवि को पहार कियो ख्याल ही कृपालु राम,
बापुरो विभीषण *घरौंधा* हुतो बालु को।[7]

८. मांड़व (जो विवाह के समय छाया जाता है)—
गुनि गन बोलि कहेउ नृप *माँड़व* छावन।[8]
आलहि बाँस के *माँड़व* मनि गन पूरन हो।[9]

९. झालरि—मोतिन्ह *झालरि* लागि चहूँ दिसि झूलन हो।[10]

१०. डोंगर, डांग, स्वांग—चित्र बिचित्र बिबिध मृग डोलत *डोंगर डांग*।
जनु पुर बीथिन बिहरत छैल संवारे *स्वांग*॥[11]

११. उहार (पालकी को ढाकने वाला वस्त्र।)—
नारि *उहार* उघारि दुलहिनिन्ह देखहिं।[12]

१२. मुईं बादर—उमगि चलेउ आनद भुवन *मुइँ बादर*।[13]

तुलसी के अवधी प्रयोगों के अंतर्गत कुछ ठेठ पूर्वीपन* लिए हुए रूप विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं। इनमे अधिकांश का प्रयोग उन्हीं एकाध स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर कवि ने अपने कुछ पूर्ववर्ती जनकवियों, रहीम और कबीर आदि की

---

१ क० १,१२ २ रा० २,१२ ३ रा० १,२८२
४ रा० १,२१४ ५ वि० २२६ ६ वि० १८६
७ क० ७,१६ ८ जा० मं० १२७ ९ रा० ल० न० ३
१० रा० ल० न० ३ ११ गी० ७, ४७ १२ जा० मं० २११
१३ जा० मं० २१०

* कहना न होगा कि ठेठ पूर्वीपन लिए हुए यह प्रयोग बहुत कुछ उसी बोली के अंतर्गत आते हैं, जिन्हें कुछ लोगों ने पूर्वी बोली के नाम से पुकारा है। कबीर ने भी 'मेरी बोली पूरबी, कहकर संभवतः इसी बोली की ओर संकेत किया है। कुछ लोग इसे पश्चिमी

रचनाओं में उपलब्ध ठेठ पूर्वी रूपों के प्रयोग की परंपरा को किसी न किसी अंश मे अपनी भाषा में भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न बहुत कुछ उसी प्रकार का है, जिस प्रकार तुलसी की शब्दावली मे उपलब्ध अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी आदि, तथा फारसी-अरबी आदि विदेशी भाषाओं के, एव गुजराती, बँगला आदि प्रांतीय भाषाओं के प्रयोगों को स्थान देते समय दिखाई पडता है। अन्य प्रयोगों की भाँति इन प्रयोगों में भी केवल कुतूहल अथवा रोचकता का उत्पादन भी एक गौण

भोजपुरी का ही दूसरा नाम मानते हैं। इस संबंध में जार्ज ग्रियर्सन के निम्नलिखित वाक्य उल्लेखनीय हैं—

The word 'Purbi' means literally the language of the East and can, without voilation of truth, be applied to Awadhi by any who lives to its west, but such use is most inconvenient, for the word is specifically employed as the name of the western Bhojpuri spoken in Azamgarh and the surrounding districts, and its application to Awadhi tends to confound two entirely different forms of speech which do not even belong to the same group of Indo Aryan languages,

Linguestic Survey, Volume VI, part I, page 10.

किंतु फिर भी हमने इन प्रयोगों को पूर्वी अथवा भोजपुरी में न रखकर अवधी के ही ठेठ पूर्वी रूपों के अंतर्गत इसलिए रखा है कि 'पूर्वी' शब्द से 'पूर्वी हिंदी' का भ्रम होने की संभावना है, जिसको भाषाविज्ञान के ग्रंथों में हिंदी के दो प्रमुख विभागों पूर्वी हिंदी और पश्चिमी हिंदी के भीतर एक विशिष्ट स्थान दिया गया है, और जिसका प्रयोग इस प्रकार एक पारिभाषिक शब्द के रूप में होता रहा है। इस भाषा-वैज्ञानिक विभाग के अनुसार पूर्वी हिंदी में कई बोलियों का समावेश हो जाता है। यह बोलियाँ हैं अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी। जिस प्रकार पश्चिमी हिंदी में खड़ीबोली, बुंदेली, ब्रजभाषा आदि कई बोलियों के रूपों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार पूर्वी हिंदी भी किसी एक बोली की बोधक न होकर उक्त कई बोलियों के प्रयोगों का प्रतिनिधित्व करती है। यहीं पर एक और बात का संकेत कर देना आवश्यक है, वह यह कि ये ठेठ पूर्वी प्रयोग भोजपुरी बोली के प्रयोगों से बहुत मिलते जुलते हैं, किंतु साथ ही साथ पूर्वी अवधी के अंतर्गत भी बराबर प्रयुक्त होते हैं, और इस लिए भोजपुरी के विशुद्ध भेदक लक्षणों के अंतर्गत इन प्रयोगों को नहीं रखा जा सकता। ऐसी अवस्था में इन रूपों को अवधी के ही ठेठ पूर्वी प्रयोग कहना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ा। वैसे तुलसीदास जी की भाषा के लिए तो काशी, मिर्जापुर की भोजपुरी बोली भी उतनी ही निकट एवं परिचित मानी जा सकती है, जितनी पूर्वी अवधी, क्योंकि दोनों के क्षेत्रों में उनका निवास रहा है।

कारण हो सकता है। कुछ ऐसे ठेठ पूर्वी रूप भी मिलते हैं, जहाँ पर कवि का आग्रह भाषा के मिले जुले रूपों की अपेक्षा जनबोली के किसी रूप विशेष के प्रति रहा है, ऐसे प्रयोगों में 'वा' तथा 'इया' के योग से बने हुए शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो विशुद्ध पूर्वीपन लिए हुए हैं। इनका दिग्दर्शन संक्षेप में निम्नलिखित उदाहरणों में कराया जाता है—

(अ) 'वा' के योग से जिन शब्दों का निर्माण हुआ है, उनमें इस प्रत्यय को जोड़ने से पूर्व मूल शब्द की वह ध्वनि, जिस पर बलाघात हुआ करता है, दीर्घ से ह्रस्व कर दी जाती है, जैसे 'हार' के स्थान में 'हरवा' का प्रयोग। जहाँ कहीं प्रत्यक्ष में यह क्रिया नहीं दृष्टिगोचर होती, वहाँ पर भी उच्चारण में ध्वनि को ह्रस्व कर देना पड़ता है, जैसे 'देस', के स्थान में 'देसवा'। यह भी अवधी का ठेठ पूर्वी प्रयोग है, किंतु तुलसी की रचनाओं में इसका समावेश कुछ ही शब्दों तक सीमित है। अतः इसे हम उनकी भाषा की व्यापक प्रवृत्तियों में नहीं रख सकते। उदाहरणार्थ—

चंपक *हरवा* सिय अंग मिलि अधिक सोहाइ।[1]
किहेसि भँवर कर *हरवा* हृदय बिदारि।[2]

(आ) 'इया' प्रत्यय के योग से बने हुए रूप—जैसे उजियरिया, बतिया, मलिनिया, कनगुरिया, बरिनिया, नउनिया, अनुहरिया। उदाहरणार्थ—

डहकु न है *उजियरिया* निसि नहिं घाम।[3]
बतिया सुघर *मलिनिया* सुंदर गातहिं हो।[4]
कनगुरिया कै मुंदरी कंकन होइ।[5]
करि कै छीनि *बरिनिया* छाता पानिहिं हो।[6]
नैन बिसाल *नउनिया* भौं चमकावइ हो।[7]
मुख *अनुहरिया* केवल चंद समान।[8]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त उजियरिया, बतिया, मलिनिया, कनगुरिया, बरिनिया, नउनिया और अनुहरिया आदि *रेखांकित* शब्द क्रमशः उजियारी, बात, मालिन, कनगुरी, बारिन, नाउन और अनुहारि से बने हैं और ठेठ पूर्वी प्रयोगों के अंतर्गत आते हैं।

(इ) 'इया' की भाँति ही इसके अनुनासिक रूप 'इयाँ' के योग से बने हुए कुछ ऐसे रूप भी तुलसी की शब्दावली में मिलते हैं, जो विशेषतः लघुत्व का बोध कराने में प्रयुक्त हुए हैं। यह प्रवृत्ति भी ठेठ पूर्वी प्रयोगों से प्रभावित है। उदाहरणार्थ शिशु रूप

---

१ बरवै० ५ २ बरवै० ३२ ३ बरवै० ३७
४ रा० ल० न० ७ ५ बरवै० ३८ ६ रा० ल० न० ८
७ रा० ल० न० ८ ८ बरवै० ६

राम के वर्णन के अंतर्गत गीतावली की निम्नलिखित पंक्तियों में गोड़ियाँ, अँगुरियाँ, पहुँचियाँ, पैंजनियाँ, नथुनियाँ और चौतनियाँ आदि शब्द क्रमशः गोड़ (चरण), अगुरी, पहुँची, पैंजनी, नथुनी और चौतनी शब्दों से ही बने हैं, जो केवल शिशु रूप के अनुकूल छोटे आकार में होने का बोध कराते हैं। इनमें अनुनासिक ध्वनि का योग बहुवचन-रूपों का बोध कराने के लिए हुआ है।

छोटी छोटी *गोड़ियाँ अगुरियाँ* छबीली छोटी,
नख ज्योति मोती मानो कमल दलनि पर।[1]
किंकिनी कलित कटि हाटक जटित मनि,
मंजु कर कंजनि *पहुँचियाँ* रुचिर तर।[2]
अरुन चरन नख ज्योति जगमगति, रुनझुन करति पाँय *पैंजनियाँ*।[3]
रुचिर चिबुक रद अधर मनोहर, ललित नासिका लसति *नथुनियाँ*।[4]
भाल तिलक मसि बिंदु बिराजत, सोहति सीस लाल *चौतनियाँ*।[5]

वा, इया और इयाँ के योग से बने हुए उक्त रूपों की परंपरा रहीम और कबीर जैसे तुलसी के पूर्ववर्ती कवियों से सम्बन्धित कही जा सकती है, जैसा कि पहले संकेत किया गया है, कारण कि ऐसे प्रयोग उनकी रचनाओं में बराबर मिल जाते हैं। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। *रेखांकित* शब्द ध्यान देने योग्य हैं —

पीतम एक सुमिरिनियाँ मोहिं देइ जाहु।
जेहि जपि तोर *बिरहवा* करब निबाहु। (रहीम)
खेल ले *नैहरवा* दिन चार।
जहँवा से आयो अमर वह *देसवा*
साँईं मोर बसत अगम *पुरवा* जहँ गमन हमार। (कबीर)
भोरहि बोलि *कोइलिया* बढ़वति ताप।
घरी एक भरि *अलिया* रहु चुपचाप।
लैकै सुघर *खुरपिया* पिय के साथ। छइवे एक *छतरिया* बरसत पाथ॥
पीतम एक *सुमिरिनियाँ* मोहिं देइ जाहु। (रहीम)
पिय ऊँची रे *अटरिया* तोरी देखन चली।
ऊँचो *अटरिया* जरद *किनरिया*, लगो नाम की *डोरिया*। (कबीर)

अवधी के इन ठेठ पूर्वी रूपों के अंतर्गत एकआध सर्वनाम तथा क्रियाविशेषण-रूपों का निर्देश भी आवश्यक होगा, जिनका व्यवहार तुलसी की भाषा में केवल नाम मात्र के लिए हुआ है, किंतु जिनका उल्लेख विविधरूपता की दृष्टि से उचित होगा। ऐसे रूपों के अंतर्गत निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'तोहारा' (तुम्हारा), 'जहिआ' (जब) और 'तहिआ' (तब) उल्लेखनीय हैं।

---

१ गी० १, ३०   २ गी० १, ३०   ३ गी० १, ३१
४ गी० १, ३१   ५ गी० १, ३१

राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम *तोहारा*।[1]
भुज बल विस्व जितब तुम *जहिआ*। धरिहहि विष्नु मनुज तनु *तहिआ*।[2]

ब्रजभाषा

अवधी के पश्चात दूसरी महत्वपूर्ण बोली ब्रजभाषा है, जिसका प्रचुर समावेश तुलसी की भाषा को इतनी लोकप्रियता प्रदान कर सका है। कुछ रचनाओं को तो जान बूझकर कवि ने विशुद्ध ब्रजभाषा में ही प्रस्तुत किया है, जिस से अवधी के साथ साथ इस बोली के प्रति भी कवि की स्वाभाविक ममता एवं अभिरुचि स्पष्ट है। यही कारण है कि कवितावली, विनयपत्रिका, गीतावली आदि ऐसे ग्रंथों में ही नहीं, जो विशुद्ध ब्रजभाषा में रचित हैं, वरन् रामचरितमानस, जानकीमंगल और पार्वतीमंगल जैसी विशुद्ध अवधी-रचनाओं के अंतर्गत भी ब्रजभाषा-रूपों का व्यवहार उल्लेखनीय मात्रा में हुआ है। संक्षेप में हम ब्रजभाषा की ओर तुलसी की अभिरुचि जाग्रत करनेवाली प्रमुख परिस्थितियों का निर्देश करके, तब तुलसी की भाषा में उपलब्ध ब्रजभाषा प्रयोगों का विश्लेषण करेंगे।

तुलसी की पूर्वकालीन तथा समकालीन साहित्यिक परिस्थिति को देखते हुए हम स्पष्ट कह सकते हैं, कि ब्रजभाषा उस समय के हिंदी भाषाक्षेत्र के लगभग सभी कवियों में व्यापक रूप से काव्य-भाषा के रूप में प्रचलित थी।* जायसी-जैसे कुछ अवधी कवि इस परंपरा के अपवाद हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा को काव्यगत माध्यम के रूप में अपनाने की अभिरुचि नहीं दिखाई। राजस्थानी कवियों तक की रचनाएँ इस बोली के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकीं। पूर्वकालीन एवं तत्कालीन काव्य-भाषा-परंपरा को सुरक्षित रखने की भावना तुलसी-जैसे मर्यादावादी कवि में होनी बहुत स्वाभाविक थी अथवा यह भी माना जा सकता है कि वे इस संबंध में परिस्थिति के प्रभाव से स्वयं भी मुक्त न रह सके हों, और बहुत संभव है कि ब्रजभाषा के प्रसिद्ध सहज माधुर्य ने ही उनको अपनी ओर बरबस खींच कर अपने वातावरण में उन्हें लाकर कुछ काल के लिए अवधी की सीमा से बाहर आने को बाध्य कर दिया हो। इसके पीछे एक और महत्वपूर्ण बात उल्लेखनीय

---

१ रा० १, २८२ २ रा० १, १३१

* जब ब्रजभाषा में साहित्य बनने लगा, तो उसकी प्रसिद्धि और भी बढ़ी। दूर-दूर तक ब्रजभाषा-साहित्य पहुँचा। अहिंदी भाषी प्रांत भी मोहित हो गए। युक्त प्रान्त और मध्य प्रांत ही नहीं, गुजरात, काठियावाड़, दक्षिण भारत, बङ्गाल, उड़ीसा आदि सर्वत्र, भारत के कोने कोने में ब्रजभाषा के गीत गाए जाने लगे। बङ्गाल, उड़ीसा और गुजरात पर तो बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा। अनेक मैथिल, बङ्गाली, गुजराती और मद्रासी कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की। नरसी भक्त और नाम देव के ब्रजभाषा-पद आज भी महात्मा गांधी जैसे आत्माओं के आराध्य हैं। इन सब अहिंदी भाषाभाषी महात्माओं ने ब्रजभाषा में कविता करके उसे उ.. समय एक प्रकार से राष्ट्रभाषा ही स्वीकार कर लिया था।

है, जिसका संबध तुलसी की व्यक्तिगत प्रवृत्ति से है, न कि परिस्थितियों के प्रभाव से, वह यह कि तुलसी ने अपने पूर्वकालीन एव तत्कालीन कविता में प्रचलित सभी शैलियों में रचनाएँ की हैं, जैसे कवित्त, सवैया, चौपाई, दोहा, बरवा इत्यादि, इसी प्रवृत्ति को थोड़ा और व्यापक रूप में ग्रहण करें, तो यह कदाचित् सर्वथा उचित ही था कि वे अपने समय की पहले से चली आती हुई, एक मँजी हुई काव्य-शैली का प्रतिनिधित्व करने वाली बोली ब्रजभाषा को भी अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाएँ।

भाषावैज्ञानिक क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से देखें, तो ब्रजभाषा अवधी की बहुत ही समीपवर्ती बोली होने से कवि का ध्यान अपनी ओर खींच लेने में सर्वथा समर्थ थी और फिर उसे भी रामयश-गान द्वारा पवित्र कर लेने का निश्चय कर लेना भी तुलसी के लिए सर्वथा स्वाभाविक था। फिर, भगवान कृष्ण के जन्म और लीला भूमि से साक्षात् सबध रखने वाली ब्रजभाषा तो भक्त-कवियों को इतनी प्रिय रही है कि सूरदास से लेकर भारतेंदु हरिश्चद्र जैसे आधुनिक कवि तक इसके प्रति अपना मोह नहीं छोड़ पाए, तो तुलसी-जैसे भक्त कवि के हृदय में भी, इस भक्त-प्रिय ब्रजभाषा को स्थान मिलना सर्वथा स्वाभाविक और युक्तिसगत ही कहा जायगा।

इस विषय में एक बात और कही जा सकती है, वह यह कि ब्रजभाषा कतिपय विशेष काव्य शैलियों, जैसे कवित्त और सवैया आदि की स्वाभाविक गति से अधिक मेल खाती है। इस व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि ने भी तुलसी को न्यूनाधिक अंश में अवश्य ही प्रभावित किया होगा। संभवतः यही कारण है कि रामचरितमानस और बरवै जैसे ग्रंथों की अपेक्षा कवितावली में इसका व्यवहार अधिक मिलता है। गीतों के लिए भी अवधी की अपेक्षा ब्रजभाषा की उपयुक्तता परंपरा से सिद्ध है, और बहुत कुछ इसीलिये तुलसी के गीत-बहुल ग्रंथों, विनयपत्रिका, गीतावली और श्रीकृष्णगीतावली आदि में भी ब्रजभाषा का आधिक्य मिलता है।

यहीं पर यह भी सकेत कर देना अप्रासगिक न होगा कि तुलसी की श्रीकृष्ण-गीतावली ब्रजभाषा का सबसे ठेठ रूप उपस्थित करती है, और उसके मूल में उक्त ग्रन्थ का कृष्णपरक होना ही विद्यमान है, ठीक उसी प्रकार, जैसे अवधी में रचित रामचरितमानस का रामपरक होना। कविताओं में आये हुए कृष्णपरक स्थलों में भी ब्रजभाषा के अधिक ठेठ रूपों के व्यवहार की ओर कवि का झुकाव उक्त तथ्य की ओर भी अधिक पुष्टि कर देता है। स्पष्ट है कि विषय-तत्व के वातावरण के साथ अनुकूल भाषा द्वारा अधिक सजीवता एव स्वाभाविकता लाने की उपयोगिता समझते हुए ही तुलसी ने ऐसा किया है, यहाँ तक कि इनमें व्यवहृत मुहावरों और कहावतों की शब्दा-वली भी ब्रजभाषा की ठेठ बोलचाल से ग्रहण की गई है।

उपर्युक्त कारणों, परिस्थितियों एव व्यक्तिगत दृष्टिकोण के फलस्वरूप ब्रजभाषा की शास्त्रीय एव व्यावहारिक दोनों प्रकार की विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले रूपों का प्रयोग तुलसी की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में मिलेगा। सबमें अवधी के पश्चात् प्रयोग-बाहुल्य के विचार से इसी का स्थान है। अब हम क्रमशः व्याकरणिक प्रवृत्तियों तथा

ठेठ बोलचाल के रूपों के निर्माण से संबंधित विशेषताओं के प्रकाश में तुलसी की शब्दावली की छानबीन करेंगे।

(क) संज्ञाओं के ओकारान्त-रूपों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त बेरो, झगरो, डगरो, सारो तथा चारो इत्यादि—

नर तनु भव बारिधि कहुँ *बेरो*।[1]

बहु मत सुनि बहु पंथ पुरानन, जहाँ तहाँ *झगरो* सो।[2]

गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि, लगत राज *डगरो* सो।[3]

सुक सों गहबर हिये कह *सारो*।[4]

तुलसी और प्रीति की चरचा, करत कहा कछु *चारो*।[5]

(ख) ओकारान्त विशेषण-रूपों का व्यवहार—उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित* शब्द—

मेघनाद तें *दुलारो* प्रान तें *पियारो* बाग अति अनुराग जिय जातुधान धीर को।[6]

हरो चरहिं तापहि बरत, फरे पसारहि हाथ।[7]

हुतो न *साँचो* सनेह मिट्यो मन को संदेह हरि परे उघरि संदेसहु ठठई।[8]

मन जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर *साँवरो*।[9]

(ग) 'न' प्रत्यय के योग से विकारी बहुवचन संज्ञा-रूपों का निर्माण; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित* शब्द—

सुमिरत श्री *रघुबरन* की लीला लरिकाई।[10]

बिनु ब्रजनाथ ताप *नयनन* की, कौन हरै हरि अंतर कारे।[11]

तुलसिदास ब्रज *बनितन* को ब्रत, समरथ को करि जतन निवारे।[12]

फल *भारन* नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।[13]

(घ) कर्म व सम्प्रदान कारक के रूपों में 'को', 'कों' तथा 'कौ' परसर्गों का व्यवहार ब्रजभाषा में होता है। उनमें अधिक प्रादेशिक रूप 'कौ' का प्रयोग तुलसी की भाषा में नहीं मिलता। इसके स्थान में सर्वत्र 'को' तथा 'कों' का ही व्यवहार हुआ है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित* अंश—

तुलसी से *बाम को* भो दाहिनो दयानिधान,

सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साधको।[14]

तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम न तु, भेंट *पितरन* कों न मूड़हू में बार है।[15]

---

१ रा० ७, ४४ — २ वि०, १७३ — ३ वि० १७३

४ गी० २, ६६ — ५ गी० २, ६६ — ६ क० ५, २

७ दो० ५२ — ८ श्रीकृ० ३६ — ९ रा० १, २३६

१० गी० १, २७ — ११ श्रीकृ० ५७ — १२ श्रीकृ० ५७

१३ रा० ३, ४० — १४ क० ७, ६८ — १५ क० ७, ६७

"सिगरियै हौं ही खैहौं, बलदाऊ को न देहौं",
सो क्यौं भट्ट तेरो कहा कहि इत उत जात।[1]

(ङ) संबंध-कारक में भी 'को' परसर्ग का व्यवहार तुलसी ने बहुत से स्थलों पर संभवतः ब्रजभाषा-व्याकरण का अनुसरण करते हुए ही किया है। इनका प्रयोग रामचरितमानस-जैसे अवधी-बहुल ग्रंथों में न मिल कर कवितावली, गीतावली, विनय-पत्रिका और श्रीकृष्णगीतावली जैसे ब्रजभाषा-बहुल ग्रंथों में विशेष विस्तार से मिलेगा। अवधी-बहुल ग्रंथों में इसके कम मिलने का कारण यह है कि अवधी में 'को' के स्थान में 'का' अथवा 'के' परसर्ग संबंधकारक-रूपों में अधिक प्रचलित हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित* अंशों में देखे जा सकते हैं—

बासव बरुन बिधि बन तें सुहावनो, *दसानन को* कानन बसत *को* सिंगारु सो।[2]
धरम धुरीन धीर बीर *रघुबीर जू को*, कोटि राज सरिस *भरत जू को* राज भो।[3]
अगम सनेह भरत *रघुबर को*। जहँ न जाइ मनु *बिधि हरि हर को*॥[4]
पर उपकार सार *श्रुति को* जो, सो धोखेहु न बिचार्‌यो।[5]

(च) उत्तमपुरुष सर्वनाम के एकवचन का मूल रूप 'हौं' भी विशुद्ध ब्रजभाषा का है, जिसका प्रयोग तुलसी ने बहुत स्थलों पर किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित* स्थल :—

हौं मारिहउँ भूप द्वौ भाई।[6]
प्रनत पाल सेवक कृपालु चित, पितु पटतरहि दियो *हौं*।[7]
सेवक बस सुमिरत सखा, सरनागत सो *हौं*।[8]
गुन गन सीतानाथ के चित करत न हौं *हौं*।[9]

(छ) पुरुषवाचक सर्वनामों के संबंधकारक-रूपों के अंतर्गत मेरो, तेरो, हमारो, तिहारो आदि ओकारांत-रूप ब्रजभाषा से ही ग्रहीत होकर तुलसी की भाषा में आए हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं—

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख, जो चाहसि मन *मेरो*।
तो भजु राम काम सब पूरन, करै कृपानिधि *तेरो*॥[10]
पंछी परबस परे पींजरनि, लेखो कौन *हमारो*।[11]
कृपा-डोरि बंसी पद-अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम *तिहारो*॥[12]

(ज) निश्चयवाचक, प्रश्नवाचक तथा कुछ अन्य पुरुषवाचक सर्वनामों के संबंध-

---

१ श्रीकृ० २ — २ क० ५, १ — ३ गी० २, ३२
४ रा० २, २४१ — ५ वि० २०२ — ६ रा० ६, १७
७ गी० ३, १४ — ८ वि० १४८ — ९ वि० १४८
१० वि० १६२ — ११ गी० २, ६७ — १२ वि० १०२

कारक-रूप 'याकी', 'याके', 'याको', 'वाके' और 'काको' का व्यवहार। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के रेखांकित शब्द—

सुनु मैया तेरी सौं करौं *याकी* टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई।[1]
याके उए वरति अधिक अंग अंग दव, *वाके* उए मिटति रजनि जनित जरनि।[2]
देत अभिमत जो समेत प्रीति सेइये प्रतीति मानि तुलसी विचारि *काको* थरु है।[3]

उक्त सभी रूप विशुद्ध व्रजभाषा के हैं।

(क) संज्ञाओं, विशेषणों और सर्वनाम-रूपों की भाँति क्रियारूपों में भी ओकारान्त-रूपों का समावेश प्रचुर मात्रा में हुआ है, जो व्रजभाषा की क्रियाओं के प्रमुख लक्षणों में गिना जाता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों मे प्रयुक्त सँवारो, बिसारो, जगायो, भगायो और छरो—

जीवन जग जानकी लखन को मरन महीप *सँवारो*।[4]
काहे ते हरि मोहिं *बिसारो*।[5]
गोरख *जगायो* जोग भगति *भगायो* लोग
निगम नियोग ते सो केलि ही *छरो* सो है।[6]

(ख) भूतनिश्चयार्थ में व्रजभाषा के 'भो' 'हो' 'हुते' और 'हुतो' आदि रूप भी बराबर प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत सीमित है। इन प्रयोगों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

तीसरे उपास बनबास सिंधु पास सो समाज महाराज जू को एक दिन दान *भो*।[7]
नेकु विषाद नहीं प्रह्लादहि, कारन केहरि केवल *हो* रे।[8]
सब जाय सुभाय कहै तुलसी, जो न जानकी जीवन को जन *भो*।[9]
सींव न चापि सको कोऊ तव, जब *हुते* राम कन्हाई।[10]
हुतो न साँचो सनेह मिट्यो मन को संदेह हरि परे उघरि संदेसहु ठठई।[11]

'हुते' और 'हुतो' क्रमशः आधुनिक खड़ीबोली 'थे' और 'था' के अर्थ के द्योतक हैं।

बुंदेली

अवधी और व्रजभाषा के उपरांत बुंदेली बोली की दृष्टि से हम तुलसी की भाषा का विवेचन करेंगे, जो इन्हीं बोलियों की निकटवर्ती बोलियों में से एक है, और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत आती है। बुंदेली के अधिकांश व्याकरणिक लक्षण व्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं और कोई कोई तो यहाँ तक मानते हैं कि वास्तव में बुंदेली बोली व्रजभाषा से इतनी कम भिन्न है कि एक प्रकार से यह व्रजभाषा का

---

१ श्रीकृ० ८   २ श्रीकृ० ३०   ३ क० ७, १२१
४ गी० २, ६६   ५ वि० ६४   ६ क० ७, ८४
७ क० ५, ३२   ८ क० ७, ४८   ९ क० ७, ४२
१० श्रीकृ० ३२   ११ श्रीकृ० ३६

दक्षिणी रूप कहा जा सकता है।* तुलसी की भाषा में बुंदेली अपने प्रदेश में प्रचलित कुछ विशिष्ट बोलचाल के प्रयोगों के कारण स्वतंत्र महत्व रखती है। तुलसी की शब्दावली में प्राप्त बुंदेली× बोली के प्रयोगों का भेद केवल संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया-

---

* डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० १८

× बुंदेली बोली के प्रयोगों की खोज करने के पूर्व उसकी प्रमुख विशेषताओं का निर्देश कर देना आवश्यक होगा जिससे किसी प्रकार के भ्रम का अवकाश न रहे।

लिंग्विस्टिक सर्वे के अंतर्गत जार्ज ग्रियर्सन ने इस बोली की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—

१—ब्रजभाषा शब्दों में पाई जानेवाली 'ऐ' और 'औ' ध्वनियें बुंदेली में प्रायः 'ए' और 'ओ' रूप में मिलती हैं, जैसे ब्रज 'कैहौं', बुंदेली 'केहों', ब्रज 'और', बुंदेली 'ओर'। इस प्रवृत्ति के कारण बुंदेली के अनेक शब्द कुछ भिन्न दिखाई पड़ते हैं, जैसे में, वो, मरिहैं इत्यादि।

२—ब्रज में 'ड़' का प्रयोग होता है, किंतु बुंदेली में उसके स्थान में 'र' मिलता है, जैसे ब्रज, 'पड़ो' बुंदेली में 'परो' हो जायगा।

३—शब्दों के मध्य में पाया जाने वाला 'ह' बुंदेली में प्रायः नियमित रूप से लुप्त हो जाता है, जैसे ब्रज 'कही', बुंदेली 'कई'।

४—परसर्गों में कर्मकारक ब्रज 'को' के स्थान में बुंदेली के अंतर्गत 'खों' हो जाता है

५—अनुनासिक स्वरों का अधिक प्रयोग भी बुंदेली के विशेष लक्षणों के अंतर्गत गिना जाता है, यही कारण है कि ब्रजभाषा में प्रयुक्त मैं, तू, वौ के स्थान पर बुंदेली में, 'में' 'तूँ' तथा 'उँ' मिलेगा।

६—सर्वनामों में बुंदेली के अंतर्गत हमाओ, तुमाओ आदि रूप भी उल्लेखनीय हैं।

७—सहायक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के रूप में प्रयुक्त होने वाला 'ह' बुंदेली में प्रायः लुप्त हो जाता है।

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जि० ९, भाग १, पृ० ९१

इधर डा० धीरेन्द्र वर्मा अपनी पुस्तक ब्रजभाषा व्याकरण के अंतर्गत ब्रजभाषा और बुंदेली में पाई जाने वाली कुछ समानताओं का विश्लेषण करते हुए निम्नलिखित बातों का उल्लेख करते हैं—

१—खड़ीबोली की पुल्लिंग तद्भव संज्ञाएँ ब्रजभाषा और बुंदेली दोनों में ओकारांत हो जाती हैं, जैसे बुंदेली घोरो'।

२—संज्ञाओं के विकृत बहुवचन रूप बुंदेली में भी अन लगा कर बनते हैं, जैसे घोरन।

३—परसग ने, कों, से, सों को भी दोनों बोलियों में स्थान है।

४—सर्वनामों में मैं, तूँ, ऊँ रूपों को छोड़कर शेष समस्त रूप जैसे मो, तो, मोय, तोय, हम, तुम, वे, जे, विन, जिन आदि दोनों बोलियों में एक ही से हैं।

रूपों के एक सीमित क्षेत्र पर ही अपना प्रभाव रखता है, अतः केवल इन्हीं के आधार पर हम तुलसी की भाषा में उनकी खोज करेंगे। इस प्रभाव के कारण के संबध में इतना निर्देश पर्याप्त होगा कि तुलसी ही नही, वरन् प्रायः उनके अन्य सभी समकालीन कवियों की रचनाओं में, जिन्होंने व्रजभाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, बुंदेली का थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य मिल जाता है, और तुलसी का पर्यटनशील जीवन तथा उनका व्यापक जन-संपर्क इस प्रभाव को बढ़ाने में और भी समर्थ हुआ होगा।

बुंदेली-प्रयोगों के समावेश के मूल में एक और परिस्थिति महत्व रखती है, वह यह कि तुलसी का जन्मस्थान कहा जाने वाला राजापुर तथा उनका प्रसिद्ध निवास-स्थान चित्रकूट आदि स्थल बुंदेलखंड के निकटवर्ती प्रदेश में ही पड़ते हैं, अतः इस प्रदेश की बोली को उनकी शब्दावली में स्थान मिल जाना स्वाभाविक था।

दोनों बोलियों में कुछ रूप समान हैं, तथा कुछ स्थानों में दोनों बोलियों के रूपों का प्रचलन रहा है। ये दोनों परिस्थितियाँ भी इन बुंदेली प्रयोगों के विषय में कारण हो सकती हैं।

अस्तु, अब हम संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया के कुछ प्रमुख रूपों के विश्लेषण द्वारा तुलसी की शब्दावली में उक्त बुँदेली बोली के प्रयोगों का विवेचन करते हैं।

१—संज्ञा-शब्दों के अंतर्गत कई ऐसे शब्द तुलसी की रचनाओं में मिलते हैं, जो अवधी-जैसी तुलसी की सुपरिचित बोलियों में कदाचित ही कहीं प्रयुक्त होते हों, किंतु बुंदेली में उनका व्यापक रूप से व्यवहार होता है। यहाँ हम उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत सुपेती तथा कोपर को ले सकते हैं, जो क्रमशः अवधी क्षेत्र में प्रचलित 'दुलाई' (छोटी और हल्की रजाई) और 'परात' का बोध कराते हैं।

सुभग सुरभि पय फेन समाना। कोमल कलित *सुपेती* नाना ॥[1]

कनक कलस मनि *कोपर* रूरे।[2]

२—सर्वनामों में मध्यमपुरुषवाचक 'तूँ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका

५—पूर्वी व्रज में पाए जानेवाले सहायक क्रिया के 'हतौ' आदि रूप बुंदेली में साधारणतया मिल जाते हैं। कुछ प्रदेशों में आदि 'ह' का लोप हो जाने से ये केवल 'तो' आदि के रूप में परिवर्तित हो गए हैं।

६—दोनों बोलियों में, 'ह' औ 'ग' वाले भविष्य के रूप मिलते हैं।

७—'न' और 'व' के योग से बनने वाले क्रियार्थक संज्ञा के रूप भी दोनों में समान रूप से दिखाई पड़ते हैं। बुंदेली के पूर्वकालिक कृदन्त में 'य' नहीं लगता, किंतु यह प्रवृत्ति भी समस्त पूर्वी व्रजभाषा-प्रदेश मे व्यापक है।

व्रज और बुंदेली की तुलना द्वारा वर्मा जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन दोनों बोलियों में भेद ध्वनि समूह में विशेष है, व्याकरण के रूपों में उतना अधिक नहीं।

व्रजभाषा व्याकरण पृ० १६, २०।

१ रा० १, ३५६ २ रा० १, ३२४

व्यवहार यत्रतत्र तुलसी की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। इसकी अनुनासिक ध्वनि इसे विशुद्ध बुंदेली शब्दों के अंतर्गत ला रखती है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

तो को मो से अति घने मो को एकै तूँ।[1]
जननी तूँ जननी भई, विधि सन कछु न बसाइ।[2]
तूँ गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।[3]

३—सर्वनामों के ही अंतर्गत मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम का आदरार्थ एवं संबंधकारक रूप रउरें तथा रौरे, जिनका व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है, स्पष्टतः बुंदेली से ही लिए गए जान पड़ते हैं :—

पठये भरतु भूप ननिअउरें। राम मातु मत जानव रउरें॥[4]
जो सोचहि ससि कलहि सो सोचहि रौरेहि।[5]

४—क्रियारूपों में विशिष्ट भेदक लक्षणों के दृष्टिकोण से तुलसी की रचनाओं में प्रयुक्त केवल कतिपय क्रियाओं के वे ही रूप आते हैं, जो परोक्ष विधिकाल में प्रयुक्त हुए हैं, तथा जिन्हें किसी न किसी अंश में संभाव्य भविष्यकाल का रूप भी माना जा सकता है। इनके अंतर्गत निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत, डारिबी, पालिबी, धाइबी, गाइबी और कीबी आदि रूप उल्लेखनीय हैं—

लखन लाल कृपाल, निपटहि *डारिबी* न बिसारि।[6]
ए दारिका परिचारिका करि *पालिबीं* करुना नई।[7]
मेरिऔ सुधि *धाइबी* कछु करुन-कथा चलाइ।[8]
तुलसी सो तिहुँ भुवन *गाइबी* नंद सुवन सनमानी।[9]
तुलसी की बलि बार बार ही संभार *कीबी*, जद्यपि कृपानिधान सदा सावधानु है।[10]

५—उपर्युक्त '-इबी' के योग से बने हुए रूपों की भाँति '-इबो' प्रत्यय के योग से निर्मित रहिबो, सहिबो, देखिबो, बहिबो, लहिबो और दीबो जैसे कुछ अन्य क्रिया-रूपों को भी बुंदेली बोली के प्रभाव का द्योतक समझना चाहिए,* जिनका प्रयोग निम्नलिखित पक्तियों में हुआ है—

तौ लौं मातु आपु नीके *रहिबो*।
जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं; दिन दस और दुसह दुख *सहिबो*॥[11]
बैरि बृंद बिधवा बनितन को, *देखिबो* बारि-बिलोचन *बहिबो*।[12]

---

१ वि० १५०	२ रा० २, १६१	३ वि० ७८
४ रा० २, १८	५ पा० मं० ६१	६ गी० ७, २६
७ रा० १, ३२६	८ वि० ४१	९ श्रीकृ० ४८
१० क० ७, ८०	११ गी० ५, १४	१२ गी० ५, १४

* उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद तथा उसके निकटवर्ती स्थलों में इन रूपों का व्यवहार विशुद्ध भविष्यकालिक रूपों के अंतर्गत प्रश्नवाचक रूप में प्रचलित है।

सानुज सेन समेत स्वामि पद, निरखि परम मुद मंगल लहिबो ।[1]
नीके जिय की जानि अपनपो, समुझि सिखावन दीबो ।[2]

६—इन सामान्य प्रयोगों के अतिरिक्त कतिपय स्थलों में बुंदेली की उस प्रवृत्ति का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, जिसके अनुसार 'ड़' ध्वनि का 'र' में रूपान्तर हो जाता है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त परो (पड़ो), लराई (लड़ाई), खर्‌यो (खड़यो) इत्यादि शब्द, जिन पर बुंदेली का प्रभाव मानना असंगत न होगा—

बरन धरम गयो, आस्रम निवास तज्यो, त्रासन चकित सो परावनो परो सो है ।[3]
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल, द्वार परो गुन गावौं ।[4]
सपने जेहि सन होइ लराई[5]
तुलसि दास रघुनाथ कृपा को, जोवत पंथ खर्‌यो ।[6]

भोजपुरी

बुंदेली के पश्चात् हम तुलसी की भाषा में उपलब्ध उन प्रयोगों के विवेचन एवं विश्लेषण की ओर बढ़ते हैं, जो उस पर भोजपुरी बोली के समावेश अथवा उसके प्रभाव को सूचित करते हैं, किन्तु इसके पूर्व उन कारणों एवं परिस्थितियों को भी संक्षेप में स्पष्ट कर देना आवश्यक है जिनके फलस्वरूप तुलसी को अपनी रचनाओं के अंतर्गत इस बोली के प्रयोगों को भी स्थान देना स्वाभाविक हो गया होगा ।

१—पूर्वी उत्तर प्रदेश की यह बोली तुलसी की अत्यन्त परिचित बोली अवधी की सबसे निकटवर्ती बोली थी, इस लिए भाषावैज्ञानिक क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से इसका कुछ न कुछ समावेश उनकी भाषा में हो जाना अनजान में भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता ।

२—उनके काशी-निवास के आधिक्य के फलस्वरूप यह भी संभव है कि इस बोली के कुछ शब्द तुलसी की अपनी बोलचाल में इतने घुलमिल गए हों कि वे अपनी रचनाओं में भी उनके प्रभाव से अछूते न रह सके हों, अथवा अपनी सहज समन्वय-वृत्ति के कारण उन्होंने इस बोली के प्रयोगों को भी स्थान देना उचित समझा हो ।

जहाँ तक व्याकरण तथा बोलचाल की ठेठ प्रयोग परम्परा का सम्बन्ध है, भोजपुरी अवधी से बहुत अंशों में मिलती जुलती है । अत्र उनके प्रमुख भेदक लक्षणों*

---

१ गी० ५, १४	२ श्री कृ० ३५	३ क० ७, ८४
४ वि० २३२	५ रा० ४, ७	६ वि० २३६

* भोजपुरी के प्रमुख भेदक लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१—उसके क्रियारूपों में लकार का बाहुल्य । २—इसके अंतर्गत आदरार्थ मध्यम-पुरुषवाचक सर्वनाम के रूप में राउर, रावरो, रावरी, रावरे आदि रूपों का व्यवहार । ३—स्थलवाचक क्रियाविशेषणों के रूप में जहवां, तहवां जैसे रूपों का प्रयोग ।

के आधार पर तुलसी की भाषा में उपलब्ध भोजपुरी प्रयोगों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

१—लकार के बाहुल्य से युक्त क्रियारूप, उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त सरल (सड़ा हुआ), दिहल (दिया) तथा धायल (दौड़ा)—

बाँस पुरान साज सब अटखट *सरल* तिकोन खटोला रे।[१]
हमहि *दिहल* करि कुटिल करम चंद मंद मोल बिनु डोला रे।[२]
सठहु सदा तुम मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पर *धायल*॥[३]

२—आदरार्थ मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम-रूप 'राउर', रावरी, रावरे, रावरो आदि रूपों का व्यवहार। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के *रेखांकित* अंश—

जौं *राउर* आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं।[४]
कहँ *राउर* गुन सील सरूप सुहावन।
कहाँ अमंगल बेषु बिसेषु भयावन॥[५]
मुनि कह चौदह भुवन फिरउँ जग जहँ जहँ।
गिरिवर सुनिय सरहना *राउरि* तहँ तहँ॥[६]
मेरी तौ थोरी ही है सुधरैगी बिगरियो बलि, राम *रावरी* सों रही *रावरी* चहत।[७]
मेरे बिसेषि गति *रावरी* तुलसी जाके सकल अमंगल भागें।[८]
रावरे दोष न पायन को पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।[९]
खोटो खरो *रावरो* हौं *रावरों* सौं, *रावरे सों* झूठ क्यों कहौंगो जानौ सब ही के मन की।[१०]

३—जहवाँ, तहवाँ का व्यवहार स्थानवाचक क्रियाविशेषण के रूप में भोजपुरी के ही प्रभाव का द्योतक है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति में :—

करि सोइ रूप गयउ पुनि *तहवाँ*। बन असोक सीता रह *जहवाँ*॥[११]

४—निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त लोइ तथा लोई, जिसका अर्थ आधुनिक खड़ीबोली में प्रचलित 'लोग' है, का व्यवहार भी स्पष्टतः भोजपुरी का है। इसका व्यवहार आजकल भी 'लोगी' के रूप में कहीं-कहीं देखा जाता है—

---

१ वि० १८६ २ वि० १८६ ३ रा० ६, ६७
४ रा० १, २१८ ५ पा० मं० ६० ६ पा० मं० ६६
७ वि० २५६ ८ गी० १, १२ ९ क० २, ७
१० वि० ७५ ११ रा० ५ ८

व्यावहारिक दृष्टि से तुलसी की रचनाओं में भोजपुरी प्रयोगों की छानबीन के लिए उक्त विशेषताएँ पर्याप्त होंगी। अधिक विस्तार में जाना अनावश्यक होगा।

तेज होत तन तरनि को, अचरज मानत लोइ।
तुलसी जो पानी भया, बहुरि न पावक होइ॥[1]
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब लोई॥[2]
सुमन बृष्टि अकास ते होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई॥[3]

५—इसी प्रकार 'सूतहि' का सोते हैं के अर्थ में व्यवहार भी भोजपुरी के प्रभाव का सूचक है। 'सोने' के अर्थ में 'सूतना' धातु का प्रयोग आज भी इस बोली के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है, जैसे क्रियारूपों में 'सूतल' आदि। विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्ति में इसका व्यवहार द्रष्टव्य है :—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै।[4]

खड़ीबोली

खड़ीबोली का व्यापक प्रचलन बहुत आधुनिक होने पर भी उसका कुछ न कुछ समावेश बहुत प्राचीन काल से हिंदी-कवियों की रचनाओं में बराबर खोजा जा सकता है और तुलसी भी इस परपरा के अपवाद न थे। उनमें भी इसका थोड़ा किंतु बहुत खुला हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है, जैसा आगामी विश्लेषण से स्पष्ट होगा, किंतु विश्लेषण के पूर्व जिन प्रमुख परिस्थितियों में इस बोली के प्रयोगों का प्रवेश तुलसी की कृतियों में संभव हो सका, उनका भी संक्षिप्त विवेचन आवश्यक होगा।

साहित्यिक परपरा के दृष्टिकोण से विचार करें, तो हिंदी-साहित्य के खुसरो और कबीर आदि कवियों के काल से ही खड़ीबोली के रूपों का प्रयोग मिलने लगता है। खुसरो की—

'अलि वह अलबेला यार मेरा अकेला' तथा

'एक नारि ने अचरज किया, साँप मार पिंजरे में दिया' आदि पंक्तियाँ—तथा कबीर की—

'माला फेरत जुग गया, फिरा न मन का फेर।
कर का मनका छोड़ के, मन का मनका फेर॥'

जैसी पंक्तियाँ खड़ीबोली के प्राचीन उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

भाषावैज्ञानिक क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से खड़ीबोली, ब्रजभाषा की निकटवर्ती बोली है। अतः तुलसी जैसे पर्यटनशील और समन्वयवादी कवि की भाषा में इस बोली के प्रयोगों का समावेश हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

---

१ वै० सं० ४५   २ वै० सं० ४०   ३ रा० १, ६१४
४ वि० ११६

खड़ीबोली आजकल भारत की राष्ट्रभाषा हो गई है, इसलिए इसका रूप बहुत व्यापक हो गया है और इसके लक्षणों से अधिकाश लोग परिचित ही हैं, फिर भी इस बोली के प्रादेशिक एव मौलिक रूप में पाए जाने वाले भेदक लक्षणों* के प्रकाश में तुलसी की शब्दावली की छानबीन करते समय इतना ध्यान अवश्य होना चाहिए, कि तुलसी की रचनाएँ जिस काल में हुई, उस समय की खड़ीबोली का स्वरूप आज की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित था और इसलिए तुलसी की भाषा में इस बोली के रूपों का समावेश बहुत अल्प मात्रा में ही होना संभव था।

तुलसी की भाषा में खड़ीबोली के रूपों की खोज करने से पता चलता है कि वे इतने प्राचीन काल से प्रयुक्त होने पर भी अपनी प्रादेशिक रूप-रचना से नहीं, वरन् उस व्यापक रूप-रचना से मेल खाते हैं, जो आधुनिक खड़ीबोली में प्रचलित है, जैसा आगामी विश्लेषण तथा उदाहरणों से सिद्ध हो जायगा। इनमें कतिपय सर्वनाम, परसर्ग, क्रिया एव कृदत के रूप विशेष महत्व रखते हैं। सक्षेप में क्रमशः इनका विश्लेषण किया जाता है।

१—सर्वनामों के अतर्गत अन्यपुरुष एकवचन में, खड़ीबोली का अत्यन्त व्यापक एव प्रचलित रूप 'वह' मिलता है। इसका व्यवहार तुलसी ने सभवतः एक आध स्थलों पर ही किया है, जैसे बरवै रामायण की निम्नलिखित पक्तियों में—

---

* खड़ीबोली के प्रादेशिक रूप के कुछ प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

१—संज्ञाओं के विकृत रूप बहुवचन में 'ओं' या 'ऊँ' लगता है जैसे घोड़ों, घरूँ।

२—परसर्गों में कर्ता कारक का ने, कर्म कारक का 'को', करण कारक और अपादान कारक का से', संबन्ध कारक का 'का, के, को', तथा अधिकरण कारक का 'में, पर का प्रयोग खड़ीबोली की सामान्य विशेषताएँ हैं। कर्म संप्रदान 'नू' पश्चिमी खड़ीबोली के प्रदेश में पंजाबी प्रभाव के कारण पाया जाता है।

३—सर्वनामों के रूपों में मैं, तुम, मुज, मुझ, तुझ, मेरा, हमारा, म्हारा, तेरा, तुम्हारा, थारा, वो, विस, उस और विन उल्लेखनीय हैं।

४—सहायक क्रिया के वर्तमानकाल के रूप 'है' के ही आधार पर बनाए जाते हैं, किन्तु भूतकाल में 'था' आदि रूप मिलते हैं।

५—वर्तमान तथा भूत कालिक कृदन्त 'ता' और 'आ' लगाकर बनते हैं, जैसे चलता, चला।

६—क्रियार्थक संज्ञा 'णा' लगाकर बनती है, जैसे चलणा।

७—भविष्यकालिक रूप 'गा' लगाकर बनते हैं, जैसे चलूँगा।

८—संयुक्त काल बनाने के लिए खड़ीबोली में प्राय सभावनार्थ के रूपों में सहायक क्रियाएँ लगती हैं, जैसे मारूँ हूँ, मारूँ था, यद्यपि 'जाता है' आदि रूप भी प्रयुक्त होते हैं। देखिए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : व्रजभाषा व्याकरण पृ० २३, २४।

सिय मुख सरद कमल सम किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥[1]

२—अन्य प्रकार के सर्वनाम रूपों के अंतर्गत अधिकांश तो ऐसे हैं, जो ब्रज और अवधी में भी बराबर प्रयुक्त होते हैं, किंतु केवल खड़ीबोली में विशेषरूप से व्यवहृत होने वाले रूपों में तेरी, तेरे, मेरी, मेरे, हमारे, तुम्हारा, हमारा, आदि रूप उल्लेखनीय हैं—उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्द—

सुन मैया *तेरी* सौं करौं याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई।[2]
होहिं बिबेक बिलोचन निर्मल सुफल सुसीतल *तेरे*।[3]
मन *मेरे* मानहि सिख *मेरी*। जो निजु भगति चहै हरि केरी ॥[4]
प्रातकाल रघुबीर बदन छबि, चितै चतुर चित *मेरे*।[5]
गुरु बसिष्ट कुल पूज्य *हमारे*।[6]
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहि होय *तुम्हारा* ॥[7]
अजहूँ मानहु कहा *हमारा*। हम तुम्ह कहुँ बरु नीक बिचारा ॥[8]

३—क्रिया-रूपों के अन्तर्गत निम्नलिखित रूपों में प्रयुक्त 'देखो', 'किया', 'आया', 'मचा' और 'करती हैं' आदि रूप विशुद्ध आधुनिक खड़ीबोली में व्यवहृत होने वाले रूप हैं। ऐसे कुछ रूपों का इतने प्राचीन काल से, अपने उसी रूप में, बिना किसी विकास एवं परिवर्तन के, बने रहना, भाषावैज्ञानिक दृष्टि से महत्व का विषय है। उदाहरणार्थ—

देखो रघुपति छबि अतुलित अति।[9]
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु *किया*।[10]
नष्टमति, दुष्ट अति, कष्टरत खेदगत दास तुलसी शंभु शरण *आया*।[11]
अति कोप सों रोप्यो है पाँव सभा सब लंक ससंकित सोर *मचा*।[12]
सरनागत आरत प्रनतनि को, दै दै अभय पद ओर निवाहें।
करि आई, करिहैं, *करती हैं*, तुलसिदास दासन पर छाहें ॥[13]

निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत कीजिए, लीजिए, आए, भया, गई तथा 'देखे हैं,' 'सुने हैं', और 'बूझे हैं' आदि पर भी खड़ीबोली का थोड़ा-बहुत प्रभाव माना जा सकता है—यथा—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु *लीजिए*।[14]
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद *कीजिए* ॥[15]

---

१ बरवै० ३ — २ श्रीकृ० ८ — ३ गी० ७, १२
४ वि० १२६ — ५ गी० ७, १२ — ६ रा० ७, ८
७ वि० १२५ — ८ रा० १, ८० — ९ गी० ७, १७
१० रा० १, ९८ — ११ वि० १० — १२ क० ६, १५
१३ गी० ७, १३ — १४ रा० ४, १० — १५ रा० ४, १०

तुलसी जो पानी *भया*, बहुरि न पावक *होइ*।[1]
बिछुरत श्री ब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति *गई*।[2]
देखे हैं अनेक व्याह, सुने हैं पुरान बेद, बूझे हैं सुजान साधु नर नारि पारखी।[3]

४—कृदत-रूपों के अतर्गत निम्नलिखित पक्तियो मे व्यवहृत 'लेना' व 'देना' का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार के अन्य विशुद्ध खड़ीबोली के कृदत-रूप कदाचित् ही तुलसी की रचनाओं में अन्यत्र उपलब्ध हो सकें।

झूठइ *लेना* झूठइ *देना*। झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥[4]

इन बोलियों के अतिरिक्त बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियों के प्रयोग भी तुलसी की शब्दावली में खोजे जा सकते हैं, किंतु उनमें से अधिकांश का पर्याप्त प्रचलन साथ ही साथ बुदेली में भी मिलने के कारण उन्हें बुदेली प्रयोगों के अतर्गत ही रखना अधिक उचित समझा गया है। उदाहरणार्थ कोपर (परात) और सुपेती जैसे बघेली और छत्तीसगढ़ी के शब्द बुदेली में भी बराबर प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः तुलसी का निवास और पर्यटन बुदेली क्षेत्र में अधिक रहा है। अतः ऐसे प्रयोगों का परिचय उन्हें बुदेली के सपर्क से होना अधिक सभव है।

ऐसे शब्द, जिन्हे बुँदेली से भिन्न केवल बघेली या छत्तीसगढी का ही कहा जाय, बहुत कम मिलेंगे। प्रसगवश निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'सुआर' (रसोइया) और 'बागत' (घूमते फिरते) शब्द की चर्चा की जा सकती है, जो बघेली में बहुत प्रचलित हैं :—

छन महुँ सब कें परुसि गे चतुर *सुआर* बिनीत।[5]
परुसन लगे *सुवार*, बिबुध जन सेवहि।[6]
जागत *बागत* सपने न सुख सोइहै।[7]
जागत सोवत बैठे *बागत* बिनोद मोद,
ताकै जो अनर्थ सो समर्थ एक आक को।[8]

इसी प्रकार 'पुराने' के अर्थ में प्रचलित 'जून' शब्द भी, जिसे हमने गुजराती प्रयोगों में रखा है, विशुद्ध छत्तीसगढ़ी प्रयोगों के अतर्गत लिया जा सकता है।

तुलसी की शब्दावली का विश्लेषण करते समय बीच-बीच में उक्त विविधरूपता में निहित कवि के उद्देश्य तथा आदर्श एव परिस्थिति के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, अतः उसके सबध में भी यहाँ पर समग्र रूप से इतना ही सकेत कर देना उपयुक्त होगा कि कवि का समन्वयवादी दृष्टिकोण, उसके विशाल पर्यटन, उसके व्यापक

---

१ वै० सं० ५८ | २ श्रीकृ० २४ | ३ क० १, १५
४ रा० ७, ३६ | ५ रा० १, ३२८ | ६ पा० मं० १५३
७ वि० ६८ | ८ क० उ० ब०, १२

अध्ययन से प्रसूत बहुमुखी ज्ञान, पूर्वकालीन एवं तत्कालीन काव्य-भाषा-परंपरा का निर्वाह तथा यथासंभव सभी प्रचलित एवं परिचित भाषाओं, बोलियों एवं शैलियों को राम-यशगान द्वारा पवित्र करने की भावना और उन सभी में अपनी मौलिक प्रतिभा की जाँच करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा कहीं-कहीं पर केवल कुतूहल और मनोविनोद की सृष्टि का प्रयत्न, यही बातें संक्षेप में उक्त विविधरूपता के मूल में विद्यमान हैं।

जहाँ तक तुलसी द्वारा प्रयुक्त शब्द-संख्या का संबंध है, उसके विषय में यहाँ पर हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं, किंतु केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि योरोपीय साहित्य के अंतर्गत कवियों की शब्द-संख्या की गणना द्वारा कवि के भाषाधिकार के मूल्यांकन के बड़े सुन्दर प्रयास हुए हैं। शेक्सपियर के सभी ग्रंथों में कुल पंद्रह हजार, मिल्टन की रचनाओं में सात आठ हजार, होमर के काव्यों में लगभग नौ हजार, इन्जील के पुराने भाग (टेस्टामेंट) में पाँच हजार छः सौ बयालीस और नये में चार हजार आठ सौ शब्दों का व्यवहार हुआ है।* परन्तु भारतीय साहित्य में ऐसे प्रयत्नों का अभाव अवश्य ही खटकने वाली बात है। तुलसीदास-जैसे अपूर्व भाषाधिकार-संपन्न महाकवि की शब्द-संख्या के सम्बन्ध में हमारी कोई निश्चित जानकारी न होना हमारे अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी कमी का परिचायक है, जिसकी पूर्ति होना आवश्यक है।

इस आवश्यकता की पूर्ति का एक ही अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है—तुलसी कोष का निर्माण,** क्योंकि इसके सम्पन्न हो जाने पर तुलसी की शब्द-संख्या का ठीक-ठीक निश्चय हो सकेगा, और हम इस बात का पता लगा सकेंगे कि तुलसी ने कितने शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी रचनाओं को अमर बनाया। साथ ही अन्य प्रमुख पाश्चात्य एवं प्राच्य कवियों की शब्द-संख्या के साथ तुलसी की शब्द-संख्या की तुलना भी अत्यंत रोचक होगी।

आधुनिक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के क्षेत्र में तुलसी की भाषा में उपलब्ध नियमों की आंशिक उपयोगिता का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसके विषय में भी पीछे तुलसी की शब्दावली का विश्लेषण करते समय कुछ नियमों की भाषावैज्ञानिक विशेषताओं का निर्देश किया जा चुका है। उस पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर तुलसी की एक अत्यंत मूल्यवान देन की ओर हमारा ध्यान जाता है, वह है तुलसी की भाषा की प्रयोगशाला में प्रचलित वह शब्द-निर्माण प्रणाली, जो यत्रतत्र मूल शब्दों

---

*देखिए डॉ० बाबूराम सक्सेना 'सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १०८

**हर्ष का विषय है कि प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडमी द्वारा 'तुलसी शब्दसागर' के रूप में इस कार्य की आंशिक पूर्ति हो चुकी है जिसके अनुसार तुलसी ने अपनी समस्त कृतियों में लगभग २२००० शब्दों का प्रयोग किया है। इस ग्रंथ में 'तुलसी-सतसई' की शब्द-संख्या भी जोड़ी गई है। प्रस्तुत प्रबन्ध जिस समय लिखा गया था उस समय उक्त कोश-कार्य पूर्ण नहीं हो पाया था।

की तत्समता से तद्भवता की ओर झुकती रही है। इस प्रवृत्ति पर बल देने के लिए कितने ही ऐसे सजीव एवं प्रभावशाली शब्दों तथा मुहावरों को गढ़ने में, जो जनभाषा के प्रवाह के अनुरूप दिखाई पड़े, तुलसी ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। हाँ! इतनी बात अवश्य है कि उन्होंने इस क्षेत्र में भी एकांगी दृष्टिकोण का अनुसरण न करते हुए, अपनी सहज समन्वय-वृत्ति के अनुकूल मूल रूपों को भी पूरा आदर दिया है, और उनसे गढ़े हुए नवीन रूपों अथवा उन्हीं से प्रसूत परिवर्तित रूपों का प्रयोग बेखटके होते हुए भी, उनमें कहीं पर भी मूल रूपों के प्रति तिरस्कार की गंध तक नहीं आती। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी उनकी देन हमारे समक्ष अपनी संतुलित विशेषता के साथ उपस्थित होती है, और एक उत्कृष्ट प्रणाली की प्रतिष्ठा करती है।

चतुर्थ अध्याय

कला-पक्ष

साधारण प्रचलित अर्थ में कला-पक्ष के अंतर्गत काव्यगत रमणीयता के संपूर्ण तत्व का विवेचन आ जाता है, किंतु किसी कवि की भाषा का कला-पक्ष केवल उन्हीं विषयों से अपना संबंध स्थापित करता है, जो किसी-न-किसी अंश में उसकी भाषा में उपलब्ध विविध प्रयोगों की रमणीयता को अभिव्यक्त करते हैं। इसके सीमित क्षेत्र के भीतर भावव्यंजना, चित्रांकण, सौंदर्यानुभूति, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं प्रबंध-निर्वाह की क्षमता इत्यादि अनेकानेक ऐसी बातों को, जिनका कोई सीधा संपर्क कवि के भाषा-तत्व से नहीं जुड़ पाता, कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। यहाँ पर सब प्रकार से भाषा को ही एक व्यापक एवं सुसंगठित-शक्ति तथा एक बहुमुखी सुषमा एवं सजीवता प्रदान करने वाली कवि-प्रतिभा की छानबीन का प्रयत्न अभिप्रेत है।

भाषा के कला-पक्ष के अंतर्गत आनेवाली सारी विशेषताओं को अध्ययन की सुविधा के लिए हम दो वर्गों में रख सकते हैं:—

(१) काव्यशास्त्रीय कला-पक्ष।

(२) सामान्य कला-पक्ष।

काव्यशास्त्रीय कला-पक्ष के अंतर्गत काव्यशास्त्र के भाषाविषयक निर्दिष्ट अंगों अर्थात् शब्दशक्ति, गुण, रीति, अलंकार और दोष आदि तथा सामान्य कलापक्ष के अंतर्गत वाक्चातुर्य, वर्ण-मैत्री, शब्द-मैत्री, शब्द मर्यादा, नाद-सौंदर्य तथा मुहावरों एवं लोकोक्तियों का माधुर्य इत्यादि बातें प्रमुख रूप से आती हैं। इन्हीं तत्वों के प्रकाश में वर्ण, शब्द और वाक्य आदि प्रमुख भाषावयवों को ध्यान में रखते हुए कवि के प्रयोग-कौशल की जाँच यहाँ पर अपेक्षित है। इन द्विविध वर्गों के आधार पर हम कवि की भाषा में प्राप्त परंपरागत एवं मौलिक दोनों प्रकार की मान्यताओं के अनुसंधान द्वारा उसके शास्त्रीय महत्व एवं सामान्य विकास-भूमि का विवेचन एव विश्लेषण करेंगे।

कवि के काव्यक्षेत्र के सकोच अथवा विस्तार तथा उसकी साहित्यिक प्रौढ़ता की मात्रा के अनुसार ही उसकी भाषा के कलापक्ष का स्वरूप भी अपनी शास्त्रीय एवं सामान्य दोनों दिशाओं में परिवर्तित होता रहता है। साथ ही सामयिक एवं ऐतिहासिक धारणाओं की परंपरा भी विभिन्न देश, काल तथा परिस्थिति में रचना करने वाले कलाकारों के भाषाविषयक दृष्टिकोण को विभिन्न मानदंडों के आधार पर परखने को बाध्य कर सकती है। उदाहरणार्थ चन्दबरदाई, तुलसीदास, सूरदास, केशवदास और बिहारी लाल आदि पुरानी परिपाटी के कवियों की भाषा में ऐसी बहुत सी शास्त्रीय एवं सामान्य कला-पक्ष से संबंधित सूक्तों और चमत्कारों का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है,

जिन्हें नवीन परिपाटी के आधुनिक कवि जयशकर प्रसाद, सुमित्रानदन पत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा आदि कोई महत्व नहीं देते। केशव के, 'भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त', तथा पंत के, 'वाणी मेरी चाहिए, तुम्हें क्या अलकार' की तुलना इसी प्रकार के अतर की ओर स्पष्ट इगित करती है। दोनों परिपाटी के कवियों की भाषा को सर्वथा एक ही मानदंड पर रखकर उसके कलापक्ष के विषय में कोई भी निर्णय करना सदेह एव भ्रान्ति की ही सृष्टि करेगा। वैसे तो यह बात सामान्यतः भाषा के सभी पक्षों पर लागू होती है, किंतु इस पक्ष पर सबसे अधिक।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि तुलसी हिंदी-कवियों की उस पुरानी परिपाटी में आते हैं, जिसके समय एक ओर तो पूर्ववर्ती संस्कृत-काव्याचार्यों की शास्त्रीय व्यवस्था तत्कालीन विदेशी मुसलमानों की कला के वातावरण में सांस ले रही थी, और दूसरी ओर लोकभाषा-कवियों की स्वच्छद एव अनियमित परपरा तत्कालीन हलचल के प्रभावों से बहुत कुछ दूर रहते हुए अपनी स्वाभाविक गति को बनाए रखने का प्रयत्न कर रही थी। ऐसी अवस्था में तुलसी के समक्ष उपस्थित भाषा के कलापक्ष का स्वरूप कितना जटिल रहा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। इस परिस्थिति में भी जिस अद्वितीय कौशल के साथ उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा के कला-पक्ष को तीव्र उत्कर्ष प्रदान किया है, वह उनकी तीखी एव सारग्राहिणी मेधाशक्ति तथा उनके विशाल व्यावहारिक ज्ञान एव अनुभव का ही परिचायक है। परंतु उनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष, उनकी भाषा के कलात्मक विकास के उपस्थित रहते हुए भी, इस विषय में उनकी अपनी व्यक्तिगत धारणा जिस रूप में अभिव्यक्त हुई है, और जिस उद्देश्य अथवा तात्पर्य की ओर सकेत करती है, उसका स्पष्टीकरण आवश्यक होगा।

तुलसी अपनी दो रचनाओं के अंतर्गत आत्मपरिचय देते हुए, कला पक्ष के (जो अपने व्यापक अर्थ में भाषा के कलापक्ष को भी समेट लेता है।) विषय में अपनी हीनता एव अयोग्यता का प्रकाशन करते हुए कहते हैं :—

कबित रीति नहिं जानउ कबि न कहावउँ।[1]
भाषा भनिति भोरि मति मोरी।[2]
कबि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू।[3]
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।[4]
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।[5]
कबित बिबेक एक नहि मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।[6]

उपर्युक्त पक्तियों का साराश यह है कि तुलसी अपने को काव्य की सारी रीतियों, वाक्चातुर्य, अलकार, दोष, गुण आदि से अनभिज्ञ बताते हैं। वे अपने में कवित्व

---

१ पा० मं० ३   २ रा० १,६   ३ रा० १,६
४ रा० १,६   ५ रा० १,६   ६ रा० १,६

का विवेक न होने की घोषणा कोरे कागज पर लिखकर करते हैं। तथापि आगे चलकर भगवान शंकर की कृपा से हृदय में 'सुमति' के विकसित होने पर वे अपने भीतर कवि के व्यक्तित्व के विकास का अनुभव अवश्य करते दिखाई देते हैं, जिसका संकेत रामचरितमानस की निम्नलिखित पंक्ति में विद्यमान है—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी ॥[1]

किंतु इस प्रकार 'कोरे कागज' पर लिख कर अपनी कलापक्ष-विषयक अज्ञता तथा अयोग्यता की उपर्युक्त घोषणा और शंभु की कृपा से अपने भीतर कवित्व के आविर्भाव की अनुभूति तुलसी के आत्म-दैन्य की तथा साथ ही कला के क्षेत्र में भी आध्यात्मिक प्रेरणा की ही द्योतक है, क्योंकि आगे चल कर रामचरित-मानस के रूपक की व्याख्या करते हुए, अपने ग्रंथ के कला-पक्ष के जिन अंगों की ओर उन्होंने संकेत किया है, उनसे उनकी काव्यशास्त्रीय अभिज्ञता का भली भाँति परिचय हो जाता है, वे कहते हैं :—

राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम ॥[2]
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ॥[3]
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा ॥[4]
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥[5]
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो ॥[6]

इसके अतिरिक्त मंगलाचरण में ही वे कह चुके हैं—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।[7]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसी कला-पक्ष के सभी अंगों से लगभग पूर्ण परिचित थे, और उनकी रचनाओं में बिखरे हुए कलात्मक प्रयोग उनकी इस कलाविज्ञता की यथेष्ट पुष्टि कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में, जैसा पीछे कहा जा चुका है, उनकी उन सारी उक्तियों को, जो इस तथ्य का विरोध करती हुई-सी प्रतीत होती हैं अपने स्वाभाविक कार्पण्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का सूचक मानना ही युक्तिसंगत होगा। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उक्तियों के द्वारा कवि ने तत्कालीन कलाविषयक मान्यताओं की ओर संकेत करने का प्रयत्न किया है।

अस्तु, अपनी नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा तथा अपने व्यापक ज्ञान एवं अध्ययन के बल पर तुलसी अपनी रचनाओं के अंतर्गत अनेक स्थलों पर भाषा के काव्य-शास्त्रीय एवं सामान्य कलापक्ष के विविध अंगों का, इतनी अधिक मात्रा में समावेश करने में सफल हुए हैं, जिनकी रमणीयता के बीच में यत्र-तत्र उपलब्ध दोष भी गुणों के समान

---

१ रा० १,२६ २ रा० १,३७ ३ रा० १,३७
४ रा० १,३७ ५ रा० १,३७ ६ रा० १,३७
७ रा० १, प्रारम्भिक श्लोक ७

जान पड़ते हैं। उनकी सारी कार्पण्योक्ति एक ओर तो उनके सर्वदा अहंकारहीन व्यक्तित्व की परिचायिका है, जो एकमात्र भागवत स्रोत के आध्यात्मिक वातावरण से ही जीवन के समस्त क्षेत्रों में प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त करती है, और दूसरी ओर वह पूर्वकालीन एवं तत्कालीन महान कवियों की सामान्य मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।[1]

काव्यशास्त्रीय पक्ष

तुलसी की कलाविषयक सामान्य धारणा का संकेत करने के पश्चात् हम उनकी भाषा के शास्त्रीय कलापक्ष के विवेचन की ओर अग्रसर होते हैं। वस्तुतः शास्त्रीय कलापक्ष के भीतर काव्यशास्त्र और छंदशास्त्र आदि लक्षण-ग्रंथों में परिगणित उन सारी ही बातों का समावेश हो जाता है, जिनका भाषा की शक्ति के साथ किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी मात्रा में सम्बन्ध जुड़ सके, जैसा पीछे निर्देशित किया जा चुका है। किंतु इन सबका विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण करने का यहाँ पर न तो अवकाश ही है, न विशेष आवश्यकता ही। अवकाश इसलिए नहीं कि जहाँ पर हम कवि की भाषा के सम्पूर्ण क्षेत्र के सारे पक्षों का उद्‌घाटन कर रहे हैं, वहाँ इस एक पक्ष पर बहुत सीमित रूप में ध्यान दे सकते हैं और विशेष आवश्यकता इसलिए नहीं जान पड़ती कि तुलसी की भाषा का यही एक पक्ष है, जिस पर, भाषा के अन्य पक्षों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में (पूर्ववर्ती आलोचना-साहित्य में नहीं, तो कम-से-कम हिंदी लक्षण-ग्रन्थों तथा तुलसी की कृतियों की टीकाओं में उद्धृत उदाहरणों के रूप में ही सही) कार्य हो चुका है। अतः अपने विवेचन के अंतर्गत पिष्टपेषण को बचाने के लिए भी हम भाषा के इस शास्त्रीय कलापक्ष का अधिक विस्तार उचित नहीं समझते। उक्त दोनों परिस्थितियों पर ध्यान रखते हुए हम तुलसी की भाषा में प्राप्त केवल उन्हीं विशेषताओं तक अपने को सीमित रखेंगे, जो शब्दशक्ति, ध्वनि, गुण, रीति, अलंकार तथा शब्दार्थगत दोष से संबंधित हैं। क्रमशः इनका विवेचन नीचे किया जाता है।

शब्दशक्ति

काव्य में शब्दार्थ के बोध-व्यापार का नाम शब्दशक्ति है, जिसके तीन प्रमुख भेद भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत प्रचलित हैं—१ अभिधा—२ लक्षणा—३ व्यंजना।[2]

---

१ संस्कृत के कालिदास जैसे कवियों तथा अंग्रेजी के शेक्सपियर जैसे कलाकारों ने भी अपने काव्य-कला-विषयक ज्ञान के सम्बन्ध में कार्पण्योक्तियाँ की हैं। इस प्रकार यह मनोवृत्ति संसार के बड़े-बड़े महाकवियों के स्वाभाविक शील एवं अहंकारहीनता की द्योतक है।

२ वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः
व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥
विश्वनाथ : साहित्य दर्पण २, ११

तुलसी की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली के अंतर्गत तीनों शब्द-शक्तियों का यथेष्ट विकास दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी स्वयं इस विषय में विशेष सचेत रहे हैं या शब्द-शक्तियाँ स्वयं ही उनकी सहज भाषा-शक्ति एवं भाषा-कौशल का बल पाकर प्रस्फुटित हो गई हैं। विशेष सम्भावना दूसरी बात की ही है, क्योंकि केवल बरवै रामायण जैसे ग्रन्थों को छोड़कर कहीं भी उनमें शास्त्रीय कला-पक्ष के प्रदर्शन की अभिरुचि बिल्कुल नहीं दृष्टिगोचर होती। अस्तु, उक्त तीनों प्रकार की शब्दशक्तियों की अभिव्यक्ति करने वाले कुछ उदाहरणों के विवेचन द्वारा हम तुलसी की भाषा में इनके विकास की जाँच करेंगे।

१. अभिधा

साक्षात् संकेतित अर्थ की बोधिका, शब्द की पहली शक्ति का नाम अभिधा है।[1] अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक शब्दों का अर्थबोध होता है, वे प्रधानतः तीन प्रकार के होते हैं—

१—रूढ़ २—यौगिक ३—योगरूढ़।

इन तीनों प्रकार के शब्दों का व्यवहार प्रचुरता से अपने पूर्ण सौंदर्य एवं शक्ति के साथ तुलसी के काव्य में मिलता है, जैसा हम आगे देखेंगे। संक्षेप में इन तीनों भेदों का उदाहरण-सहित विश्लेषण आवश्यक होगा।

१—रूढ़ अथवा बिना व्युत्पत्ति वाले शब्द, जिनके प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों का या तो कोई अर्थ नहीं होता, या होने पर भी संगत प्रतीत नहीं हो सकता,[2] जैसे पुस्तक, कलस, फूल आदि। तुलसी की शब्दावली का सबसे बड़ा भाग ऐसे ही शब्दों से भरा हुआ है। उनका प्रयोग सामान्यतः सभी कवियों मे बड़ा व्यापक होता है।

२—यौगिक वे शब्द हैं जिनमें प्रकृति और प्रत्यय का योग होकर अवयवार्थ-सहित समुदायार्थ की प्रतीति होती है,[3] जैसे दिवाकर, निसाकर, जो क्रमशः सूर्य और चंद्र के बोधक हैं। ऐसे शब्द भी तुलसी की भाषा में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

३—योगरूढ़ शब्द अथवा समूहांगबोधक शब्दों में अंगशक्ति और समूहशक्ति अथवा योग तथा रूढ़ि दोनों का मिश्रण होता है। यहाँ पर शब्द का प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों का स्पष्ट रूप रहने पर भी रूढ़ि के कारण किसी विशेष अर्थ का ही बोध होता है,[4] उदाहरणार्थ पंकज, निसाचर अथवा गननायक शब्द। 'पंकज' का यौगिक अर्थ हुआ पंक से उत्पन्न होने वाला कोई भी पदार्थ, किंतु इससे बोध होता है केवल 'कमल' का। 'निसाचर' का अर्थ होता है रात्रि में घूमने-विचरने वाला कोई भी प्राणी,

---

१ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा। —विश्वनाथ : साहित्य दर्पण २,१२।

२ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २०।

३ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २०।

४ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण, पृ० २१।

किंतु रूढ़ि के कारण इससे केवल 'राक्षस' का बोध होता है। इसी प्रकार 'गननायक' भी किसी भी 'गणनेता' के लिए व्यवहृत न होकर केवल गणेशजी के लिए आता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग में कभी-कभी कोई कवि चमत्कार सृष्टि के लिए उक्त मर्यादा का उल्लघन भी कर जाते हैं, परन्तु तुलसी ने इस प्रकार की स्वच्छंदता-वृत्ति का अनुसरण अपनी रचनाओं की भाषा में बहुत ही कम किया है, और जहाँ किया भी है, वहाँ भी प्रायः किसी विशेष परिस्थिति का अनुरोध रहा है। यहाँ पर रूढ, यौगिक तथा योगरूढ तीनों प्रकार के शब्दो के कतिपय उदाहरण देना उपयोगी होगा।

रूढ़ शब्द

सनमुख आयउ दधि अरु *मीना*। कर *पुस्तक* दुइ विप्र प्रबीना।[1]
गंगा जल कर *कलस* तौ तुरित मँगाइय हो।[2]
भोर *फूल* बीनिबे को गए फुलवाई हैं।[3]

उपर्युक्त पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्द रूढ़ शब्दों के अतर्गत ही आएँगे क्योंकि इनके प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों का न तो कोई अर्थ है, न उनकी कोई ठीक-ठीक व्युत्पत्ति ही सम्भव है।

यौगिक शब्द

मोह निहार *दिवाकर* संकर सरन सोक भयहारी।[4]
नित्य नेम कृत अरुन उदय जब कीन।
निरखि *निसाकर* नृप मुख भए मलीन॥[5]

उपर्युक्त पक्तियों में प्रयुक्त टेढे अक्षरों वाले शब्द विशुद्ध यौगिक शब्दों के अंतर्गत, आएँगे क्योंकि दिवाकर और निसाकर दोनों शब्दों की क्रमशः स्पष्ट व्युत्पत्ति 'दिन का करने वाला' तथा 'रात का करने वाला' सिद्ध है। इस प्रकार इनमें प्रकृति और प्रत्यय दोनों के योग द्वारा शब्दों का निर्माण प्रत्यक्ष है, जो यौगिक शब्दों का प्रमुख लक्षण है।

योगरूढ़ शब्द

परत पद *पंकज* ऋषिरवनी।[6]
रजनीचर घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत सुनत हनुमान की हांक बांकी।[7]
जेहि सुमिरत सिधि होइ, *गननायक* करिबर बदन।[8]

उपर्युक्त पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्द स्पष्ट रूप से योगरूढ़ शब्दो मे आएगे, क्योंकि इन सबमें योग तथा रूढि दोनों का मिश्रण है, तथा इन सभी शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों (पक + ज = पकज, रजनी + चर = रजनीचर, गन + नायक =

---

१ रा० १,३०३ २ रा० ल० न० ३ ३ गी० १,६१
४ वि० ३ ५ बरवै० १२ ६ गी० १,५६
७ क० ६,४४ ८ रा० १, आरंभिक सोरठा नं० १

गननायक) का स्पष्ट रूप रहने पर भी रूढ़ि के कारण क्रमशः 'कमल', 'राक्षस' तथा 'गणेश' का ही बोध होता है ।

२. लक्षणा

लक्षणा शक्ति उसे कहते हैं, जिसके द्वारा मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर भी रूढ़ि अथवा प्रयोजन को लेकर मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ लक्षित हो।* इसी आधार पर लक्षक अथवा लाक्षणिक शब्द तथा लक्ष्यार्थ की कल्पना की गई है। वैसे तो लक्षणाशक्ति के बहुत से भेद प्राचीन काव्यशास्त्र-ग्रथों में गिनाए गए हैं, किंतु उनमें से केवल प्रमुख भेदों तक ही अपने को सीमित रखना उचित होगा। इनमें 'रूढ़ि' और 'प्रयोजनवती' ये दो मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनके पुनः गौणी और शुद्धा दो विभाग किये जाते हैं। 'शुद्धा' के भी दो प्रमुख भेद हैं १—उपादान लक्षणा, २—लक्षण लक्षणा। इन दोनों के तथा गौणी लक्षणा के पुनः दो-दो भेद और माने जाते हैं, १—सारोपा, २—साध्यवसाना। अगूढ़व्यंग्या आदि कुछ अन्य भेद भी किए जाते हैं, जिनके विशेष विस्तार में न जाकर हम केवल कुछ प्रमुख भेदों के आधार पर तुलसी की शब्दावली का विश्लेषण करेंगे।

रूढ़ि लक्षणा : इस शक्ति के सूचक प्रयोगों में रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़ कर इससे संबंध रखने वाले अन्य अर्थ का ग्रहण अपेक्षित होता है।⁂ इसके कुछ उदाहरण उन विविध मुहावरों एव कहावतों के अंतर्गत भरे पड़े हैं, जिनका तुलसी ने अपनी कृतियों के भीतर प्रचुर मात्रा में व्यवहार किया है और जिनका उनकी भाषा को सजीव एवं लोकप्रिय बनाने में पर्याप्त योग रहा है। वस्तुतः ऐसे मुहावरों एवं कहावतों के अभिधार्थ में चमत्कार न होकर लक्ष्यार्थ में चमत्कार विद्यमान रहता है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश—

मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोप सों पाप को दाम परीच्छित जाहि गो *जारि कै हीयो*।
कासी में कंटक जेते भये ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो।
आजु कि कालिह परों कि नरों जड़ *जाहि गे चाटि दिवारी को दीयो*॥[1]
गुँह लाये मूड़हि चढ़ी, अन्तहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई।[2]
लोगनि भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास॥[3]

---

* मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥
विश्वनाथ : साहित्यदर्पण २,१४

⁂रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २२

१ क० ७, १७६   २ श्रीकृ० ८   ३ दो० ४६१

उपर्युक्त पंक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्दों एव शब्द समूहो के केवल वाच्यार्थ से कहीं भी अर्थ का स्पष्टीकरण पूर्णतया होना सभव नहीं है, जब तक कि उनके रूढिगत अन्य अर्थ अर्थात लक्ष्यार्थ से परिचय न हो। उदाहरणार्थ मार्ग का मारना, हिय को जलाना, कंटक, दीवारी का दिया चाटना, मुँह लगे को मूँड़ चढाना तथा गगन को गेंड़ुवा करना (आकाश को तकिया बनाना) आदि प्रयोग स्वतः मूल अर्थ में एक प्रकार की अस्वाभाविक एव अनहोनी बातें हैं, किंतु रूढिगत लक्ष्यार्थ के अनुसार उनसे क्रमशः, मार्ग को नष्ट करना, हृदय को कष्ट देना, विरोधी लोग, समाप्त कर देना, ढिलाई से अनुचित लाभ उठाने का भी अवसर देना तथा अभिनव एव अस्वाभाविक व्यापार के प्रयत्न इत्यादि का बोध हो जाने पर ही इन प्रयोगों के महत्व एवं चमत्कार का पता चलता है। तुलसी का इस लक्ष्यार्थ शक्ति पर कितना अधिकार था, इसका अनुमान उक्त उदाहरणों से ही हो जाता है।

प्रयोजनवती गौणी लक्षणा : इस शक्ति के अतर्गत सादृश्य संबध से अर्थात् समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है,* उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में टेढें अक्षरों वाले शब्द :—

> नव *कंज लोचन कंज मुख* कर *कंज* पद कंजारुणं।[1]
> *नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर* श्याम।
> लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सतकाम॥[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त कंज और लोचन, कज और मुख, कज और कर तथा कज और पद, इन सबमें पूर्ण सादृश्य नहीं है, किंतु फिर भी वर्ण-साम्य (श्यामता और अरुणाई) तथा गुण-साम्य (कान्ति और कोमलता) के कारण गौणी प्रयोजनवती लक्षणा सम्भव हुई है। यही बात दूसरे उदाहरण के अतर्गत नील कमल, नील मणि और नीले बादल के साथ भगवान राम के 'स्याम तनु' के सबंध स्थापन के विषय में समझना चाहिए।

प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा : जिसमें सादृश्य सबध के अतिरिक्त अन्य सबध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है, वहाँ प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा होती है।× इसका भी बड़ा व्यापक रूप तुलसी की कृतियों में दिखाई पड़ता है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के अतर्गत आधाराधेय के सबंध से आनद की व्यापक प्रतीति कराने के प्रयोजन से अवध में रहने वालों के लिए अवध नगरी को ही आनद से उमड़ती कहा गया है—

> मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस एहि भांति।
> उमँगी अवध अनंद भरि, अधिक अधिक अधिकाति॥[3]

---

* रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण पृ० २३

× रामदहिन मिश्र . काव्य दर्पण पृ० २४

1 वि० ४५ 2 रा० १, १४६ 3 रा० १, ३५१

अवध का उमँगना संभव नहीं, अतः यहाँ पर आधाराधेय संबंध से, जैसा पीछे कहा गया है, अवध-निवासियों के उल्लास की व्यापकता स्पष्ट करना ही इसका प्रयोजन है, इसलिए यहाँ पर उक्त लक्षणा हुई।

इसी प्रकार तात्कर्म्य से संबंधित शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा शक्ति का प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हत भागी।[1]

को न क्रोध निरदह्यो, काम बस केहि नहिं कीन्हों।
को न लोभ दृढ़ फंद बांधि त्रासन करि दीन्हों॥[2]

यह स्पष्ट बात है कि 'ससि' न तो 'पावकमय' होता है, न आग चुआना ही उसका काम है। तात्कर्म्य संबंध से लक्ष्यार्थ द्वारा उसमें सीता की अत्यन्त तीव्र विरह-व्यथा का तथा उस विरह-व्यथा को बढ़ाने वाले चंद्रमा के प्रति सीताजी के तत्कालीन भाव-विशेष का बोध होता है। यही बात दूसरे उदाहरण के अंतर्गत, 'क्रोध' के 'जलाने' तथा 'लोभ' के 'बाँधने' के व्यापार के संबंध में भी लागू होती है।

उपादान लक्षणा : जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ को लक्षित किए जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे, वहाँ पर इस शक्ति का समावेश माना जाता है। इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता, अतः इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं।* तुलसी की रचनाओं में यदि इसका स्वरूप देखना हो, तो निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

अपनी भलाई भलो कीं तौ भलोई न तौ
तुलसी को *खुलै गो खजानो खोटे दाम को*।[3]
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारिही चनक को।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले वाक्यों में केवल वाच्यार्थ द्वारा पूर्ण अर्थ स्पष्ट न होने पर भी उसका अपना अस्तित्व बिल्कुल ही नहीं समाप्त हो जाता, यद्यपि वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ लक्षित होता है। इसी आधार पर 'खोटे दाम का खजाना खुलना' तथा 'चार चने को ही चार फल जानना' इन वाक्यों द्वारा क्रमशः अपनी हीनता का आधिक्य तथा दारिद्र्य की चरम सीमा का बोध होता है।

लक्षण लक्षणा : यह लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करता है। यहाँ शब्द का अपना अर्थ बिल्कुल ही छूट जाता है, इसी से इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं।× इस लक्षणा

---

* राम दहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २४

× राम दहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २४।

१ रा० ५, १२ २ क० ७, ११७ ३ क० ७, ७०

४ क० ७, ७३

शक्ति का उपयोग विशेष प्रतिभाशाली कवियों मे ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियो में इसका बड़ा उत्कृष्ट रूप प्रकट हुआ है :—

तुलसी बुझाइ एक राम घन स्याम ही ते,
आगि बड़वागि सें बड़ी है *आगि पेट की*।[1]
सुनि मैया तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की *सकुच बेंचि सी खाई*।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में आए हुए 'पेट की आगि' तथा 'सकुच को बेंच खाना' इन वाक्यांशों में 'आग' और 'बेंच खाना' ने अपना मूल अर्थ बिल्कुल ही छोड़ दिया और लक्ष्यार्थ से इनमें क्रमशः 'भूख' तथा 'त्याग देना' का अर्थ ही ग्रहण होता है।

लक्षणा शक्ति का विषय यहीं पर समाप्त करके अब हम व्यंजना शक्ति की ओर अग्रसर होते हैं।

३. व्यंजना

अभिधा और लक्षणा के अपना अपना कार्य समाप्त कर चुकने पर जिस अन्य शक्ति के सहारे अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है, उसी को काव्यशास्त्रीय भाषा में व्यंजना कहा गया है।* इनमें शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना ये दो प्रमुख भेद माने गए हैं। पुनः शाब्दी व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं, १—अभिधामूला २—लक्षणामूला।T इनके आधार पर तुलसी की भाषा का संक्षिप्त मूल्यांकन नीचे किया जाता है :—

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—संयोगादि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्द के प्रस्तुत एक अर्थ के निश्चित हो जाने पर जो शक्ति अन्य अर्थ का बोध कराती है, उसी को अभिधामूला शाब्दी व्यंजना माना गया है।S

प्रकृतोपयोगी—अन्यार्थ की व्यंजना में अनेकार्थ की शक्ति को केन्द्रित करने में संयोगादि× जिन साधनों अथवा परिस्थितियों के विधान काव्यशास्त्रियों ने नियत

---

* विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥ विश्वनाथ : साहित्य दर्पण २, २४

T अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यंजना द्विधा। विश्वनाथ : साहित्य दर्पण २, २५

S अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियंत्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधी हेतुर्व्यंजना साभिधाश्रया॥ विश्वनाथ : साहित्य दर्पण २, २६

× संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ विश्वनाथ : साहित्य दर्पण २, २६,
(टिप्पणी में)

1 क० ७, ६६ 2 श्रीकृ० ८

कर रखे हैं, उनका संक्षेप में तुलसी के ही प्रयोगों के आधार पर उदाहरण-सहित उल्लेख किया जाता है।

१—संयोग* : अनेकार्थवाचक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्धि-संबंध को 'सयोग' कहा जाता है; उदाहरणार्थ :—

सोइ *राम* कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा दास तुलसी त्रास निधि वहित्रं।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त 'राम' शब्द के परशुराम, बलराम, रामचंद्र आदि कई अर्थ संभव होने पर भी 'कामारि प्रिय' तथा 'अवधपति' आदि विशेषणों के संयोग के कारण यहाँ पर यह एकमात्र रामचद्र का ही बोधक होगा।

२—वियोग : जहाँ अनेकार्थवाचक शब्द के एक अर्थ का निर्धारण किसी प्रसिद्ध वस्तु-संबंध के अभाव से होता है, वहाँ 'वियोग' माना जाता है।T उदाहरणार्थ—

अति अनन्य गति इन्द्री जीता। जा को *हरि* बिनु कतहुँ न चीता।[2]

यहाँ पर 'हरि' शब्द बंदर, सिंह, सूर्य आदि अनेक अर्थ में संभव होते हुए भी इस स्थल पर 'भगवान विष्णु' का ही अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इंद्रीजित सतों के चित्त से वियोग होना इसी अर्थ को निश्चित करता है।

३—साहचर्य : जहाँ पर किसी सहचर की प्रसिद्ध सत्ता के संबंध से अर्थ का निर्णय हो जाय, वहाँ साहचर्य होता है।∅ उदाहरणार्थ—

हरिहि हरिता विधिहि विधिता सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥[3]

यहाँपर भी हरि के उपर्युक्त कई अर्थ संभव होते हुए भी ब्रह्मा और शिव के विष्णु भगवान का ही अर्थ व्यक्त होना स्वाभाविक है।

४—विरोध : किसी प्रसिद्ध असगति के कारण जहाँ पर अर्थ निर्णय होता है× जैसे—

कंपहि भूप विलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोर के ताके॥[4]

यहाँ पर भी 'हरि' के उपर्युक्त कई अर्थ होते हुए भी इस स्थल पर 'हरि' शब्द से सिंह का बोध होगा, न कि विष्णु, बंदर और सूर्य आदि का, क्योंकि गज और सिंह का स्वाभाविक विरोध है और इस विरोध में ही उक्त पंक्ति का अर्थ निहित है।

५—अर्थ : जहाँ प्रयोजन अनेकार्थ में एकार्थ का निश्चय कराता हो, वहाँ अर्थ की स्थिति समझनी चाहिए।§ उदाहरणार्थ :—

---

* रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३४
T रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३४
∅ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३४
× रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३५
§ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३५

१ वि० २० २ वै० सं० २४ ३ वि० १३५
४ रा० १, २१३

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।[1]

यहाँ पर द्विज शब्द के दाँत, पक्षी, चंद्रमा तथा ब्राह्मण, इन कई अर्थों के सम्भव होते हुए भी, तथा 'हरि' शब्द के कई उपर्युक्त अर्थ संभव होते हुए भी 'संसार से पार पाने का प्रयोजन' होने के कारण इनके अर्थ का ग्रहण क्रमशः 'ब्राह्मण और विष्णु' के रूप में ही होगा। इस प्रकार 'अर्थ' के द्वारा उक्त शब्दों के वास्तविक अर्थ का निर्धारण हुआ है।

६—लिंग : नानार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में वर्तमान और इसके अर्थ में अवर्तमान किसी विशेष धर्म, चिन्ह या लक्षण का नाम 'लिंग' है।* उदाहरणार्थ—

बालधी बढ़न लागी ठौर ठौर दीन्ही आगि,
बिंध की दवारि कैधौ कोटि सत सूर है।[2]

यहाँ पर जलाने का धर्म सूर शब्द के अथवा अंधे के अर्थ में नहीं, किंतु सूर्य के अर्थ में ही घटित होता है, इसलिए यहाँ लिंग ही 'सूर' शब्द के अर्थ का निर्णायक हुआ।

७—अन्यसन्निधि : अनेकार्थी शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ संबंध रखने वाले भिन्नार्थक शब्द की समीपता अन्यसन्निधि है।§ उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में टेढ़े अक्षरों वाले शब्द—

कीजै जो कोटि उपाय त्रिविध ताप न जाय,
कह्यो जो भुज उठाय मुनिवर *कीर*।[3]

यहाँ पर कीर शब्द का अर्थ प्रसिद्ध रूप से सुग्गा होते हुए भी, निकटवर्ती मुनिवर शब्द के कारण, इस स्थल पर इस शब्द से 'शुकदेव' का ही ग्रहण होगा। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'कीर' शब्द का अर्थ निकटवर्ती 'खग' शब्द के कारण 'सुग्गे (तोते)' के ही अर्थ का बोधक होगा।

सुनिय नाना पुरान मिटत नहिं अज्ञान,
पढ़िय न समुझिय जिमि खग *कीर*।[4]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'कीर' का वास्तविक अर्थ अन्यसन्निधि के द्वारा ही स्पष्ट हो सका है।

८—सामर्थ्य : इसकी स्थिति वहाँ मानी जाती है, जहाँ किसी कार्य के संपादन में किसी पदार्थ की शक्ति से अनेकार्थों में से एकार्थ का निश्चय हो।× उदाहरणार्थ—

तनु महँ प्रबिसि निसरि *सर* जाहीं।[5]

---

* रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३५

§ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३६

× रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३६

१ वि० १३६ २ क० ५, ३ ३ वि० १६६

४ वि० १६७ ५ रा० ६, ६६

यहाँ पर 'सर' शब्द का अर्थ 'ताल' न होकर 'वाण' ही होगा, क्योंकि उसी में यह सामर्थ्य है कि शरीर से आरपार हो सके।

६—औचित्य : इसकी स्थिति ऐसे स्थलों पर होती है, जहाँ किसी पदार्थ की योग्यता के कारण अनेकार्थों में से एकार्थ का निर्णय हो।⊛ उदाहरणार्थ—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।[1]

यहाँ पर समर (युद्ध) में 'करनी' करने के औचित्य से 'सूर' का अर्थ 'वीर' ही होगा, न कि अंधा या सूर्य।

१०—देश : जहाँ किसी स्थान की विशेषता का अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ से निश्चय हो, वहाँ देश होता है।§ उदाहरणार्थ—

चारि पदारथ मे गनै, नरक द्वार हू काम।[2]

यहाँ पर 'काम' के अर्थ षट्विकारांतर्गत 'काम विकार', 'अत्येष्टि क्रिया से संबंधित कार्य विशेष' और 'कोई भी साधारण कार्य' होने पर भी 'नरक द्वार' के निर्देश से इस स्थल पर इस शब्द से 'षट् विकारांतर्गत काम विकार' का ही अर्थ ग्रहण होगा। इस प्रकार 'देश' के आधार पर 'काम' शब्द के अर्थ का निश्चय हुआ।

११—काल : समय के कारण जहाँ पर अनेकार्थ में से एकार्थ का निश्चय होता है, वहाँ पर 'काल' का ग्रहण होता है।× उदाहरणार्थ—

सब ऋतु सुख प्रद सो पुरी, पावस अति कमनीय।
बक राजि राजत गगन हरिधनु तड़ित दिसि दिसि सोहहीं।[3]

उपर्युक्त पंक्तियाँ गीतावली में 'पावस ऋतु वर्णन' से ली गई हैं। पावस ऋतु के प्रसंग के कारण यहाँ पर 'हरिधनु' शब्द 'इन्द्रधनुष' का ही बोधक होगा, यद्यपि 'हरि' शब्द के विष्णु, बंदर आदि कई अर्थ होने से 'हरिधनु' के भी कई अर्थ संभव हो सकते हैं।

१२—व्यक्ति : इसकी स्थिति वहाँ पर मानते हैं, जहाँ 'व्यक्ति' से अर्थात् पुल्लिंग आदि से अनेकार्थ में से एक अर्थ का निश्चय होता है।+ उदाहरणार्थ—

सरजू बर तीरहि तीर फिरैं रघुवीर सखा अरु *वीर* सबै।[4]
वीर कीर! सिय राम लखन बिनु, लागत जग अँधियारो।[5]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'बीर' शब्द का अर्थ पुल्लिंग के कारण 'भाई' ही होगा,

---

⊛ रामदहिन मिश्र ' काव्य दर्पण पृ० ३६
§ रामदहिन मिश्र ' काव्य दर्पण पृ० ३६
× रामदहिन मिश्र : ,, ,, पृ० ३६
+ रामदहिन मिश्र ,, ,, पृ० ३७

१ रा० १, २७३ २ दो० ३४६ ३ गी० ७, १६
४ क० १, ७ ५ गी० २, ६६

यद्यपि इसके अन्य अर्थ योद्धा, सखी, आदि भी होते हैं। इस प्रकार 'व्यक्ति' से यहाँ पर 'बीर' शब्द के अर्थ का निर्णय हुआ।

ऊपर सयोगादि विधान की रूपरेखा उपस्थित करते हुए, जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, उन सभी के अतर्गत 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' का स्वरूप स्पष्ट है, क्योंकि सभी स्थलों पर सयोगादि के द्वारा अनेकार्थवाची शब्द के प्रकृत्योपयोगी एक अर्थ के नियंत्रित हो जाने पर इसी शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान सभव हो सका है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है, उसे 'लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना' कहते हैं।* इस शब्दशक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण निम्नलिखित पक्तियों में देखिए—

कालिह ही तरुन तन कालिह ही धरनि धन,
　　　　कालिह ही जितौंगो रन कहत कुचालि है।
कालिह ही साधौं गो काज कालिह ही राजा समाज,
　　　　मसक ह्वै कहै भार मेरे मेरु हालि है॥[1]

उपर्युक्त पक्तियों में 'मसक ह्वै कहै भार मेरे मेरु हालि है, इन शब्दों में पर्याप्त शब्द-सामर्थ्य एव उपकरण से हीन प्राणी के द्वारा एक दुष्कर कार्य की असंभावना सूचित है, जिसका पता उक्त शब्दशक्ति लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना द्वारा ही चलता है।

आर्थी व्यंजना

यह वह शब्दशक्ति है, जो वक्ता, बोधव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रस्ताव, प्रकरण, देश, काल, काकु (कठ ध्वनि), चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यग्यार्थ की प्रतीति कराती है। इस व्यजना में व्यग्यार्थ किसी शब्द-विशेष पर नहीं, वरन् अर्थ पर अवलम्बित रहता है।†

शाब्दी व्यजना की ही भाँति इसके भेद भी उक्त विशेषताओं के आधार पर बहुत से होते हैं, जैसे—वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसभवा, वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसभवा, वाक्य-वैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसभवा, काकुवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसभवा और चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्यसभवा इत्यादि। सभी भेदों के विस्तार में न जाकर उक्त कुछ ही भेदों के प्रकाश में हम तुलसी की भाषा में आर्थी व्यजना के उत्कर्ष का अध्ययन करेंगे।

१. वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

कवि या कवि-कल्पित व्यक्ति के कथन की विशेषता के कारण जो व्यग्यार्थ

---

* रामदहिन मिश्र ' काव्य दर्पण, पृ० ३७

† रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण, पृ० ३८

1 क० ७, १२०

प्रतीत होता है, वह वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न होता है। × जैसे तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में :—

जेहि वाटिका बसति तहँ खग मृग, तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वांस समीर भेंट भइ भोरेहुँ, तेहि मग पगु न धर्‌यो तिहुँ पौन ॥[1]

यहाँ पर कवि-कल्पित शब्दावली में, हनुमान जी, विरहिणी सीता की दशा उनके प्रियतम भगवान श्रीराम से इस प्रकार निवेदन करते हैं कि वे जिस वाटिका में रहती हैं, वहाँ से खग-मृग भाग भाग कर अपने पुराने निवास-स्थलों को चले गए हैं, और स्वाँस की समीर से भेंट होने के कारण प्रातःकाल शीतलकाल में भी त्रिविध वायु उस राह पर पैर नहीं रखता। यहाँ पर वक्ता हनुमान द्वारा सीता की विरहतापातिशयता के विशिष्ट ढंग के वर्णन में राम की दृश्यमान निश्चिंतता के प्रति व्यंग्य है और यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ द्वारा ही संभव हुआ है। अतः इसमें वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्य संभवा आर्थी व्यंजना का स्वरूप स्पष्ट है।

२. वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

जहाँ लक्ष्यार्थ से व्यंजना हो, वहाँ यह भेद होता है।* तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है—

ससि तें सीतल मो को लागै माई री तरनि।
याके उए बरति अधिक अंग अंग दव,
वाके उए मिटति रजनि जनित जरनि।[2]

कोई कृष्ण-विरहिणी गोपिका कहती है कि उसे चंद्रमा से अधिक शीतल सूर्य लगता है, क्योंकि चंद्रमा के उदय होने पर उसके अंग-अंग में विरह की दावाग्नि जलने लगती है, और सूर्य के उदय होने पर रात्रि में उत्पन्न जलन मिट चलती है।

यहाँ पर चंद्रमा से जलन तथा सूर्य से शीतलता मिलने की क्रिया में वाच्यार्थ का बोध है। बोध होने पर लक्षणा द्वारा अर्थ यह निकलता है, कि विरहिणी गोपिका को चंद्र-दर्शन असह्य है। व्यंग्यार्थ यह निकला कि विरहिणी अपने विरह-ताप की उद्दीपक वस्तुओं से अत्यंत पीड़ित है। वक्तृवैशिष्ट्य यहाँ इसलिए मान्य है कि वक्ता गोपिका के वैशिष्ट्य से ही वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ द्वारा क्रमशः इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हुई।

३. वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ पर संपूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रकट होता है, वहाँ यह भेद होता है।† इसका रूप तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

---

१ गी० ५, २०   २ श्रीकृ० ३०

× रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण, पृ० ३८

* रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३८

† रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ४०

जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार ॥[1]

उक्त पक्तियाँ रामचरितमानस के अतर्गत 'नारद मोह-प्रसग' से उद्धृत हैं। विश्वमोहिनी नामक राजकन्या पर मुग्ध होकर उसके द्वारा वरण किए जाने की लालसा से, नारद, भगवान विष्णु से उन्हीं का रूप माँगते हैं, जिसके उत्तर में भगवान कहते हैं —हमारा यह नितांत सत्य वचन है कि मैं वही करूँगा, जिससे तुम्हारा परम हित सभव हो। नारद इससे समझते हैं कि उनका अभिप्राय सिद्ध हो गया, किंतु यहाँ पर वाच्यार्थ द्वारा बोधित यह व्यग्यार्थ स्पष्ट है कि वस्तुतः भगवान के इस कथन का तात्पर्य यह है कि वे नारद की आध्यात्मिक साधना में विघ्न-रूप इस वासना की पूर्ति के लिए अपना रूप उन्हें न देंगे, और इस प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उनका परम हित साधित करेंगे, वह परम हित नहीं, जो उस समय नारद के मन में गूंज रहा था। इस प्रकार यहाँ एक पूरे लक्ष्य वाक्य के वैशिष्ट्य के कारण वाक्यवैशिष्ट्ययोत्पन्नवाच्य-सभवा आर्थी व्यजना सिद्ध होती है।

४. काकुवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

कंठ-ध्वनि की भिन्नता से अर्थात् गले के द्वारा विशेष प्रकार से निकाली हुई ध्वनि को काकु कहते हैं। काकु की विशेषता के कारण जहाँ व्यग्यार्थ प्रकट हो, वहाँ यह शब्दशक्ति होती है,* उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पक्तियाँ :—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥[2]

यहाँ पर राम के प्रति सीता के कथन में मैं 'सुकुमारि', 'नाथ बन जोगू' तथा 'तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू' इन वाक्यों का विशेष कठ-ध्वनि से उच्चारण करने पर ही क्रमश यह वाच्यार्थ होगा, कि मैं ही केवल सुकुमार नहीं हूँ, आप भी सुकुमार हैं। आप वन के योग्य हैं, तो मैं भी वन के योग्य हूँ। तुम्हारे लिए तप उचित है तो मेरे लिए भी। मेरे लिए यदि भोग का अवसर है तो वह तुम्हारे साथ रहकर ही। फलतः इस प्रकार काकु द्वारा वाच्यार्थ करने पर ही सीता जी के उक्त कथन का यह व्यग्यार्थ स्पष्ट होगा कि मेरा सर्वथा आपके साथ वन को जाना ही उचित है। इस लिए काकु के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ द्वारा सभव व्यग्यार्थ होने के कारण यहाँ पर काकुवैशिष्ट्यो-त्पन्नवाच्यसभवा आर्थी व्यजना स्पष्ट है।

५ चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ चेष्टा अर्थात् इगित-हाव-भावादि द्वारा व्यग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ यह आर्थी व्यजना होती है § उदाहरण के लिए तुलसी की निम्नलिखित पक्तियाँ—

---

* रामदहिन मिश्र · काव्य दर्पण पृ० ४२

§ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ४२

१ रा० १, १२२ २ रा० २, ६७

सुनि सुंदर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्है समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥[1]

इन पंक्तियों में वन के मार्ग में जाते हुए राम के रूप-लावण्य पर मुग्ध ग्राम-वासिनियाँ सीताजी से पूछती हैं कि साँवरे से (राम) उनके कौन हैं ? उनके इस प्रकार पूछने पर सीताजी नेत्र तिरछे करके, उन्हें संकेत द्वारा कुछ समझाकर मुसकुरा उठीं। उनकी इन विभिन्न चेष्टाओं द्वारा इस बात की व्यंजना की गई है कि राम उनके पति हैं। यह व्यंग्यार्थ चेष्टा के वैशिष्ट्य पर निर्भर है, अतः यहाँ चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नवाच्य-संभवा आर्थी व्यंजना है।

शब्दशक्तियों के आधार पर तुलसी की भाषा-शक्ति का उपर्युक्त विवेचन एवं विश्लेषण इतना तो सिद्ध कर देने के लिए पर्याप्त ही है कि उनकी दृष्टि अपनी ओर से इनकी ओर चाहे रही हो या न रही हो, किंतु इस क्षेत्र में उनकी पहुँच किसी प्रकार भी साधारण नहीं कही जा सकती। इन सूक्ष्म शास्त्रीय भेदों के उदाहरणों का उनकी शब्दावली के अंतर्गत इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाना स्वयं ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वे शब्द और अर्थ के विविध बोध-व्यापारों के विषय में अधिकारपूर्ण ज्ञान रखते थे। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो तुलसी द्वारा अभिधा शक्ति का ही सबसे अधिक उपयोग किया गया है। यद्यपि वे देव की भाँति लक्षणा और व्यंजना का तिरस्कार करने वाले भी न थे,* किंतु इतना तो प्रत्यक्ष है कि वे भाषा के चमत्कार के लिए अभिधा शक्ति का आश्रय लेना अधिक स्वाभाविक समझते थे और वह भी कदाचित् जनोपयोगिता एवं जनसुलभता के विचार से, न कि अभिधा शक्ति के प्रति विशेष पक्षपात के कारण, क्योंकि उनका तो सिद्धांत ही था :—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥[2]

ध्वनि

काव्यशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वाच्य से अधिक उत्कर्षक चारुता-प्रतिपादक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।§ वैसे तो इसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है और इसके कोई ५१

---

* अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन॥—देव—शब्दरसायन (षष्ठम प्रकाश) पृ० ७२

§ चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक।

वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।
विश्वनाथ : साहित्यदर्पण। ४।२

विशेष विवरण के लिए देखिए : राम दहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण' पृ० २२८, जहाँ ध्वनि के ५१ भेदों की तालिका अंकित है।

1 क० २, २२ 2 रा० १, १४

भेदोपभेद माने जाते हैं और कुछ लोग तो इसका प्राधान्य यहाँ तक मानते हैं कि वे इसी के अंतर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास इत्यादि रसविषयक संपूर्ण बातों को भी गिन लेते हैं, किंतु यहाँ पर हम विशेष विवरणों में न जाकर केवल कुछ दृष्टांतों द्वारा तुलसी की भाषा में ध्वनि का उत्कर्ष दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

ध्वनि के अनेकानेक भेदों के विस्तार में न जाकर जिन कतिपय भेदों तक हम अपने को सीमित रखेंगे, वे हैं १—अर्थ-शक्ति-उद्भव-अनुरणन-ध्वनि (स्वतः संभवी), कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धवस्तुध्वनि, २—गुणीभूत व्यंग्य, ३—अगूढ़ व्यंग्य और ४—काक्वाक्षिप्त व्यंग्य। वस्तुतः इन्हीं के विश्लेषण द्वारा तुलसी की ध्वनि-शक्ति का अनुमान हो जायगा।

१. अर्थ-शक्ति-उद्भव-अनुरणन-ध्वनि (स्वतः संभवी) : इस ध्वनि के भी कई भेद हैं, जिनमें 'वाक्यगतस्वतः संभवी अर्थमूलक वस्तु-ध्वनि' का उदाहरण निम्न लिखित है—

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महँ मुसुकानी॥[1]

इन पंक्तियों में मार्ग की ग्रामवधुओं का प्रश्न सुनकर सीता जी का सकुचना और मन ही मन मुसुकाना, इस आशय के बोधक वाक्य के वाच्यार्थ द्वारा 'राम उनके पति हैं' यही व्यंजित है। पति-बोध का व्यंग्य किसी एक पद द्वारा न होकर 'सकुची सिय मन महँ मुसुकानी' इस पूरे वाक्य के अर्थ द्वारा होता है। यहाँ पर शब्द परिवर्तन के पश्चात् भी व्यंग्यार्थ का बोध होता रहेगा। इन्हीं कारणों से यहाँ पर उक्त ध्वनि की स्थिति संभव हुई।

२ कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्धवस्तुध्वनि : इसके भी कई भेद होते हैं, जिनमें केवल 'वाक्यगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्धवस्तुध्वनि' का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

सिय वियोग दुख केहि बिधि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि॥[2]
सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥[3]

उपर्युक्त पंक्तियों के अंतर्गत अपने फूल के बाणों से कामदेव का सीताजी को वेधना, शरद चाँदनी का चारों दिशाओं में फैलकर धूप के समान जलाना और चंद्रमा को कुलगुरु (सूर्य) समझ कर सीता जी का विनय करना इत्यादि से सीता जी की तीव्र विरह-वेदना ध्वनित होती है, जो वाक्यगत है। इसलिए इसके भीतर वाक्यगत वस्तु से 'कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्धवस्तुध्वनि' की स्थिति मानी जायगी।

गुणीभूत व्यंग्य : वाच्य की अपेक्षा गौण व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।*

---

*अपरन्तु गुणीभूतव्यंग्य वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। विश्वनाथ : साहित्यदर्पण ४ १६

१ रा० २, ११७ २ बरवै० ४० ३ बरवै ४१

तात्पर्य यह कि जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारक हो, अथवा उसी के समान ही हो, वहाँ 'गुणीभूत व्यंग्य' की स्थिति मानी जाती है। इसके भी कई भेद माने गए हैं, जैसे, अगूढ़ व्यंग्य, अपराग व्यग्य, वाच्यसिद्धि व्यंग्य, अस्फुट व्यग्य, संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य, तुल्य प्राधान्य व्यंग्य, काक्वाक्षिप्त व्यग्य और असुन्दर व्यंग्य इत्यादि जिनमें केवल दो का विश्लेषण तुलसी की भाषा के आधार पर नीचे किया जाता है—

१—अगूढ़ व्यंग्य—उसे कहते हैं जो वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।† उदाहरण के लिए :—

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगति जासु सुत होई॥[1]

वाच्यार्थ है कि वही युवती पुत्रवती है, जिसका पुत्र रामभक्त है। यहाँ वाच्यार्थ में बाधा है, क्योंकि ऐसी भी अनेक युवतियाँ पुत्रवती हैं, जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। अतः लक्ष्यार्थ यह हुआ कि उन युवतियों का पुत्रवती होना न होने के तुल्य है, जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। व्यंग्यार्थ यह निकला कि संसार में वही युवती प्रशंसनीय है, जिसका पुत्र रामभक्त हो। यह व्यंग्य वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है और वाच्यार्थ का ही अर्थान्तर में संक्रमण हो गया है।

२—काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—जहाँ काकु द्वारा आक्षिप्त होकर व्यंग्य अवगत होता है, वहाँ गुणीभूत काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है।‡ उदाहरणार्थ—

तुलसी अस बालक सों नहि नेह कहा जप जोग समाधि किये।
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ जग मे फल कौन जिये॥[2]
हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥[3]

पहले उदाहरण के अंतर्गत तुलसीदास जी कहते हैं कि राम ऐसे शिशु के प्रति यदि स्नेह नहीं है, तो जप, जोग और समाधि करने से क्या? अर्थात् कुछ भी नहीं। वे मनुष्य गधे, शूकर और स्वान के समान हैं, उनके ससार में जीने का भी क्या फल है अर्थात् कुछ भी नहीं, यह काक्वाक्षिप्त व्यंग्य है।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण के अंतर्गत काकु से यह व्यंग्य आक्षिप्त होता है कि राम सामान्य मनुष्य-बालक नहीं, वे सामान्य मानव-भूमि से परे साक्षात् भगवान के अवतार हैं।

गुण :

जो रस के धर्म हैं और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है वे गुण कहे जाते हैं।*

†रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २४४
‡रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २४७
*ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः॥ मम्मट : काव्य प्रकाश।

१ रा० २, ७५   २ क० १, ६   ३ रा० ६, ६३

इनका काम रीति और अलंकार की भाँति रस को उत्कृष्ट बनाना है।† गुणों के महत्व के सबध में इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि भोजराज के कथनानुसार अलकृत काव्य भी गुणहीन होने पर श्रवणीय नहीं,‡ और इसी का समर्थन अग्निपुराण में इस प्रकार किया गया है कि अलकृत काव्य भी गुणरहित होने पर आनददायक नहीं होता।§ गुणों की सख्या के विषय में भी मतभेद मिलता है, भरत ने १०, व्यास ने १६, भामह ने ३, दडी ने १०, वामन ने २० और भोज ने २४ माने हैं। परतु मम्मट और विश्वनाथ आदि परवर्ती प्रतिष्ठित काव्याचार्यों ने ३ गुणों के भीतर अन्य गुणों को अतर्निहित माना है, और अब उन्हीं की मान्यता व्यापक है।§§

ये तीन गुण हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज, (३) प्रसाद। इन्हीं के प्रकाश में तुलसी की भाषा की कला का मूल्यांकन सक्षेप में नीचे किया जाता है।

माधुर्य : वह गुण है जिसके द्वारा अन्तःकरण आनद से द्रवीभूत हो जाय।¶ इस गुण के उत्कर्ष में ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से म तक के वर्ण, ङ, ञ, ण, न, म से युक्त वर्ण, ह्रस्व र और ण आदि का प्रयोग अधिक होता है। समास का प्रायः अभाव होता है अथवा अल्प समास के पद तथा कोमल और मधुर शब्दावली का व्यवहार किया जाता है। इन सबसे माधुर्यगुण के उत्कर्ष में सहायता मिलती है।— तुलसी की लगभग सभी रचनाओं की भाषा में इस गुण का यथेष्ट विकास मिलता है, किंतु मानस, कवितावली और गीतावली में इसका सर्वोत्कृष्ट रूप सबसे अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। विशेष स्थल टेढ़े अक्षरों में अकित हैं।

सरद चंद *निंदक* मुख नीके। *नीरज नयन* भावते जी के॥
चितवन चारु मार मद हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥[1]

साथ निसि नाथ मुखी *पाथनाथनंदिनी* सी,
तुलसी बिलोकि चित लाइ लेत संग है।
आनंद उमंग मन जोवन उमंग तन,
रूप की उमंग उमगत अंग अंग है॥[2]

---

†उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः। विश्वनाथ : साहित्य दर्पण।

‡अलंकृतमपि श्राव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ भोजराज · सरस्वतीकंठाभरण।

§ अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्। अग्निपुराण।

§§रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३०१

¶रामदहिन मिश्र · काव्य दर्पण पृ० ३१२

—रामदहिन मिश्र · काव्य दर्पण पृ० ३१३

१ रा० १, २४३ २ क० २, १५

महि मृदु पथ घन छाँह सुमन सुर बरषि पवन सुखदाई।
जल थलरुह फल फूल सलिल सब करत प्रेम पहुनाई॥
सकुच सभीत विनीत साथ गुरु बोलनि चलनि सुहाई।
खग मृग चित्र विलोकत विच विच लसति ललित लरिकाई॥[1]

मन मोहनी तोतरी बोलनि मुनि मन हरनि हँसनि किलकनियाँ।
बाल सुभाय विलोल विलोचन, चोरति चितहिं चारु चितवनियाँ॥
सुनि कुल वधू झरोखनि झाँकति रामचंद्र छबि चंद वदनियाँ।
तुलसिदास प्रभु देखि मगन भई प्रेम बिवस कछु सुधि न अपनियाँ॥[2]

ओज : वह गुण है, जिस से चित्त में स्फूर्ति आ जाय और मन में एक तेजस्विता का भाव भर जाय।* भाषा की योजना की दृष्टि से इसके उत्कर्ष के लिए द्वित्व वर्णों, संयुक्त वर्णों और ट, ठ, ड, ढ आदि वर्णों का अधिक प्रयोग तथा समासाधिक्य आदि सहायक होते हैं। इस गुण के उदाहरण कवितावली तथा रामचरितमानस में विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली तथा अन्य छोटे ग्रंथों में इसका प्रायः अभाव सा ही दीखता है। ओजगुणसूचक शब्दावली के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं —

मत्तभट-मुकुट-दसकंध साहस-सइल-सृंग-बिद्दरनि जनु बज्र टाँकी।[3]
बिकट चटकन चपट चरन गहि पटक महि निघटि गए सुभट, सत सबको छूट्यो।[4]

कतहुँ बिटप भूधर उपारि पर सेन वरक्खत।
कतहुँ बाजि सो बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत वीर वारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटक भट जयति राम जय उच्चरत।
तुलसीस पवन नंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥[5]

जंबुकं निकर कटक्कट कट्टहि। खाहि हुआहि अघाहिं दपट्टहिं॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहि। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥
बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावही।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहि सुभट भटन्ह ढहावहीं॥[6]

उपर्युक्त पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंशों मे आये हुए वर्ण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

---

* देखिये : रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३१२

१ गी० १,४३	२ गी० १,३१	३ क० ६,४४
४ क० ६,४६	५ क० ६,४७	६ रा० ६,८८

प्रसाद : सूखे ईंधन में आग जैसे शीघ्र जल उठती है, वैसे ही जो गुण चित्त मे शीघ्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् रचना का उद्बोध करा देता है वह प्रसाद गुण है. श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति कराने वाले सरल और सुबोध शब्द प्रसाद गुण के व्यजक हैं ।* इस गुण के सूचक स्थलों पर समास का प्रायः अभाव रहता है, साधारणतः सुकुमार वर्णों का प्रयोग किया जाता है। कटु वर्णों का अभाव तथा कठिन शब्द योजना का अभाव इस गुण की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

तुलसी की रचनाएँ तो अधिकांश में इसी गुण का विकास अपनी शब्दावली द्वारा प्रस्तुत करती हैं। केवल विनयपत्रिका के पूर्वार्ध की कुछ स्तुतियों की भाषा, तथा कवितावली व मानस के कुछ युद्ध-वर्णन आदि प्रसगों में प्रयुक्त भाषा इस गुण से रहित है, अन्यथा अन्य सभी स्थलों की शब्दावली इसी गुण से भरपूर मिलती है। कुछ ऐसे उदाहरण नीचे दिये जाते हैं, जिनके टेढे अक्षरों वाले अशों में इस गुण के उत्कर्ष के लिए अपेक्षित, श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति कराने वाले सरल और सुबोध शब्दों की लोकप्रिय योजना देखने को मिलेगी—

सोह नवल तन *सु दर सारी* । *जगत जननि* अतुलित छबि भारी ॥[1]
कीरति भनिति भूति भलि सोई । *सुरसरि सम* सब कहँ हित होई ॥[2]
जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि *राखत, राम सनेह सगाई* ।[3]
तुलसी *कहत सुनत सब समुझत* कोय ।
बड़े *भाग अनुराग* राम सन होय ॥[4]

रीति : 'रीङ्' धातु से 'क्ति' प्रत्यय के योग से यह शब्द बना है, जिसका अथ गति, पद्धति, मार्ग, प्रणाली आदि होता है।+

काव्य-शास्त्रीय परिभाषा में शब्दार्थ-शरीरकाव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने वाली, प्रभाव बढ़ाने वाली, पदों की जो विशिष्ट रचना है, उसे रीति कहते हैं।※ विषयानुरूप रचना के अतर्गत अनेक प्रकार की रीतियाँ दीख पड़ती हैं, जिनके भेदों की गणना वस्तुतः असभव सी है। मम्मट इसी रीति को वृत्ति के नाम से पुकारते हैं, फिर भी प्रदेश-विशेष के प्रमुख कवियों की प्रचलित प्रणाली के नाम पर रीतियों को, वैदर्भी, पाचाली, और गौड़ी आदि तथा पृथक पृथक नादसूचक वर्णों से सगठित शब्दों के चयन से उत्पन्न झकार की विशेषता के आधार पर वृत्तियों को उपनागरिका, कोमला और परुषा आदि नाम दिए गए।

---

* राम दहिन मिश्र काव्यदर्पण पृ० ३१४

+अस्त्यनेको गिरामार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् । दडी : काव्यादर्श

※विशिष्टपदरचना रीति । वामन . काव्यालंकारसूत्र

१ रा० १,२४८ २ रा० १, १४ ३ वि० १६४

४ बरवै० ६१

इन वृत्तियो एवं रीतियों का रूप तुलसी की भाषा मे बराबर उसी प्रौढ़ता के साथ सुरक्षित है, जैसा गुणों का। अलग से इन का विश्लेषण आवश्यक नहीं जान पड़ता क्योंकि वैदर्भी रीति एवं उपनागरिका वृत्ति में माधुर्यव्यंजक वर्णों की ललित रचना, गौडी रीति एव परुषावृत्ति मे ओज-प्रकाशक वर्णों से आडम्बरपूर्ण रचना तथा पांचाली रीति एवं कोमला वृत्ति में उपर्युक्त रीतियों एव वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों से युक्त पंचम वर्ण वाली रचना अपेक्षित होती है, जिनकी पुष्टि में लगभग वही सारे उदाहरण पर्याप्त होंगे, जो पहले तीनों गुणों के उत्कर्ष में प्रमाण-रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि तुलसी में 'कवित रीति' की धारणा के साथ साथ भाषा की रीति की धारणा किसी न किसी रूप में विद्यमान थी ही, जैसा उनके निम्न-लिखित शब्दों से ध्वनित होता है :—

कबित रीति नहिं जानउँ कवि न कहावउँ।
संकर चरित सुसरित मनहिं अन्हवावउँ ॥[1]

अलंकार

अलंकारयोजना की दृष्टि से तुलसी की भाषा का मूल्यांकन करने से पूर्व अलकार की सामान्य व्याख्या तथा महत्त्व के विषय मे संक्षिप्त सकेत आवश्यक होगा। अलंकार की सामान्य परिभाषा यही है कि वे काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म हैं।* यद्यपि उन्हें काव्य का अनिवार्य अंग समझना ठीक नहीं, क्योंकि ये शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं।§ यहाँ पर इनके क्षेत्र में विस्तार में न जाकर हमारे लिए इतना ही स्मरण रखना आवश्यक है कि तुलसी सिद्धान्ततः अलंकारों की अनिवार्यता न मानते हुए भी व्यवहारतः इनसे भली भाँति परिचित ही नही, वरन् इनमें पूर्ण अभ्यस्त जान पड़ते हैं। अपनी रचनाओं में यत्रतत्र बराबर इनकी योजना सफलतापूर्वक उन्होंने की है। वैसे तो उनकी सभी कृतियों की भाषा यथास्थान अलंकृत रूप में मिलती है, किंतु अलंकारों का सबसे अधिक उत्कर्ष तुलसी के बरवै रामायण में दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि है यह कृति बहुत छोटी। वस्तुतः भाषा के कला-पक्ष की दृष्टि से यही एक ऐसा ग्रथ कहा जा सकता है, जिसके अंतर्गत तुलसी का कलाकार पूर्ण सजग है। इस आधार पर बरवै रामायण इनकी सब से उत्कृष्ट रचना है, यद्यपि आकार और अन्य विशेष-ताओं की दृष्टि से यह अन्य ग्रंथों के समक्ष अधिक महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती।

अलंकारों के अंतर्गत भाषा के विचार में शब्दालंकारों का विवेचन ही अपेक्षा कृत अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनका संबंध सीधे भाषा के वाह्य रूप से हुआ करता

---

*काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। दंडी : काव्यादर्श

§शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा : शोभातिशायिन.।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ विश्वनाथ : साहित्य दर्पण १०।१

१ पा० मं० ३

है। अतः बहुसख्यक अलकारों के बीच हम केवल कतिपय शब्दालकारों के सहारे सक्षेप में तुलसी की भाषा में उपलब्ध अलकार-योजना के विकास को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

कुछ शब्दालकार वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत हुआ करते हैं। इनमें अमुक वर्ण अथवा अमुक शब्द अथवा अमुक वाक्य के प्रयोजन के कारण ही चमत्कार होता है और उसे निकाल लेने पर अथवा उसके स्थान पर कोई दूसरा वर्ण, शब्द अथवा वाक्य रख देने से वह चमत्कार समाप्त हो जाता है। अतः भाषा की दृष्टि से ऐसे अलकारों की उपयोगिता असदिग्ध है। तुलसी इस कला में कितने पटु हैं, इसका वहुत कुछ सकेत उनकी रचनाओं में प्रयुक्त विविध रूपात्मक शब्दावली के भीतर वरावर मिल जाता है। अस्तु, क्रमशः नीचे केवल अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति आदि एकाध शब्दालकारों का विश्लेषण नमूने के रूप में किया जा रहा है।

अनुप्रास

जहाँ व्यजनों की समता होती है, वहाँ अनुप्रास होता है,* इसके कई भेद हैं, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास आदि। क्रमशः इनके प्रयोग का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

छेकानुप्रास : जहाँ अनेक वर्णों की एक बार समता हो,§ उदाहरणार्थः—

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन॥[1]

यहाँ पर के कुद, इदु में 'न्द' की, रमन-करुना में 'र', 'न' की और 'करहु कृपा' में 'क' की, 'मर्दन मयन' में 'म', 'न' की एक बार समानता दृष्टिगोचर होती है।

वृत्यनुप्रास : वहाँ पर होता है, जहाँ वृत्तिगत अनेक वर्णों या एक वर्ण की अनेक बार समता हो।× उपनागरिका, परुषा और कोमला, इन वृत्तियों के अनुकूल वर्णों की समान योजना की जाती है। वृत्यनुप्रास के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

रघुनंद आनंद कंद कोसलचंद दसरथनदनं।[2]
महाभुज दड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरों।[3]
सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥[4]

उपर्युक्त पक्तियों के अतर्गत पहले उदाहरणों में माधुर्यगुणव्यंजक उपनागरिका

---

* रामदहिन मिश्र ' काव्य दर्पण पृ० ३४४

§ रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण पृ० ३४४।

× रामदहिन मिश्र . पृ० ३५४

१ रा० १, आरभिक सोरठा नं० ४ २ वि० ४५ ३ क० ६, १४

४ बरवै० २

वृत्ति के अनुकूल, दूसरे में ओजगुणव्यंजक परुषा वृत्ति के अनुकूल, तथा तीसरे में प्रसाद-गुणव्यंजक कोमला वृत्ति के अनुकूल वर्ण-योजना स्पष्ट है, और उन्हीं के भीतर रघुनंद आनंद कंद में 'न्द' की, दंड और द्वै में 'द' की, 'चोट चटाक' में 'च' और 'ट' की, 'सम सुबरन सुखमा कर सुखद' में 'स' की तथा 'कोमल कनक कठोर' में 'क' की एक या अनेक बार समता बड़े स्वाभाविक रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार इनमें वृत्यनुप्रास का बड़ा सुंदर रूप स्फुटित हुआ है।

श्रुत्यनुप्रास : वहाँ पर माना जाता है जहाँ कंठ, तालु आदि किसी एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में समानता पाई जाती है।* पिछले अनुप्रास के उदाहरणों में दिए हुए तीसरे उदाहरण के अंतर्गत पहली और दूसरी पंक्तियों में क्रमशः 'स' तथा 'क' की समता, जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है, इसी प्रकार की है। पहले में दन्त्य तथा दूसरे में कंठ्यवर्णों की समानता स्पष्ट है, अतः उनमें श्रुत्यनुप्रास हुआ। मूर्धन्य एवं ओष्ठ्य वर्णों की समता दिखाने वाली निम्नलिखित पंक्तियों में भी इस अनुप्रास का बड़ा सुंदर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, यथा—

छोनी में न छाँड्यो छप्यौ छोनिप को छोना छोटो,
छोनिप छपन बांको बिरदु बहतु हौं।[1]

यहाँ पर 'छोनी......छपन में मूर्धन्य 'छ' की तथा 'बांको बिरदु बहतु' में ओष्ठ्य 'ब' की समानता प्रत्यक्ष है, अतः श्रुत्यनुप्रास हुआ।

यमक

इसकी स्थिति वहाँ मानी जाती है जहाँ निरर्थक वर्णों अथवा भिन्नार्थक सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति हो अथवा उनकी पुनः श्रुति हो।† उदाहरणार्थ—

सीस बसै बरदा, बरदानि, चढ्यो बरदा घरन्यो बरदा है।[2]

उपर्युक्त पंक्ति में बरदा शब्द कई बार एक से अधिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पहले और चौथे बरदा का अर्थ बर देनेवाली और तीसरे का अर्थ 'बैल' है, यहाँ पर भिन्नार्थक सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति हुई है। बरदानि का बरदा अंश निरर्थक वर्णों की पुनरावृत्ति का उदाहरण कहा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ यमक अलंकार हुआ। ऐसे अनेक उदाहरणों से तुलसी की भाषा भरी पड़ी है।

पुनरुक्ति

भाव को अधिक रुचिकर बनाने के लिये, जहाँ एक ही बात को बार-बार कहा जाता है, वहाँ पुनरुक्ति अलंकार होता है।§ यद्यपि सामान्य दृष्टि से यह कवि के शब्द-

---

* रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३४६

† रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ३४७

§ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० ४५०

1 क० १, १८ 2 क० ७, १५५

कोष की कमी का सूचक और इस प्रकार दोष के रूप मे ग्रहण किया जाता है, किंतु जहाँ पर यह कथन की चमत्कार-वृद्धि में सहायक होता है, वहाँ अलंकार हो जाता है। उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पक्तियों में इस अलकार का कितना स्वाभाविक रूप मिलता है :—

सहेली सुनु सोहिलो रे।
सोहिलो सोहिलो सोहिलो, सोहिलो सब जग आज।[1]
भयो सोहिलो सोहिलो मो जनु सृष्टि सोहिलो सानी।[2]

इन पक्तियों में 'सोहिलो' शब्द की पुनरुक्ति के अतर्गत भगवान राम के अवतार की व्यापक आनदानुभूति को, तथा अयोध्या में ही नहीं, वरन् सूक्ष्म रूप से समस्त विश्व में होने वाली उल्लास-क्रीड़ा के भाव को भी अधिकाधिक रुचिकर बनाने का प्रयत्न विद्यमान है।

परपरागत अलकारों के अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अतर्गत आनेवाले अलकारों का भी, जिन्हें आधुनिक कवियों ने प्रचुर मात्रा में अपना लिया है, तुलसी की रचनाओं में अभाव नहीं है, उदाहरणार्थ—मानवीकरण (Personification) की दृष्टि से विचार करें तो मानव-भावनाओं, मानव-गुणों एव मानव-चेष्टाओं के आरोप करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप तुलसी की भाषा में भी वक्रता एवं चमत्कार की सृष्टि दृष्टिगोचर होती है, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में :—

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत *कठिनता अति अकुलानी*॥[3]
सीदत साधु *साधुता सोचति* खल बिलसत *हुलसति खलई* है।[4]

यहाँ पर कठिनता का अकुलाना, साधुता का सोचना तथा खलई का हुलसना आदि मानवीय व्यापार हैं, जिन का कवि ने उपर्युक्त निराकार भावों के प्रसंग में व्यवहार किया है। अतः यहाँ पर मानवीकरण अलकार हुआ।

इसी प्रकार *ध्वन्यर्थव्यंजना* (Onomatopoeia) को, जो शब्द-योजना की दृष्टि से मानवीकरण की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, ले सकते हैं। इसका अभिप्राय काव्यगत शब्दों की उस ध्वनि से है जो शब्द-सामर्थ्य से ही प्रसग और अर्थ का उद्बोधन करा कर एक चित्र सा खड़ा कर देती है और जिसके कारण काव्य के अंतरग में बैठने के पूर्व ही भाषा का बहिरंग लावण्य ही श्रोता और पाठक को आकर्षित कर लेने के लिए पर्याप्त होता है। तुलसी की भाषा में शब्द तथा उसमें अभिप्रेत भाव के सामजस्य को कितना महत्त्व दिया गया है, इसका सकेत निम्नलिखित दो उदाहरणों से हो जायगा :—

---

१ गी० १, २ २ गी० १, ४ ३ रा० २, ४१
४ वि० १३६

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥[1]
जय जय जानकीस दससीस करि केसरी,
कपीस कूद्यो वात घात वारिधि हलोरि कै।[2]

यहाँ पर 'ककन किंकिनि' शब्दों से कानों में नूपुर की ध्वनि-सी सुनाई पड़ती है, और 'हलोरि' शब्द से साक्षात् सिंधु की लहरों की हिलोर का चित्र खड़ा हो जाता है। इस प्रकार ये स्थल ध्वन्यर्थव्यंजना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

दोष

काव्यशास्त्रियों ने काव्य के अंतर्गत दोष की विभिन्न परिभाषाएँ मानी हैं जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं:—

१—काव्यास्वाद में जो उद्वेग पैदा करता है वह दोष है।+
२—शब्दार्थ द्वारा जो रस के अपकर्षक, हीनकारक हैं वे दोष हैं।†
३—जिस से मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो, वह दोष है।S
४—गुणों के विरोध में आने वालों को दोष कहते हैं।※
इस काव्य-दोष के तीन भेद होते हैं—(१) शब्ददोष, (२) अर्थदोष, (३) रसदोष
अपकर्ष भी तीन प्रकार का होता है:—

१—काव्यास्वादरोधक, २—काव्योत्कर्षविनाशक, ३—काव्यास्वादविलंबक। अभिप्राय यह कि कवि के अभिप्रेतार्थ की प्रतीति में जो अनेक प्रकार के प्रतिबंधक हैं, वह दोष हैं। दोषों की गणना नहीं हो सकती। पदगत, पदांशगत और वाक्यगत जो दोष हैं वे शब्दाश्रित ही हैं, इससे इनकी गणना शब्द दोषों में ही की जाती है।*

तुलसी की भाषा यद्यपि शब्दार्थगत दोषों से प्रायः मुक्त है, किंतु फिर भी छोटे-मोटे दोष यत्रतत्र मिल ही जाते हैं। इनमें कुछ का उल्लेख सक्षेप में किया जाता है:—

१—श्रुतिकटु: जहाँ कवि कानों को खटकने वाले शब्दों का प्रयोग करता है, वहाँ 'श्रुतिकटु' दोष होता है। रौद्र, वीर रस आदि के प्रसंग में उपयोगी होने के कारण यह दोष दोष नहीं रह जाता।* तुलसी की निम्नलिखित शब्दावली में इस दोष का उदाहरण देखिए—

---

१ रा० १, २३० २ क० ४, २७
+ उद्वेगजनको दोषः वेदव्यास · अग्निपुराण
† दोषास्तस्यापकर्षका· विश्वनाथ। साहित्य·दर्पण·
S मुख्यार्थहतिर्दोषो मम्मट· काव्य प्रकाश
※ गुणविपर्ययात्मानो दोषा। वामन: काव्यालंकारसूत्र
* राम दहिन मिश्र काव्य दर्पण पृ० २८८

यथा पट तंतु घट मृत्तिका सर्प स्रग दारु करि कनक *कटकांगदादी* ।[१]
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ।[२]

यहाँ पर टेढे अक्षरों वाले शब्दों में परुष वर्णों का प्रयोग कानों को खटकता है, और उद्वेगजनक है, अतः श्रुतिकटु दोष है ।

२—**च्युतसंस्कार** : भाषा-संस्कारक व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग होना च्युतसस्कार दोष है ।× उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पक्तियां में प्रयुक्त 'प्रस्न' और 'इतिहास' स्त्रीलिंग में आए हैं, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से ये पुल्लिंग हैं । यह लिंगदोष, 'च्युतसस्कार दोष' के ही अतर्गत आएगा ।

उमा *प्रस्न* तव सहज सुहाई ।[३]
यह *इतिहास* पुनीत अति, उमहिं कही वृषकेतु ।[४]

३—**अप्रयुक्त** : व्याकरण आदि से सिद्ध पद का भी अप्रचलित प्रयोग होना 'अप्रयुक्त दोष' कहलाता है ।+ उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्ति में प्रयुक्त 'मच्छर', जो 'मत्सर' का प्राकृत रूपातर है (उसी प्रकार, जैसे 'वच्छ' 'वत्स' का), यद्यपि व्याकरण से ठीक सिद्ध हो सकता है किंतु वह काटने वाले 'मच्छड़' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, मत्सर के अर्थ में नहीं । अतः यहाँ शीघ्र अर्थावगम न होने से अप्रयुक्त दोष है ।

मच्छर काहि कलंक न लावा ।[५]

इसी दोष का उदाहरण निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'बिधुबैनी' शब्द में भी मिलता है । बिधुबैनी का 'बैन' अश 'मैन' (मदन) जैसे शब्दों की तुलना में 'बदन' का सूचक सिद्ध होने पर भी, हिंदी रचनाओं में 'वचन' के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, 'बदन' के अर्थ में नहीं, किंतु तुलसी ने यहाँ पर इसका इसी (बिधु बदनी के) अर्थ में प्रयोग किया है । अतः यहाँ 'अप्रयुक्त दोष' स्पष्ट है ।

संग लिए *बिधुबैनी* बधू रति को जेहि रचक रूप दियो है ।[६]
यहि मारग आज किसोर बधू *बिधुबैनी* समेत सुभाय सिधाए ।[७]

४—**निरर्थक** : पादपूर्ति के लिए या छद-सिद्धि के लिए अनावश्यक पदों के प्रयोग में यह दोष होता है ।T उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्दों में—

---

१ वि० ४४ २ रा० ७, १२१ ३ रा० १, ११४
४ रा० १, २४२ ५ रा० ७, ७१ ६ क० २, १६
७ क० २, २४

× राम दहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २८८
+ राम दहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २८६
T राम दहिन मिश्र : काव्य दर्पण पृ० २९०

सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही।[1]
तौ तोरी करतूति मातु सुनि, प्रीति प्रतीति कहा हीं।[2]

पहली पंक्ति में 'सुमंद' का 'सु' केवल पाद पूर्ति और दूसरी पंक्ति में 'हीं' केवल छंद की अनुप्रास-सिद्धि के लिए ही आए हैं, अतः यहाँ निरर्थक दोष कहा जायगा।

५—अश्लील : जहाँ लज्जाजनक, घृणास्पद और अमंगलवाचक पद प्रयुक्त हों, वहाँ यह दोष होता है।※ उदाहरणार्थ तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश में—

जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ *गई किन च्वै*।[3]
नतरु बाँझ भलि बादि *बिआनी*।

यहाँ गर्भपात का बोध कराने के लिए 'चू जाना' शब्दो का व्यवहार हुआ है, जो लज्जाजनक एवं घृणास्पद प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'बिआनी' शब्द भी मानवीय पुत्र-प्रसव करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः अश्लील दोष से युक्त है।

६—अवाचक : जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ के लिए किया जाय, उस शब्द से वह वांछित अर्थ न निकले, तो यह दोष होता है,§ जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्दों में—

सो गोसाइँ नहिं दूसर *कोपी*।[4]
मरन नीक तेहि जीवन *चाही*।[5]

यहाँ 'कोपी' तथा 'चाही' का वस्तुतः 'कोई भी' (कोऽपि) तथा 'की अपेक्षा' (अपादान कारक-परसर्ग 'चाहि' जिसका दीर्घ स्वरान्त रूप यहाँ प्रयुक्त है) के अर्थ में क्रमशः प्रयोग किया गया है, किंतु दोनों का सामान्य अर्थ होता है क्रमशः 'क्रोधी' और 'इच्छा करना' अथवा 'देखना'। अतः उक्त दोष हुआ। चौपाई छंद की मात्रा-पूर्ति के प्रयास में शब्द के विकृत हो जाने से यह दोष आ गया है।

७—अक्रम : जहाँ क्रम विद्यमान न हो, अर्थात जिस पद के पश्चात् जो पद रखना उचित हो, उसका न रखना अक्रम दोष है† उदाहरणार्थ—

रानी मैं जानी अजानी महा पबि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।[6]
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो।[7]

---

१ रा० १, ८६   २ गी० २ ६१   ३ क० ७, ४०
४ रा० २, २६६   ५ र० २, २१   ६ क० २, २०
७ क० ६, ५४
※ रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण पृ० २६१
§ रामदहिन मिश्र . काव्य दर्पण पृ० २६० ३३, रा० २, ७५
† रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण पृ० २६७

यहाँ पर पवि (वज्र) की कठोरता कह चुकने के पश्चात् अपेक्षाकृत उससे कम कठोर 'पाहन' (पत्थर) की कठोरता का कथन व्यर्थ ही हो जाता है, अतः यह अक्रम दोष है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'मन' को सबसे पीछे होना चाहिए था। मन का वेग कह चुकने पर खगराज के वेग का कथन अनावश्यक हो जाता है अतः इसमें भी अक्रम दोष है।

८—भग्नप्रक्रम : जहाँ आरंभ किए गए प्रक्रम (प्रस्ताव) का अंत तक निर्वाह न किया जाय, अर्थात् पहले का ढग टूट जाय, वहाँ यह दोष होता है[S]। उदाहरणार्थ—

सचिव बैद गुरु तीनि जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तनु तीनि कर, होइ बेगि ही नास॥[1]

यहाँ सचिव, वैद्य और गुरु, के क्रम से राज, तनु व धर्म होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं है अतः भग्नप्रक्रम दोष हुआ।

भाषा-विषयक स्फुट दोषों के अतर्गत यत्रतत्र छंद-सुविधादि के लिए शब्दों के तोड़मरोड़ की प्रवृत्ति का उल्लेख भी किया जा सकता है, जैसे निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त 'पवनि' और 'सदई' क्रमशः 'पावनि' और 'सदाई' के तोड़ेमरोड़े रूप हैं, जो तुलसी जैसे समर्थ कवि की भाषा में खटकते हैं :—

स्रवन-सुख-करनि, भव सरिता तरनि, गावत तुलसिदास कीरति *पवनि*।[2]
उथपे-थपन उजार-बसावन, गई-बहोर बिरद सदई है।[3]

प्रयोगावस्था में उक्त दोषों के आ जाने पर भी उनकी भाषा एक सिद्ध कवि की भाषा है, इसमें कोई सदेह नहीं।

सामान्य कला-पक्ष

भाषा के सामान्य कला-पक्ष में कवि का वाक्चातुर्य, शब्द-योजना का नैपुण्य, विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट स्थलों पर प्रयोग, वर्ण मैत्री, शब्द-मैत्री, नाद-सौंदर्य इत्यादि ऐसे विषय आते हैं, जिनका काव्य-शास्त्र के अतर्गत पारिभाषिक रूप से उल्लेख नहीं हुआ करता और जिनके चमत्कार का बोध काव्यशास्त्रीय नियमों से सर्वथा अनभिज्ञ सामान्य पाठक को भी सरलता से हो जाता है। इस सामान्य कला-पक्ष के संबध में पीछे थोड़ा निर्देश किया जा चुका है।

भाषा के सामान्य कला-पक्ष का विश्लेषण करते समय इस बात की ओर सकेत कर देना आवश्यक होगा कि आधुनिक पाश्चात्य साहित्य क्षेत्र में तथा बहुत कुछ उसी के फलस्वरूप आधुनिक हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में कला का जिस व्यापक अर्थ में (काव्य अथवा साहित्य के अर्थ में) प्रयोग होने लगा है, उसका प्रचलन तुलसी की पूर्वकालीन अथवा तत्कालीन काव्य-परम्परा में नहीं था। अधिकांश प्राचीन भारतीय

---

१ रा० ९, ३७ २ गी० ३, ९ ३ वि० १३१

S रामदहिन मिश्र . काव्य दर्पण पृ० २३७

धारणाओं के अनुसार काव्य के केवल कुछ मनोविनोद-प्रधान रूपों को छोड़कर, जिन्हें समस्यापूर्ति व प्रहेलिका आदि की संज्ञा दी गई है, अन्य अर्थों में कला शब्द इस क्षेत्र में नहीं प्रयुक्त होता। यहाँ पर यह सब कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि तुलसी की शब्दावली में कुछ ऐसे रूपो के विधान का प्रयत्न विद्यमान है, जिन्हें उक्त अर्थ में कला-पक्ष का उत्कर्ष-सूचक कहा जा सकता है, यद्यपि उन्हें कला के व्यापक अर्थ में नहीं ग्रहण किया जा सकता।

समस्या-पूर्ति की कला को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं, जिसका संबंध थोड़ा बहुत शब्द-योजना की चातुरी से भी स्थापित हो जाता है। इस कला में तुलसी की कोई विशेष अभिरुचि नहीं जान पड़ती, यद्यपि इस कला में उनकी कुशलता का प्रमाण कुछ स्थलों पर मिल जाता है, उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की दूरि करैं॥
दमकैं दतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कलबाल विनोद करैं।
अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में विहरैं॥[1]
कबहूँ ससि मांगत आरि करैं कबहूँ प्रतिविंब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में विहरैं॥[2]

उपर्युक्त दोनों सवैयों में अंतिम पंक्ति का एक ही होना बहुत कुछ समस्या-पूर्ति की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। ऐसे और भी बहुत से स्थल तुलसी की कवितावली-जैसी रचनाओं में मिल जाते हैं। इसी प्रकार नीचे के कवित्तों मे 'खाती दीप मालिका ठठाइयत सूप है' अथवा 'धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को' इन वाक्यों का व्यवहार भी किसी-न-किसी रूप में उक्त कला की ओर ही इंगित करता है (ऐसा जान पड़ता है मानो ये दोनों वाक्य समस्याओं के रूप में दिए गए हों, जिनकी पूर्ति के लिए पूर्ण कवित्तों की रचना की गई हो)—

लोक बेदहू विदित बाराणसी की बड़ाई,
बासी नर नारि ईस अंबिका स्वरूप हैं।
कालनाथ कोतवाल दंडकारि दंडपानि,
सभासद गनप से अमित अनूप है॥
तहाँउ कुचालि कलिकाल की कुरीति कैधौं,
जानत न मूढ़ इहाँ भूतनाथ भूप हैं।

---

1 क० १, ३ 2 - क० १, ४

फलैं फूलैं फैलैं खल सीदैं साधु पल पल,
खाती दीपमालिका टठाइयत सूप हैं ॥[1]
राग को न साज न बिराग जोग जाग जिय
काया नहि छाँड़ि देत ठाठिबो कुठार को।
मनोराज करत अकाज भयो आजु लगि
चाहे चारु चीर पै लहै न टूक टाट को॥
भयो करतार बड़े कूर को कृपालु, पायो
नाम प्रेम पारस हौं लालची वराट को।
तुलसी बनी है राम रावरे बनाये ना तौ,
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को ॥[2]

कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी में मध्यकालीन सस्कृत-कवियों तथा रीतिकालीन हिंदी-कवियों की सी 'कलाबाज़ी' की प्रवृत्ति नहीं मिलती। उनमें जो कुछ सामान्य कला-पक्ष का विकास अन्य क्षेत्रों की भाँति भाषा के क्षेत्र में मिलता है, वह प्रायः अनायास स्वाभाविक रूप में आ गया है। उसमें पांडित्य-प्रदर्शन अथवा दूर की सूझ दिखाने की मनोवृत्ति नहीं दिखाई देती, यद्यपि पांडित्य और ऊहा का विकास भी उचित सीमा के भीतर उनकी भाषा में बराबर पाया जाता है। निम्नलिखित पंक्तियों में मानस के अतर्गत सुवेल पर्वत पर बैठे हुए राम की, चद्रमा के कलक के विषय में, सहचरों के साथ जिस चर्चा का वर्णन है, वह भाषा के काव्यशास्त्रीय विनोदों के अतर्गत ही गिनी जायगी।

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति सरिस असंक॥

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बलरासी॥
मत्त नाग तम कुंभ बिदारी। ससि केहरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥
कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महुँ प्रगट भूमि कै झाँई॥
मारेउ राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रकट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिअ नभ परछाहीं॥
प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नरनारी॥

---

१. क० ६,१७१ २. क० ७,६६

कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति, सोइ स्यामता भास ॥[1]

इसी प्रकार समुद्र के खारेपन के संबंध में कही हुई हनुमानजी की निम्नलिखित उक्ति भी भाषा के सामान्य कला-पक्ष के उत्कर्षक वाक्चातुर्य के अंतर्गत आएगी—

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोख्यो प्रथम पयोनिधि वारी॥
तव रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहिं खारा॥
सुनि अति उकुति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी॥[2]

कहना न होगा कि ऐसी मनोविनोद-प्रधान कलात्मकता के प्रति तुलसी की अधिक अभिरुचि नहीं रही है। इसका प्रधान कारण यह है कि उनके काव्य के विषय-तत्व तथा वातावरण एवं रचनास्थल की विशेषता उन्हें ऐसा करने के लिए अवकाश ही नहीं देती। चमत्कारक उक्तियों वाली रचनाओं के लिए उपयुक्त प्रयोगस्थली प्रायः राजसभाएँ और क्रीड़ा-गोष्ठियाँ ही हुआ करती थीं जिनका तुलसी के व्यक्तिगत काव्य-जीवन से कोई विशेष सपर्क न था; अतएव उनकी भाषा के कला पक्ष में भी उक्त प्रवृत्ति का न पाया जाना सर्वथा स्वाभाविक ही था। इस प्रवृत्ति का उपर्युक्त वातावरण से घनिष्ठ संबंध होने की पुष्टि प्राचीन अनुश्रुतियाँ भी करती हैं। रुद्रट ने स्पष्ट रूप से मात्राच्युतक, बिंदुमती, प्रहेलिका आदि को केवल क्रीड़ा-मात्र के लिए उपयोगी माना है,* और दंडी के मतानुसार भी प्रहेलिकाओं का उपयोग क्रीड़ागोष्ठियों के विनोद में, साहित्य-रसिकों की बैठक में और दूसरों को मोहित करने के लिए ही होता है।† तुलसी वैसे भी उन कवियों की श्रेणी में तो थे नहीं, जिनके संबंध में दंडी ने कहा है कि प्रातिभ कवित्व-शक्ति के न होने पर भी अभ्यास एवं परिश्रम से काव्य-विद्या का उपार्जन करके वे कम-से-कम विदग्धगोष्ठियों में विहार करने के योग्य तो बन ही सकते हैं।ऽ अतः उनकी भाषा में ऐसी कसरती कला की खोज करने का प्रयत्न वस्तुतः हमारी सकुचित धारणा का ही द्योतक सिद्ध होगा।

---

1 रा० ६, १२ 2 रा० ६, १

* मात्राबिंदुच्युतके प्रहेलिकाकारकक्रियागूढ़े।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीडामात्रोपयोगमिदं। रुद्रट, : काव्यालंकार ५, २४

† क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमंत्रणे।
परव्यामोहनेचापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः। दंडी : काव्यादर्श ३, ९७

ऽ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमुत्तमम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
ततस्तन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।
दंडी : काव्यादर्श, १०४-१०५

तुलसी में वाक्चातुर्य का जो स्वरूप मिलता है, वह विविधता और अनेकरूपता के साथ-साथ उक्तिवैचित्र्य की मार्मिकता एवं सुबोधता लिए हुए हमारे समक्ष उपस्थित होता है। यही कारण है कि हम उससे आकृष्ट एवं प्रभावित तो होते हैं, किंतु इस प्रकार के क्षणिक कुतूहल अथवा चमत्कार के शिकार नहीं बन पाते, जिसका अनुभव हमें बिहारी की विरहिणी की

'इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥'[1]

जैसी उक्तियों में होता है। यहाँ पर सूरदास के 'बिधि वाहन भच्छन की माला' जैसे दृष्टिकूटों तथा कबीर की 'नैया बिच नदिया डूबत जाय' जैसी उलटबाँसियों के चक्कर में फँसकर की जाने वाली मानसिक दौड़धूप अथवा दिमागी कसरत से उत्पन्न क्षणिक आवेश अथवा आश्चर्य की भावना को भी उठने का कोई विशेष अवकाश नहीं मिल पाता। हाँ, इतना अवश्य है कि वे उन पद्धतियों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे, संभवतः इसी भ्रम के निराकरण के उद्देश्य से ही कदाचित् बानगी के रूप में यत्रतत्र कुछ ऐसे प्रयोग वे कर भी गये हैं, जिनमें दृष्टिकूट-पद्धति का सुंदर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है— उदाहरणार्थ दोहावली की निम्नलिखित पंक्तियाँ जहाँ एक ओर संक्षेप में ज्योतिष-ज्ञान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती हैं, वहीं दूसरी ओर उक्त दृष्टिकूट-पद्धति का भी नमूना प्रस्तुत करती हैं—

स्रुति गुन कर गुन पु जुग मृग, हय रेवती सखाउ।
देहि लेहि धन धरनि धरु, गएहु न जाइहि काउ॥
ऊ गुन पू गुन वि अज कृ म, आ भ अ मू गुनु साथ।
हरो धरो गाड़ो दियो, धन फिर चढ़ै न हाथ॥
रवि हर दिसि गुन रस नयन, मुनि प्रथमादिक बार।
तिथि सब काज नसावनी, होइ कुजोग बिचार॥
ससि सर नव दुइ छ दस गुन, मुनि फल बसु हर भानु।
मेषादिक क्रम तें गनहिं, घात चंद्र जिय जानु॥[2]

किंतु इस उदाहरण के पीछे एक ऐसी विशिष्ट परिस्थिति विद्यमान है कि यह हमें खटकता नहीं। ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत संख्या की सूचना के लिए दृष्टिकूटों की पद्धति प्रचलित रही है, उसी का उपयोग कवि ने किया है। यदि स्वतन्त्र स्थलों पर इस शैली का उपयोग किया गया होता, तो वह स्वाभाविक काव्य-भाषा के लावण्य में बाधक होता।

इसी प्रकार उलटबाँसियों की पद्धति से भी तुलसी अभिज्ञ थे, जिसका प्रमाण हमें विनयपत्रिका के निम्नलिखित पद में भली भाँति मिल जाता है। टेढ़े अक्षरों वाले अंश विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

---

1 बिहारी सतसई, ४६६

2 दोहावली ४५९ से ४६१ तक

केशव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये ।।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहि, तनु विन लिखा चितेरे।
धोए सिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे ।।
रबि कर नीर वसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
वदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाही ।।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रवल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ।।[1]

यहाँ पर शून्य भीति पर चित्र होना, बिना रंग का चित्र होना, चितेरे का शरीर-रहित होना, धोने से न मिटना, तथा बिना मुख के चराचर को ग्रसने वाले मकर की कल्पना इत्यादि सब उलटबाँसी-पद्धति के ही अंतर्गत माना जायगा, किंतु दार्शनिक विषय-तत्व के निरूपण में इस पद्धति का अवलम्बन करके तुलसी ने इसे भी मानसिक व्यायाम मात्र का रूप न देकर उपयोगी एवं स्वाभाविक बना दिया है, यही उनकी विशेषता है।

बिहारी जैसे कवियों के समान शब्दों के खेल द्वारा क्षणिक कुतूहल एवं चमत्कार की सृष्टि करने की कला में भी, जिस का एक उदाहरण पीछे दिया जा चुका है, तुलसी कितने कुशल थे, इस तथ्य की पुष्टि के लिए निम्नलिखित सवैया ही पर्याप्त होगा, जिस के अंतर्गत हनुमानजी की तीव्र गति का चित्रात्मक वर्णन अद्‌भुत रूप में उपस्थित किया गया है—

लीन्हो उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो।
मारुत नंदन मारुत को मन को खगराज को बेग लजायो ।।
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परव्वत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ।।[2]

यहाँ पर बिहारी की विरहिणी नायिका की उक्ति की सी, जिसका पीछे संकेत किया जा चुका है, अस्वाभाविकता की कहीं गंध भी नहीं मिलती, क्योंकि एक तो यहाँ पर गति की तीव्रता का ही चरम रूप अंकित करना अभिप्रेत है, जिसकी प्रतीति प्रायः हमारे दर्शक नेत्रों को इसी रूप में होती भी है, दूसरी बात यह कि हनुमान पवन के पुत्र होने के साथ-साथ लक्ष्मण के पास पहुँचने को अत्यन्त आतुर मन लिए हुए अपनी शक्ति और अपने आराध्य की शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करते हुए अतिशय वेग के साथ चल रहे हैं। ऐसी तो वस्तुस्थिति है और उसमें पड़कर कवि यह भी सूचित कर देता है कि उसे कोई उपमा शीघ्रता में न मिल सकी, और भावावेश में यही चमत्कारपूर्ण उपमा उसके मुँह से सहसा निकल पड़ी! कवि का यह स्पष्टीकरण, रही-सही अस्वाभाविकता

---

१ वि० १११ २ क० ६, २४

की सभावना को भी समाप्त कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण-से-साधारण चमत्कारक उक्तियों को प्रस्तुत करते समय भी पग-पग पर कवि कितना सजग और सावधान रहा है।

कहने का तात्पर्य यह कि कोरे क्षणिक चमत्कार एव कुतूहल की सृष्टि करने वाली प्रयोग-पटुता रखते हुए भी 'सरल कवित' के समर्थक होने के नाते तुलसी ने उक्त प्रकार के ओछे स्तर के कला-पक्ष को अपनी भाषा में जानबूझ कर ही नहीं अपनाया। अब हम उनके वाक्चातुर्य के विश्लेषण की ओर अग्रसर होते हैं।

तुलसी अपने वाक्चातुर्य का उपयोग विशेष परिस्थितियों में विशेष ढग से और विशेष मात्रा में करते हैं, जो उनकी अभिरुचि तथा अधिकार की व्यापकता का द्योतक है। इनमें से कुछ प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालने वाली बातों का सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

वाक्चातुर्य के क्षेत्र में चित्राकन, वर्णन, हास्य, व्यग्य, उपालंभ, विरोध, खीझ, विस्मय तथा आत्मविश्वास आदि विभिन्न विषयों एव भावों को अधिकाधिक सजीव एव प्रभावशाली रूप में उपस्थित करने के अभिप्राय से किए गए प्रयोग लिए जा सकते हैं। इनमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन प्रयोगों में कवि की दृष्टि किसी वस्तुस्थिति को पाठकों के लिए अधिकाधिक स्पष्ट एव सुबोध बनाने पर ही अधिक जान पड़ती है, न कि उनको अपनी हवाई छलाँग से चकाचौंध अथवा स्तभित कर देने की ओर। वैसे तो ऐसे बहुत से प्रयोगों का शास्त्रीय विधान भी मिलता है, जिनका संकेत पीछे शब्दशक्तियों के उपयोग के सूचक स्थलों में बहुत कुछ मिल जाता है, किंतु यहाँ पर हमारा अभिप्राय केवल ऐसे ही प्रयोगों से है, जिनके चमत्कार को काव्यशास्त्रीय लक्षणों से सर्वथा अपरिचित सामान्य पाठक अथवा श्रोता भी ग्रहण कर सकता है।

चित्रांकन में उपलब्ध वाक्चातुर्य का जो रूप दृष्टिगोचर होता है, उसके भीतर उन प्रसंगों में व्यवहृत प्रयोग आते हैं, जहाँ पर कवि किसी पात्र, देश अथवा काल की रूपरेखा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कोमल अथवा उग्र, रमणीय अथवा भयानक प्रभाव की सृष्टि करनेवाली शब्दावली का सहारा लेता है। वातावरण की विभिन्नता के अनुसार इस शब्दावली में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

राम अथवा चारों भाइयों के बाल-रूप का चित्राकन करते हुए जिस कोमल एव वात्सल्य व्यजक शब्दावली का व्यवहार तुलसी ने अपने वाक्चातुर्य को प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित पक्तियों में किया है, वह इतनी पूर्ण और सार्थक है कि उसके स्थान में अन्य पर्यायवाची शब्दों के रख देने से वातावरण के चित्रांकन में कृत्रिमता आ जाती।

वर दंत की पगति कुद कली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥

घुँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥[1]

छोटी छोटी गोड़ियाँ छबीली छोटी, नख ज्योति मोती मानो कमल दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं ठुमुकु ठुमुकु चलैं, झुँझुनु झुँझुनु पाँय पैंजनी मृदु मुखर ॥
किंकिनी कलित कटि हाटक जटित मनि, मंजु कर कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर।
पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली, बालक दामिनि ओढ़े मानो बारे बारिधर॥
उर बघनहा कंठ कठुला झँडूले केस, मेढ़ी लटकनि मसि बिंदु मुनि मनहर।
अंजन रंजित नैन चित चोरै चितवनि, मुख सोभा पर वारौं अमित असम सर ॥
चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता, बाल केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि किलकि हँसैं द्वै द्वै दँतुरियाँ लसैं, तुलसी के मन बसैं तोतरे बचन बर ॥[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त दंत की पंगति, घुँघुरारी लटैं, बलि जाउँ लला, ठुमुक ठुमुक, पहुँचियाँ, झीनी झंगुली, बघनहा, कठुला, मेढी, अजन, चुटकी बजावती नचावती, मल्हावति, किलकि किलकि तथा द्वै द्वै दँतुरियाँ इत्यादि टेढे अक्षरों वाले अंशों में गृहस्थ परिवार के सरल एवं वात्सल्यपरक बोलचाल की जिस सरल शब्दावली को जड़ कर तुलसी ने अपने चित्रांकन में प्राण फूँके हैं, वह उनके वाक्चातुर्य की ही द्योतक है।

यह तो एक सरल एवं कोमल वातावरण के चित्रांकन में व्यवहृत शब्दावली में निहित वाक्चातुर्य का उदाहरण हुआ। अब एक उग्र एवं भयानक परिस्थिति के चित्रांकन में जिस प्रकार के प्रयोगों का समावेश करके तुलसी प्रभाव-वर्द्धन का प्रयत्न करते हैं, उसकी तुलना ऊपर की शब्दावली से कीजिये, उदाहरणार्थ हनुमानजी के विकट रूप के चित्रण में प्रयुक्त निम्नलिखित पंक्तियाँ—

जयति जय बज्र तनु दसन नख मुख विकट, चंड भुज दंड तरु सैल भानी।
समर तैलिक यंत्र तिल तमीचर निकर पेरि डारे सुभट घालि घानी ॥
जयति दसकंठ घटकरन बारिदनाद कदन कारन कालनेमि हंता।
अघट घटना सुघट सुघट विघटन विकट भूमि पाताल जल गगन गंता।[3]
मत्त भट मुकुट दसकंध साहस सइल सृंग विद्दरन जनु बज्र टांकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ सेस संकुचित संकित पिनाकी ॥
चलित महि मेरु उच्छलित सायर सकल विकल विधि बधिर दिसि विदिस झाँकी।
रजनीचर-घरनि घर गर्भ-अर्भक स्रवत सुनत हनुमान की हाँक बाँकी ॥[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त बज्र तनु, विकट मुख, चंड भुज दंड, अघट घटना सुघट, सुघट विघटन विकट, मत्त भट मुकुट, सृंग विद्दरन, बज्र टांकी, उच्छलित सायर तथा बाँकी हाँक आदि प्रयोगों में जिस उग्रता और भयानकता का चित्रण है, वह देखते ही बनता है।

---

१ क० १.५ २ गी० १, ३० ३ वि० २५
४ क० ६, ४४

वर्णन में प्रयुक्त शब्दावली के अंतर्गत वाक्चातुर्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि ऐसे प्रयोगो में तुलसी की भाषा का कौशल किसी विशेष दृश्य के वर्णन में विशदता तथा सागरूपता लाने के लिए घटनाओं, चेष्टाओं तथा क्रियाओं के द्योतक विशेष शब्दों एव वाक्यों की योजना में अभिव्यक्त हुआ है। कहीं-कहीं एक ही शब्द अथवा वाक्य एक ही स्थान पर कई-कई बार व्यवहृत हुए हैं, जो बाहर से देखने में पुनरुक्ति दोष के उदाहरण से जान पड़ते हैं, किंतु वर्णन को एक सप्राण रूप देने में उनका जो हाथ रहा है, उस पर ध्यान देने से उनकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त उनमें और कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि तुलसी का शब्द सगठन इतना सार्थक एव प्रभावशाली है, कि वह वर्णन को तुरत सजीव कर देता है। शब्द-सहिति, पद-सगठन और वर्ण-मैत्री, ये सब बातें मिलकर भाषा और छद को एक विशेष गति प्रदान करती हैं। दूसरे, वातावरण के अनुकूल परिवर्तित होने वाले प्रयोगों की शृंखला भी उक्त प्रभाव को और बढा देती है। हम नीचे कुछ उदाहरणों द्वारा उक्त तथ्य की पुष्टि करेंगे।

निम्नलिखित कवित्त में 'बानर' शब्द की बार-बार आवृत्ति करने से वर्णन में सजीवता लाकर जिस वाक्चातुर्य की व्यजना हुई है, वह देखते ही बनता है :

बीथिका बजार प्रति, अटन अगार प्रति, पवन पगार प्रति *बानर* बिलोकिये।
अधऊर्द्ध *बानर*, बिदिसि दिसि *बानर* है, मानहुँ रह्यो है भरि *बानर* तिलोकिये॥[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियों में धाओ, छोरो, जागि, पानी, लागि तथा भागि आदि शब्दों की पुनरावृत्ति भी ध्यान देने योग्य है :

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत
जरत निकेत *धाओ धाओ* लागि आगि रे।
हाथी *छोरो*, घोरा *छोरो*, महिष बृषभ *छोरो*,
छेरी *छोरो* सोवै सो जगावौ *जागि जागि* रे॥[2]
पानी पानी पानी सबै रानी अकुलानी कहैं जाति हैं
परानीं गति जानि गज चालि है।[3]
लागि लागि आगि *भागि भागि* चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।[4]

कहने की आवश्यकता नहीं, कि लका-दहन वर्णन को ही सजीवता प्रदान करने के लिए उपर्युक्त पक्तियों में कुछ विशेष शब्दों की पुनरावृत्ति की गई है और वह सब प्रकार से उपयोगी एव प्रभावशालिनी है।

शब्द-सहिति, पद-सगठन एव वर्ण-मैत्री के स्फुट सौंदर्य को प्रस्तुत करने वाली

---

१ क० ५ १७ २ क० ५, ६ ३ क० ५, १०
४ क० ५, १५

निम्नलिखित पंक्तियाँ भी देखिए :—

जटा मुकुट कर सर धनु संग *मरीच* ।
चितवनि वसति *कनखियन अँखियन* बीच ॥[1]

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।[2]
तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से ।[3]

टेढ़े अक्षरों में आए हुए वर्णों की योजना में जिस वाक्चातुर्य की मधुर व्यंजना विद्यमान है, उसकी विशेषता देखते ही बनती है ।

भरत के चित्रकूट जाते समय उनमें राम के प्रति विरोधभाव की आशंका के कारण, निषाद की उत्साहपूर्ण तैयारी के वर्णन में जिस उपयुक्त शब्दावली के चयन द्वारा कवि ने अपने वाक्चातुर्य का परिचय दिया है वह निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले स्थलों में द्रष्टव्य है । इस प्रकार के अनेक उदाहरण तुलसी की रचनाओं में मिलेंगे ।

अस विचारि गुहँ ग्याति सन, कहेउ *सजग सब होहु* ।
हथवाँसहु बोरहु तरनि, कीजिय *घाटारोहु* ॥
होहु सँजोइल रोकहु घाटा । ठाटहु सकल *मरै के ठाटा* ॥
सनमुख *लोह भरत सन लेऊँ* । जियत न सुरसरि उतरन देऊँ ॥
जायँ जियत जग सो महि भारू । जननी जोवन बिटप कुठारू ॥
सुमिरि राम पद पंकज पनहीं । *भाथीं बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं* ॥
अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं । *फरसा बाँस सेल* सम करहीं ॥
एक कुसल अति *ओड़न खाड़े* । कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँड़े ॥[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में निषाद के सैनिक भाषण तथा निषाद के साथी सैनिकों की चेष्टाओं के वर्णन में जो शब्दावली व्यवहृत हुई है वह सर्वथा परिस्थिति को यथातथ्य रूप में उपस्थित करने में समर्थ हुई है ।

इसी वाक्चातुर्य को और अधिक आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूप देनेवाले कुछ ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जिनमें किसी विशेष भाव की तीव्रता व्यंजित है । शब्द और अर्थ दोनों के प्रयोग की विलक्षणता द्वारा तथा कथनों के उलटे-सीधे कई ढंगों द्वारा तुलसी अपनी शब्दावली में जान डाल देते हैं, कुछ उदाहरण उक्त तथ्य की पुष्टि में नीचे दिए जाते हैं ।

गीतावली के अंतर्गत राम वनवास के अवसर पर सुमंत के प्रति, जब कि वे राम को बिना साथ लिए हुए, उन्हें वन में पहुँचा कर, लौट आए हैं, मरणासन्न दशरथ की निम्नलिखित उक्ति में उनकी मनस्थिति की व्यंजना अभिप्रेत है—

सुनि सुमंत कि आनि सुंदर सुअन सहित जिआउ ।
दास तुलसी नतरु मोको *मरण अमिय पिआउ* ॥[5]

---

१ बरवै० १०　　२ रा० १, २३०
३ क० १, १　　४ रा० २, १८६ । १-१　　५ गी० २, ५०

यहाँ पर 'मरण अमिय' (दशरथ के लिए ऐसी परिस्थिति मे जीवन की अपेक्षा मरण ही अधिक सुखदायक होने से, यहाँ पर मरण को ही उनके लिए अमृत कहा गया है) के व्यजक प्रयोग के साथ-साथ दशरथ की वियोग-वेदना की तीव्रता भी द्रष्टव्य है।

वनवासी राम के वियोग मे दुखित कौशल्या के निम्नलिखित शब्द देखिए :—

> हाथ मीजिबो हाथ रह्यो।
> पति सुर पुर सिय राम लखन बन, सुनि व्रत भरत गह्यो।
> हौं रहि घर *मसान पावक ज्यों, मरिबोई मृतक* दह्यो।[1]

यहाँ पर कौशल्या द्वारा यह उक्ति कि 'मैंने श्मशान की अग्नि के समान मृत्यु को ही मृतक बना कर जला दिया है, अतः मेरा मरण भी अब सभव नहीं' व्यंग्य रूप में कितनी गहरी भाव-तीव्रता को व्यक्त करती है।

हास्य और विनोद में प्रयुक्त शब्दावली के अतर्गत उपलब्ध वाक्चातुर्य का विश्लेषण करने से पूर्व इस बात का सक्षिप्त विवेचन कर देना आवश्यक होगा कि तुलसी की इन विषयों के प्रति कितनी और कैसी अभिरुचि रही है। वस्तुतः तुलसी जिस गंभीर क्षेत्र को लेकर अपनी काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं और जितनी ऊँची भावभूमि पर उनका व्यक्तित्व प्रतिष्ठित है, उसको देखते हुए उन में हास्य और विनोद की वृत्ति इतनी अधिक मात्रा में विद्यमान है कि एक सामान्य पाठक व श्रोता को सहसा विश्वास ही नहीं हो पाता, कि एक ही व्यक्ति एक साथ ही इतना अधिक गभीर और इतना अधिक विनोदी हो सकता है, क्योंकि प्रायः ऐसा सयोग बहुत कम दिखाई देता है। जिस श्रेणी के कवियों में तुलसी की गणना की जाती है, उसको देखते हुए उनकी हास्य और विनोद के प्रति इतनी अभिरुचि होना, एक विशिष्ट महत्व की बात है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उनका हास्य और विनोद सर्वत्र मर्यादा और शिष्टता को लिए हुए है, साथ ही ऐसे स्थलों पर भी अनावश्यक रूप से उक्त प्रवृत्ति का प्रदर्शन नहीं किया गया, जहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, परिस्थिति प्रतिकूल होने से, वह अस्वाभाविक प्रतीत हो। इस विषय में सबसे अंतिम उल्लेखनीय बात यह है कि हास्य और विनोद की सृष्टि में शब्दों का खेलवाड़ मात्र नहीं, अपितु मनोरजक एव कुतूहलोत्पादक अर्थ और प्रसग के सकेत वर्तमान हैं। तुलसी की शब्दावली में हास्य और विनोद का समावेश कदाचित् ही कहीं निरर्थक अथवा अभिप्राय-रहित सिद्ध हो। इस क्षेत्र में उनका वाक्चातुर्य जिन विविधरूपों में प्रस्फुटित हुआ है, उनका सक्षिप्त दिग्दर्शन नीचे कुछ उदाहरणों द्वारा कराया जाता है।

मानस की निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त शब्दों एव वाक्यों के अतर्गत हास्य और विनोद का पुट द्रष्टव्य है :—

> *जो जियत रहिहि बरात देखत पुण्य बड तेहि कर सही।*
> देखिहि सो उमा विवाह घर घर बात अस लरिकन्ह कही॥[2]

---

१ गी० २,८४

२ रा० १, ९५

मुनि मन हरष रूप अति मोरें । मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें ॥
मुनि हित कारन कृपा निधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥
तहँ बैठे महेस गन दोऊ । बिप्र बेष गति लखै न कोऊ ॥
करहिं कूट नारदहिं सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ॥
रीझिहि राज कुअँरि छबि देखी । इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेखी ॥
काहुँ न लखा सो चरित बिसेषा । सो सरूप नृप कन्याँ देखा ॥
मर्कट बदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥
पुनि पुनि मुनि उकसहि अकुलाहीं । देखि दसा हर गन मुसकाहीं ॥
दुलहिनि लै गे लच्छि निवासा । नृप समाज सब भयउ निरासा ॥
मुनि अति बिकल मोह मति नाठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥[1]
तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई । बाट परै मोरि नाव उड़ाई ॥[2]
कह कपि मुनि गुरु दछिना लेहू । पाछे हमहि मंत्र तुम्ह देहू ॥
सिर लंगूर लपेटि पछारा । निज तनु प्रगटेसि मरती वारा ॥[3]

इन उद्धरणों में क्रमशः उमा-विवाह, नारद-मोह, राम-केवट-मिलन तथा हनुमान-कालनेमि संवाद, इन प्रसंगों में प्रयुक्त शब्दावली वर्तमान है, जिसके टेढ़े अक्षरों में वातावरण के अनुकूल विनोदोत्पादक एव हास्यपूर्ण वाक्यों की योजना द्वारा ही कवि ने शिष्ट हास्य एवं व्यग्य की सृष्टि कर दी है।

इस संबंध मे कवितावली की निम्नलिखित पक्तियों की शब्दावली में जिस शिष्ट विनोद के दर्शन होते हैं, वैसा कदाचित् ही अन्यत्र मिले :—

बिंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृंद सुखारे ॥
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे ॥[4]

यहाँ पर बिंध्य के वासी उदासी, तपोव्रतधारी, नारि बिनु दुखारे मुनि वृंद के भीतर रघुनायक जू की उक्त 'करुना' के वाचक शब्दों एवं वाक्यों द्वारा कितने उच्च कोटि के विनोद-भाव की अभिव्यक्ति हुई है, यह भावुकों के ही देखने की बात है।

हास्य और विनोद का रूप कहीं कहीं कुछ ठेठ ग्रामीण शब्दों अथवा वाक्यों की विशिष्ट योजना के भीतर भी देखने को मिलता है। इनमें प्रसंग के गंभीर रहते हुए भी हास्य का एक हल्का-सा आभास दे देना तुलसी के वाक्चातुर्य का ही द्योतक है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'घम घूसर', 'होइहिं पायँ पिराने', 'बाउ कृपा मूरति', 'झरत जनु फूला', 'खसम भये' और 'पूत भये माय के' इत्यादि प्रयोग :—

---

१ रा० १,१२२ से १३५ तक   २ रा० २,१००   ३ रा० ६,५८
४ क० २,२८

कलिकाल विचार अचार हरो नहि सूझै कछू धम धूसर को।[१]
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने। बैठिअ होइहिं पायँ पिराने ॥[२]
बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत वचन झरत जनु फूला ॥
जौ पै कृपा जरहि मुनि गाता। क्रोध भएँ तनु राख बिधाता ॥[३]

सिला छोर छुवत अहिल्या भई दिव्य देह, गुन पेखे पारस के पंकरुह पायँ के।
राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भये, रावरेहु सतानंद पूत भये माय के ॥[४]

रामललानहछू के निम्नलिखित शब्दों में विनोद की जितनी सरल और परिचित किंतु साथ ही सांकेतिक व्यंजना हुई है, वह तुलसी के उस वाक्कौशल की सूचना देती है, जो भारतीय ग्रामीण-नारी-लोक की बोलचाल में उनकी गहरी पैठ के फलस्वरूप ही उनमें आ सका है :—

काहे राम जिउ साँवर लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहिं परि गा भोर हो ॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो ॥[५]

'कीदहुँ रानि कौसिलहिं परि गा भोर हो' तथा 'लछिमन आन क हो', इन वाक्यों में कितने विनोदमय संकेतों की मधुर राशि बिखरी हुई है !

व्यंग्य से संबधित शब्दावली के विश्लेषण में जाने के पूर्व इतना निर्देश आवश्यक होगा, कि तुलसी में हास्य और विनोद की प्रवृत्ति जितनी है, उससे कहीं अधिक मात्रा में व्यंग्य के द्वारा अपनी बातें कहने की अभिरुचि दृष्टिगोचर होती है। इस प्रवृत्ति अथवा अभिरुचि के पीछे प्रायः दो ही कारण हो सकते हैं, एक तो किसी ऐसी विशेष परिस्थिति का आगमन, जिसमें कोई बात सीधे ढंग से कहने में अशिष्ट लगती, और इसलिए उसे टेढ़े-मेढ़े शब्दों या वाक्यों में प्रस्तुत करना ही अधिक प्रसंगानुकूल हो। दूसरे यह, कि अपने अभिप्राय के प्रकाशन में किसी बात का सरल और अकुटिल रूप कदाचित् उतनी प्रभाव-सृष्टि करने में असमर्थ जान पड़ता हो। इन दो परिस्थितियों के अभाव में यदि कहीं-कहीं ऐसी व्यंग्यमयी भाषा के दर्शन होते हैं, तो उसे व्यक्तिगत अभिरुचि का परिणाम कहना चाहिए। तुलसी में इस प्रकार के प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत अल्प संख्या में मिलेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा, कि व्यंग्य का अधिकांश तो लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों के ही अंतर्गत आ जाता है, जिसका संक्षिप्त निर्देश पीछे तुलसी की भाषा के शास्त्रीय कला-पक्ष के प्रसंग में किया जा चुका है। यहाँ पर केवल व्यंग्य-विषयक वाक्चातुर्य के उसी अंश तक हम अपने को सीमित रखेंगे, जिन के परिज्ञान में किसी प्रकार के काव्य-

---

१ क, ७,१०२   २ रा०, १,२७८   ३ रा० १,२८०
४ गी० १,६५   ५ रा० ल० न० १०

शास्त्रीय ज्ञान अथवा अभ्यास की अपेक्षा नहीं है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण तुलसी की रचनाओं से उद्धृत किए जाते हैं, जिनमें व्यंग्य का सामान्य भाव कई रूप में प्रस्तुत किया गया है :—

तप तीरथ उपवास दान मख, जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करम फल, *भरि भरि वेद परोसो* ॥[1]

नागो फिरै कहै माँगतो देखि *न खाँगो कछू जनि माँगिए थोरो*।
राँकनि नाकप रीझि करै तुलसी *जग जो जुरै जाचक जोरो* ॥
नाक सँवारत आयो हौं नाकहि नाहिं पिनाकिहि नेकु निहोरो।
ब्रह्म कहै गिरिजा सिखवो पति *रावरो दानि है बावरो भोरो* ॥[2]

कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा ॥
माता पितहि उरिन भए नीकें। *गुरु रिन रहा सोच बड जी कें* ॥
सो जनु *हमरेहि माथे काढ़ा*। दिन चलि गए *ब्याज बड़ बाढ़ा* ॥
अब *आनिय ब्यवहरिया बोली*। तुरत देउँ मैं *थैली खोली* ॥[3]

उपर्युक्त पंक्तियों के अंतर्गत पहले, दूसरे तथा तीसरे उद्धरण में क्रमशः कर्मकांड के द्वारा वेद-प्रतिपादित यथेष्ट फल प्राप्त करने के लिए समय की प्रतिकूलता के प्रति और उस फल की अल्पता एवं अपूर्णता के प्रति, शंकर जी की असाधारण दानशीलता के प्रति, तथा परशुराम के क्रोधी स्वभाव के प्रति, जो तीखे छींटे तुलसी ने कसे हैं, वे व्यंग्य के जगत में भी कवि के भाषा-चातुर्य के ज्वलत प्रमाण कहे जा सकते हैं। टेढ़े अक्षरों वाले अंश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

उपालंभ की व्यंजना करने वाले प्रयोगों के अंतर्गत तुलसी ने स्वयं अपने आराध्य के प्रति तथा अन्य पात्रों के परस्पर दिये गये उपालंभ का चित्र खींचते हुए विचित्र ढंग की शब्दावली का व्यवहार किया है। इनमें विनयपत्रिका के अंतर्गत पहले प्रकार के, तथा श्रीकृष्णगीतावली के भीतर दूसरे प्रकार के प्रयोगों का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। तुलसी के उपालंभ-सूचक वाक्चातुर्य की दृष्टि से इन ग्रंथों का उतना ही महत्व है, जितना वर्णन एवं चित्रांकन से संबंधित वाक्चातुर्य की दृष्टि से कवितावली का। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

तुलसी ने अपने आराध्य 'राम' के प्रति अपनी जिन अल्हड़ उक्तियों द्वारा नाना प्रकार के उपालंभ दिये हैं उनकी सूक्ष्मता और रोचकता निम्नलिखित पंक्तियो में द्रष्टव्य है—

---

१ वि० १७३ २ क० ७, १५३ ३ रा० १, २७६

केसव कारन कौन गोसाईं ।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं, तजेहु अज्ञ की नाईं ॥
परम पुनीत संत कोमल चित, तिनहिं तुमहि बनि आई ।
तौ कत विप्र व्याध गनिकहि, तारेहु कछु *रही सगाई* ॥
जद्यपि नाथ उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई ।
तुलसिदास *सीदत निसि दिन*, देखत तुम्हारि निठुराई ॥[1]

कह तुलसिदास सुनु रामा । *लूटहिं तसकर तव धामा* ।
चिंता यह मोहिं अपारा । *अपजस नहि होइ तुम्हारा* ॥[2]

मेरे पासगहुँ न पूजिहैं ह्वै गए, हैं, होने खल जेते ।
हौं अब लौं करतूति तिहारिय, चितवत हुतो न रावरे चेते ।
अब तुलसी *पूतरो बाँधिहै, सहि न जात मो पै परिहास एते* ॥[3]

तुलसी कही है साँची रेख बार बार खाँची,
ढील किये नाम महिमा की नाव बोरिहौं ।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यवहृत शब्दावली के अंतर्गत जिन भावनाओं का प्रकाशन तुलसी ने किया है, वे और सीधे ढंग से भी व्यक्त की जा सकती थीं, किंतु शब्दों और वाक्यों के जिन विशेष रूपों के प्रयोग में कवि का वाक्‌चातुर्य प्रकट हुआ है, उसके अभाव में उक्ति की रोचकता एवं प्रभावात्मकता दोनों ही समाप्त हो जातीं ।

श्रीकृष्णगीतावली के अंतर्गत श्रीकृष्ण की यशोदा के प्रति, और गोपियों की उद्धव के प्रति की गई उपालंभोक्तियाँ ली जा सकती हैं, जो किसी बात में भी सूरदास व नंद-दास आदि कृष्णभक्त-कवियों की अपेक्षा किसी प्रकार भी कम प्रभावशालिनी नहीं कही जा सकतीं । उनके विशेष विवेचन में न जाकर केवल एकाध उदाहरण देकर ही हम संतोष करेंगे । टेढ़े अक्षरों वाले अंश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

या ब्रज में लरिका घने हौं ही अन्याई ।
मुँह लाये मूडहि चढी अंतहु अहिरिन तू सूधी करि पाई ।[5]

धान को गाँव पयार तें जानिय, ज्ञान विषय मन मोरे ।
तुलसी *अधिक कहे न रहै रस, गूलरि को सो फल फोरे* ॥[6]

फल पहिलै ही लह्यो ब्रजबासिन्ह, अब साधन उपदेसन आए ।
तुलसी अलि *अजहूँ नहिं बूझत, कौन हेतु नँदलाल पठाए* ॥[7]

'मुँह लाए मूड़हि चढी' में बालकृष्ण की यशोदा के प्रति तथा शेष टेढे अक्षरों वाले अंशों में व्यर्थ में ज्ञानोपदेश करने वाले उद्धव के प्रति भक्त गोपिकाओं का उपालंभ विद्यमान है ।

---

१ वि० ११२　　२ वि० १२५　　३ वि० २४१
४ वि० २२८　　५ श्रीकृ० ८　　६ श्रीकृ० ४४
७ श्रीकृ० ५०

चित्रांकन, वर्णन, हास्य, विनोद, व्यंग्य तथा उपालंभ आदि के अतिरिक्त विरोध, खीझ तथा आत्म-विश्वास आदि भावों की सबल अभिव्यक्ति के प्रयत्न में जिस वाक्चातुर्य का उपयोग तुलसी ने किया है, उसका भी अत्यन्त संक्षिप्त विश्लेषण करके हम वाक्चातुर्य के विवेचन को समाप्त करेंगे।

विरोध का भाव व्यक्त करने वाली शब्दावली का व्यवहार तुलसी ने प्रायः उन्हीं व्यक्तियों के प्रति, अथवा उन्हीं व्यक्तियों के सबंध मे किया है, जो उनकी दृष्टि में राम के महत्व को किसी न किसी रूप में अस्वीकार करते हैं। कहीं-कहीं ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी ऐसी शब्दावली प्रयुक्त हुई है, जो नैतिक दृष्टि से किसी न किसी रूप में आसुरी लक्षणों का प्रतिनिधित्व करते जान पड़ते हैं। इसमें तुलसी छाँट-छाँट कर ऐसे कठोर शब्दों और वाक्यों की योजना करते हैं, जो अशिष्ट भाषा में रूपातरित करने पर गालियों से कम भर्त्सनापूर्ण नहीं ठहरते। ऐसे प्रयोगों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण रामचरितमानस तथा कवितावली में विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं, अतः उन्हीं से कतिपय उपयुक्त स्थल नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

(१) मानस के अंतर्गत राम के साक्षात् परब्रह्म का अवतार होने के विषय में पार्वती जी के एक संदिग्ध वाक्य कह जाने पर शंकर द्वारा उनके लिए जो कठोर फटकारपूर्ण शब्दावली प्रयुक्त होती है, वह निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद विमुख, जानहिं झूठ न साच॥
अग्य अकोविद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते वेद असंमत बानी। जिन्ह के सूझ लाभु नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना॥
जिन्ह के अगुन न सगुन बिवेका। जल्पहि कल्पित वचन अनेका॥
हरि माया बस जगत भ्रमाही। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाही॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिय नाहिं काना॥[1]

कहना न होगा कि उपर्युक्त पक्तियों में जितने भी बुरे से बुरे विशेषण हो सकते थे, उन सब का प्रयोग प्रासंगिक रूप से पार्वती जी के एक वाक्य के उत्तर में उन सभी व्यक्तियों के लिए हुआ है, जो अवतारवाद के विरोधी हैं और राम के भगवान होने में संदेह करते हैं।

---

१ रा० १, ११४-११५

(२) कवितावली की निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त शब्दावली के अंतर्गत राम से नेह न रखने वाले व्यक्तियों के प्रति भर्त्सना का जो उग्र स्वर व्यक्त हुआ है, वह देखते ही बनता है। टेढे अक्षरों वाले अंश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

तिन्ह तें खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं, सों सही पसु पूँछ बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास भई किन्ह बाँझ गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥[1]

खीझ के भाव को व्यक्त करने वाली वाक्य-योजना का स्वरूप देखना हो, तो श्रीकृष्णगीतावली तथा दोहावली की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

आयसु देहु करहिं सोइ सिर धरि, प्रीति-परमिति निरबही है।
तुलसी परमेस्वर *न सहैगो, हम अबलनि सब सही* है॥[2]

भलो भयो सब भाँति हमारो एक *बार मरिबे हो*।
तुलसी कान्ह बिरह नित *नव जर जरि जीवन भरिबे हो*॥[3]

करमठ *कठमलिया* कहैं ज्ञानी ज्ञान बिहीन।
तुलसी *त्रिपथ बिहाइ* गो, राम दुआरे दीन॥[4]

पहले दो उदाहरणों में उद्धव के प्रति गोपियों की, तथा तीसरे में अपने ओछे आलोचकों के प्रति तुलसी की अपनी खीझ बड़े ही सरल किंतु प्रभावशाली ढग से अभिव्यक्त हुई है। 'तुलसी परमेस्वर न सहैगो हम अबलनि सब सही है' इस वाक्य में तो खीझ मानो साकार होकर सामने आ गई है।

आत्म-विश्वास के भाव के प्रकाशन में भी तुलसी एक विशेष प्रकार की भाषा का व्यवहार करते हैं, जिस में कुछ विशिष्ट शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति के द्वारा अथवा कुछ विशिष्ट चुभते हुए मुहावरों की योजना द्वारा अपनी बात पाठक को इतनी तीव्र ध्वनि से बताते हैं कि वह स्वय उसकी सत्यता पर पूर्णतया विश्वास करने के लिए बाध्य हो जाता है। इसमें प्राय: अपने व्यक्तिगत अनुभव की दोहाई देकर तुलसी प्रभाव-सृष्टि में समर्थ होते हैं और उस अनुभव को भी सीधे-सादे तथ्य-कथन के रूप में न रखकर एक रोचक और सबल शैली में प्रस्तुत करते हैं। इसके उदाहरण वैसे तो प्रत्येक ग्रथ की शब्दावली में यत्रतत्र बिखरे हुए मिलेंगे, किंतु इसका सबसे आकर्षक एव प्रभावोत्पादक रूप कवितावली तथा विनयपत्रिका की शब्दावली में दृष्टिगोचर होता है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

---

१. क० ७, ४० २ श्रीकृष्ण० ४२ ३ श्रीकृ० ३६
४—दो० ११

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है॥
जानपनी को गुमान बड़ो *तुलसी के विचार गँवार महा है।*
जानकीजीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है॥[1]
भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मो को तो राम को नाम कलपतरु, कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ग्यान बेद मत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों, सूझत रंग हरो।
स्वारथ और परमारथहू को, नहिं कुंजरो नरो।
संकर साखि जो राखि कहौं कछु, तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि ते, तुलसिहि समुझि परो॥[2]

वाक्‌चातुर्य के विश्लेषण के उपरान्त हमारा ध्यान तुलसी की भाषा के सामान्य कला-पक्ष की उन विशेषताओं पर जाता है, जो विषय-तत्व अथवा विषय की प्रकाशन-शैली के परिवर्तन के साथ-साथ कुछ भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करती चलती हैं। इस संबंध में संवाद, भाषण, दार्शनिक विवेचन तथा स्तुति आदि प्रसंगों में व्यवहृत शब्दावली विशेष महत्व रखती है। संक्षेप में हम इस शब्दावली की भी कलात्मकता का विवेचन करेंगे।

संवाद—सवादों में प्रयुक्त शब्दावली के विषय मे कुछ कहने के पूर्व इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा, कि तुलसी के समय में हिंदी-गद्य का कोई रूप निश्चित रूप से उपस्थित न होने के कारण संवादों की सजीव योजना में पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ता था। कुछ कवि इस कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से नाटकों की वार्तालाप-शैली का अनुसरण करने को बाध्य होते थे और पद्यात्मक संवाद के अंतर्गत भी वक्तव्य के पूर्व वक्ता का निर्देश अलग से कर देना अनुचित नहीं समझते थे, जैसे कि केशव की रामचंद्रिका-जैसे ग्रंथों में बहुतायत से देखने को मिलेगा। इसमें संदेह नहीं, कि इस प्रकार का निर्देश मूल काव्य की शब्दावली का अंग बनने में असमर्थ रहता था, और इस दृष्टि से यहाँ पर इस पद्धति का अनुसरण खटकता रहा है, परन्तु तुलसी ने अपनी कई रचनाओं में सवाद-तत्व को एक महत्वपूर्ण स्थान देते हुए भी, कहीं पर भी उक्त पद्धति द्वारा अपनी कठिनाई को हल करना उचित नहीं समझा। उन्होंने ऐसी कुशलता से शब्दों एवं वाक्यों का विन्यास किया, कि बिना किसी बाहरी निर्देश के, पाठक के समक्ष वक्ता और श्रोता की सत्ता का ठीक-ठीक रूप अंकित होता रहता है, यहाँ तक कि मानस-जैसे ग्रंथ में भी (जिसमें एक साथ चार संवाद रखे गये हैं, शंकर-पार्वती-संवाद, कागभुशुंडि गरुड़-संवाद, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज-संवाद, तुलसी जनता-सवाद, जिन्हें तुलसी ने अपने मानसरोवर के

---

१ क० ७ ३१ २ वि० २२६

चार घाट कहा है यथा, 'सुठि सुंदर सवाद वर, बिरचे बुद्धि विचारि। तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि—रा० १,३६) जहाँ चार-चार वक्ताओं और चार-चार श्रोताओं अर्थात् आठ पात्रों के बीच संवाद चलता है किसी प्रकार के भ्रम अथवा अव्यवस्था की सभावना नहीं हो पाती। यह साधारण प्रतिभा का खेल नहीं है। विशेष आश्चर्य तो ऐसे स्थलों पर होता है, जहाँ कवि 'अमुक पात्र ने कहा' इस बात का बिल्कुल सकेत किए बिना केवल परिस्थिति एव घटनाचक्र के मोड़ द्वारा हमें पात्रों का बोध कराता हुआ वक्तव्यों को बदल देता है। सस्कृत के प्रथम श्रेणी के कवि श्रीमद्-भागवत्कार व्यास भी, 'श्री भगवान् उवाच,' अथवा 'शुकदेव उवाच' इत्यादि वाह्य निर्देशों के अवलब का त्याग नहीं कर सके। परन्तु उस पौराणिक शैली का सहारा लिए बिना ही जिस अद्वितीय सफलता के साथ तुलसी ने अपनी सवाद-योजना को प्रभाव-शाली तथा कलात्मक बनाया है, वह उन की भाषा की प्रभूत शक्ति तथा व्यापक कला-पटुता के बल पर ही सभव हो सका है।

यहीं पर इस बात की ओर भी संकेत कर देना अच्छा होगा कि तुलसी अपने सवादों की शब्दावली में विभिन्न पात्रों की व्यक्तिगत विशेषता के अनुकूल भी भाषा के रूप में भिन्नता लाते रहते हैं, जिसका उद्देश्य प्रायः यही रहता है कि किसी प्रकार की अस्वाभाविकता का समावेश वार्तालाप में न हो पावे। सभवतः यही कारण है कि तुलसी निम्नवर्गीय अशिक्षित पात्रों द्वारा ऊँचे स्तर की सस्कृत-तत्सम-शब्दावली से युक्त अलंकृत भाषा का व्यवहार न करा कर सामान्य जन-भाषा के ठेठ रूपों का प्रयोग कराते हैं। इसी प्रकार उच्चवर्गीय शिक्षित पात्रों द्वारा विशिष्ट प्रसगों में उक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। प्रायः ऐसे व्यक्तियों द्वारा सर्वसाधारण से सबधित गभीर प्रसगों में सस्कृत-तत्सम-शब्दावली का व्यवहार तथा आत्मीय जनों से सबधित प्रसंगों में जनभाषा की ठेठ शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इस सबध में कवि विशेष रूप से सावधान जान पड़ता है। कुछ उदाहरणों द्वारा हम उक्त तथ्य की पुष्टि करेंगे।

१—ऐसे स्थल, जहाँ पर केवल एक वक्ता का निर्देश काव्य के मूल भाग के भीतर ही कर दिया गया है, जैसे :—

> कह दसकध कौन तैं बंदर। मैं रघुबीर दूत दसकंधर॥[1]
> सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महा बल सीला॥
> आवा प्रथम नगरु जेहि जारा। सुनत बचन कह *बालिकुमारा*॥
> रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥[2]

---

१ रा० ६, २०   २ रा०६, २३

उपर्युक्त पंक्तियों में 'कह दसकंध', तथा 'कह बालिकुमारा' इन वाक्यांशों में केवल एक वक्ता का निर्देश किया गया है।

२—वे स्थल, जहाँ वक्ता का कोई भी निर्देश नहीं है, वरन् उस शैली में, जिसका अनुसरण आजकल की वार्तालाप-प्रधान कहानियों अथवा उपन्यासों में प्रायः दिखाई देता है, संवाद उपस्थित किया गया है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में बालकृष्ण तथा माता यशोदा का वार्तालाप कितने चुटीले ढग से बिना किसी भी वक्ता का निर्देश किए, उपस्थित किया गया है :—

'छोट मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू दे री मैया'
'ले कन्हैया', 'सो कब ?', 'अबहिं तात।'
'सिगरियै हौं ही खैहौं, बलदाऊ को न देहौं'
'सो क्यों' 'भटू तेरो कहा' कहि इत उत जात।[1]

एक-एक पंक्ति में इतने अर्थपूर्ण कई-कई छोटे-छोटे उपवाक्यों की योजना कवि की संवाद-योजना में प्रयुक्त शब्दावली की कला का चरम रूप प्रस्फुटित करती है। प्रह्लाद और हिरण्यकश्यप के वार्तालाप का रूप प्रस्तुत करने वाली निम्नलिखित पंक्ति भी इसी प्रकार की वाक्य-योजना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है :—

'राम कहाँ ?' 'सब ठाउँ है' 'खंभ में ?' 'हाँ' सुनि हाँक नृकेहरि जागे।[2]

एक छोटे से वाक्य में कई-कई कथनों से युक्त संवाद और साथ-ही-साथ अन्य क्रिया-व्यापारों का भी निर्देश कर देना तुलसी की ही शब्द-योजना-चातुरी का परिणाम है।

३—वे स्थल, जहाँ पात्रों के अनुकूल भाषा का व्यवहार करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दावली संभवतः मंथरा को छोड़कर मानस के किसी अन्य पात्र के मुख से कदाचित् ही इतनी स्वाभाविक और फबती हुई सिद्ध हो :—

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब *जीभ करि दूजी*॥
फोरै जोगु कपारु *अभागा*। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं *माई*॥
हमहुँ कहबि अब ठकुर *सोहाती*। नाहि त मौन रहब दिन राती॥
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाँडि *अब होब कि रानी*॥
जारै जोग *सुभाउ हमारा*। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥[3]

---

१ श्रीकृष्ण० २ २ क० ७, १२८ ३ रा० २, १६

उपर्युक्त शब्द राम राज्याभिषेक की तैयारी पर क्षोभ प्रगट करने वाली मंथरा ने कैकई की फटकार सुन कर कहे हैं।

अब वार्तालाप का शिष्ट रूप शिष्टवर्ग की शिष्ट भाषा में—उदाहरणार्थ नारद, मैना व हिमवत की बातचीत में देखिए :—

'गिरिजहि लागि हमार जिवन सुख संपति।
नाथ कहिय सो जतन मिटइ जेहि दूषनु।'
'दोष दलन' मुनि कहेउ 'बाल बिधु भूषनु।[1]'

भाषण—

सवाद और भाषण की शब्दावली में पर्याप्त अतर होना स्वाभाविक है। सवाद में नाटकीयता और सतुलन की अपेक्षा होने के कारण तथा कई पात्रों के बीच विषय का प्रकाशन करने की आवश्यकता रहने से न तो वैसी स्वतत्रता रहती है और न पूरी शक्ति और पूरे विस्तार के साथ अपने भावावेश को श्रोताओं के समक्ष प्रकट करने का उतना समय अथवा उतना अवसर ही मिल पाता है, जितना भाषण में। भाषण में एक ही पात्र कुछ देर तक बोलता है, अतः भाषा-शैली की गठन कुछ विशिष्ट प्रकार की शब्दावली एवं वाक्य योजना लिए हुए होती है। तुलसी की भाषा इस कला में भी भली भाँति दक्ष है। परिस्थिति और वातावरण के परिवर्तन के साथ-साथ भाषा का बाह्य रूप भी यथावसर उग्र अथवा कोमल होता चलता है; इसका पता चित्रकूट की सभा के भाषणों तथा जनकपुरी में परशुराम की आवेशोक्तियों को देखने से भली भाँति चल जाता है। ऐसे स्थलों पर भाषा में प्रभावात्मकता लाने की दृष्टि से कुछ ऐसे शब्दों अथवा वाक्यों की आवृत्ति द्वारा अथवा तुमुल ध्वनि की व्यजना के सहारे भाषण-कर्ता विशेष बल देता हुआ दिखाई पड़ता है, जो उसके भावावेश को पूर्ण अभिव्यक्ति दे सके। यहाँ पर केवल कवितावली की कुछ पक्तियाँ ही तुलसी की भाषण-शैली में प्रयुक्त शब्दावली का नमूना उपस्थित करने के लिए तथा उनकी भाषण-कला में अभिव्यक्त भाषाधिकार की पुष्टि करने के लिए दी जाती हैं।

जनक की सभा में पहुँचकर धनुष-भग के प्रसग पर क्रुद्ध होकर विष-वचन उगलते हुए परशुराम की उग्र भाषण शैली का नमूना देखिए :—

भूप मडली प्रचड चंडीस-कोदंड खंड्यौ,
चंड बाहु दंड जाको ताको ताही सों कहतु हौं।
कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि,
बीरता बिदित ताकी देखिए चहतु हौं॥

---

[1] पा० मं० २०-२१

तुलसी समाज राज तजि सो बिराजे आजु,
गाज्यौ मृगराज गजराज ज्यों गहतु हौं।
छोनी में न छाँड्यौ छप्यौ छोनिप को छोना छोटो,
छोनिप-छपन बाँको बिरुद बहतु हौं॥[1]

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
सोई हौं बूझत राज सभा 'धनु को दल्यो ?' हौं दलि हौं बल ताको॥
लघु आनन उत्तर देत बड़ो *लरिहै मरिहै करिहै* कछु *साको।*
गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो *सा ढोटो है* काको॥[2]

दार्शनिक विवेचन का प्रसग जहाँ कहीं आता है वहाँ तुलसी की भाषा बिल्कुल रंग बदल कर हमारे समक्ष उपस्थित होती है। ऐसे स्थलों पर उसका जन-भाषा के ठेठ प्रवाह के साथ जो घनिष्ठ सबंध अन्यत्र दिखाई पड़ता है, वह बहुत ही दुर्बल-सा हो जाता है, और दूसरी शब्दावली तथा वाक्य-योजना बड़े ही शिष्ट साहित्यिक स्तर को अपनाती हुई तथा तर्क-शैली एव सूत्र-पद्धति का अधिकाधिक अनुसरण करती हुई चलती है। प्रायः उक्त विवेचन की सूक्ष्मताओं मे जनसाधारण की बुद्धि का प्रवेश नहीं हो पाता। उसके लिए उसमें एकमात्र गंभीरता और चिंतनशीलता की ध्वनि वर्तमान रहती है और सिवा इस बात के हल्के आभास के, कि कोई दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा चल रही है, उसे कुछ और पता नहीं चलता। इस प्रकार की शब्दावली के प्रति वही पाठक अथवा श्रोता अपने को न्यूनाधिक निकट एवं परिचित अनुभव करता है, जो या तो स्वय तुलसी के आन्तरिक व्यक्तित्व के विषय में कुछ जानकारी रखता हो अथवा जो कम-से-कम सामान्य दार्शनिक स्तर के विचारों के संपर्क में रहने का अभ्यासी हो चुका हो। ऐसे अवसरों पर इस प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का सहारा लेना, जिसमें संस्कृत-तत्सम शब्दावली का अधिक समावेश रहता है, तुलसी की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है, क्योंकि किसी भी भाषा का वाङ्मय इस तथ्य का साक्षी है कि गंभीर दार्शनिक मतवादों, शास्त्रीय निष्कर्षों तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रकाशन करने में जनता की साधारण बोलचाल की भाषा कभी भी उतनी समर्थ नहीं हो पाती, जितनी कि उच्च कोटि के साहित्यिक स्तर की शिष्ट भाषा। योरोपीय देशों की ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की भाँति अपने भारतीय साहित्य के अंतर्गत संस्कृत ही एकमात्र इस प्रकार की साहित्यिक स्तर की आधार-शिला बनाई जाने के लिए सबसे अधिक समर्थ एवं पूर्ण है और यही कारण है कि पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण तथा पारिभाषिक विषयों का विवेचन करने के लिए तुलसीदास जी ने संस्कृत-तत्समता पर ही बल दिया है, यद्यपि साधारण विषयों के क्षेत्र में वे जन-भाषा के प्रयोग के इतने अधिक समर्थक रहे हैं कि स्वयं अपने सर्व-प्रधान ग्रन्थ रामचरित मानस को भी प्रधानतः जन-भाषा में ही प्रस्तुत करना उन्होंने समीचीन समझा। कहना न होगा कि स्वयं

---

१ क० १, १८ २ क० १, २०

मानस की भाषा भी दार्शनिक विवेचन के प्रसंगों में जन-भाषा से कितनी दूर जा पड़ है। भाषा में तर्क-शैली का अनुसरण विषय को अधिकाधिक सुबोध एव स्पष्ट करने के उद्देश्य से, तथा सूत्र-पद्धति का अवलबन विषय को अधिकाधिक सक्षिप्त तथा सगठित रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किया गया जान पड़ता है। अपनी एक प्राचीन भारतीय विचारपद्धति की परंपरा को सुरक्षित रहने देने की प्रवृत्ति भी इस प्रयत्न के पीछे विद्यमान हो, तो असभव नहीं। अस्तु, हम दार्शनिक विवेचन के अतर्गत उपलब्ध तुलसी की भाषा के सामान्य कला-पक्ष को निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा प्रमाणित करना चाहेंगे :—

प्रकृति, महद्तत्व, सब्दादि, गुन, देवता, व्योममरुदग्नि, अमलांबु उर्वी।
बुद्धि-मन-इन्द्रिय प्रान-चित्तातमा काल-परमानु विच्छक्ति गुर्वी॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।
भुवन भवदंस कामारि-वंदित-पदद्वंद-मंदाकिनी-जनक जिष्णो॥
आदि मध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पश्यंति ये ब्रह्मवादी।
यथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारु-करि, कनककटकांगदादी॥[1]
सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥[2]

जो निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत जनित ससृति दुख, संसय सोक अपारा॥
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआईं।
त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥
असन बसन बहु बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥
बिटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुक बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए॥
रघुपति भगति बारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥[3]

स्तुति के प्रसगों में भी तुलसी की भाषा जन-भाषा के स्तर से बहुत ऊपर उठी हुई दिखाई पड़ती है। वस्तुतः इन्हीं स्थलों पर वह सस्कृत के इतना निकट और बोल-चाल की भाषा से इतनी दूर हो गई है कि उनमें की अधिकांश पक्तियाँ विशुद्ध सस्कृत-श्लोकों के भीतर खपाई जा सकती हैं। कहना न होगा कि इस प्रवृत्ति के पीछे देववाणी सस्कृत के प्रति तुलसी की असीम श्रद्धा तथा साथ ही स्तोत्रों की पवित्रता और सांस्कृतिक महत्ता के साथ सस्कृत भाषा का संबध जोड़ने की वह परंपरा विद्यमान रही होगी, ज

---

१ वि० ५४ २ रा० ७, ११८ ३ वि० १२४

आज तक किसी-न-किसी रूप में चली आ रही है।* इन स्थलों की भाषा तथा दार्शनिक विवेचन के प्रसंगों की भाषा मे इतना अंतर अवश्य स्पष्ट है कि स्तुतियों की भाषा में चाहे कितनी ही संस्कृत-तत्समता क्यों न हो, किंतु उसमें उस गंभीर तर्क-शैली तथा सूत्र-पद्धति का समावेश बहुत कम मिलेगा, जैसा दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत मिलता है। उनमें एक प्रकार की विशिष्ट मधुरता एवं रमणीयता का आभास किसी न किसी रूप में अवश्य मिलेगा। पाठक या श्रोता के समक्ष कम-से-कम स्तुत्य देवता या पात्र के रूप अथवा गुण का सांकेतिक निर्देश स्तुतियों में प्रयुक्त शब्दावली के द्वारा बराबर होता चलता है। विनयपत्रिका के स्तोत्र तथा मानस व कवितावली के अन्तर्गत उपलब्ध शब्दावली में, विशेषकर स्तुतियों में प्रयुक्त शब्दावली में, उक्त प्रकार की भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं। कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं :—

जानकीनाथ रघुनाथ रागादि तम तरणि तारुण्यतनु तेजधामं।
सच्चिदानंद आनंदकंदाकरं विस्वबिस्राम रामाभिरामं ॥
नील नव वारिधर सुभग सुभ कांति कर पीत कौसेय वर वसन धारी।
रत्न हाटक जटित मुकुट मंडित मौलि भानु सत सहस उद्योत कारी ॥[1]

रावनारि सुख रूप भूप वर। जय दसरथ कुल कुमुद सुधाकर ॥
सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम ॥
कारुनीक व्यलीक मद खंडन। सब बिधि कुसल कोसला मंडन ॥
कलिमल मथन नाम ममताहन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन ॥[2]

गरल असन दिग्वसन व्यसन भंजन जन रंजन।
कुंद इंदु कर्पूर गौर सच्चिदानंदघन ॥
बिकट बेष उर शेष सीस सुरसरित सहज सुचि।
सिव अकाम अभिराम धाम नित राम नाम रुचि ॥
कंदर्प दर्प दुर्गम दवन, उमा रवन गुन भवन हर।
तुलसीस त्रिलोचन त्रिगुन पर त्रिपुर मथन जय त्रिदस बर ॥[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में से पहले और दूसरे के भीतर भगवान राम की और तीसरे में भगवान शंकर की स्तुति की गई है।

कहीं-कहीं पर स्तुतियों के बीच भी, जहाँ पर दार्शनिक प्रसंग का पुट आ गया है, बड़ी ही दुरूह और उच्च स्तर की शब्दावली प्रयुक्त हुई है और इन स्थलों की भाषा में वस्तुतः स्तुति-शब्दावली का सामान्य रस-तत्त्व बाधित-सा हो गया है और

---

* अभी उस काल को बीते हुए बहुत दिन नहीं हुए, जब हम प्रत्येक छोटी बड़ी बात को प्रामाणिक और महत्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए संस्कृत भाषा की किसी पद्यबद्ध पंक्ति को ढूंढ़ निकालने में ही अपना बड़ा गौरव समझते थे।

१ वि० ५१   २ रा० ७, ५१   ३ क० ७, १५०

उसके स्थान में शुद्ध बौद्धिक तृप्ति का प्राधान्य हो गया है—उदाहरणार्थ विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> शांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्द-ब्रह्मैक पर-ब्रह्म-ज्ञानी।
> दक्ष,समदृकस्वदृक विगत-अति-स्वपरमति परमरति तव विरति चक्रपानी॥
> विश्व उपकारहित व्यग्रचित सर्वदा, त्यक्तमदमन्यु, कृत-पुन्यरासी।
> यत्र तिष्ठंति तत्रैव अज शर्व हरि सहित गच्छंति क्षीराब्धिवासी॥[1]

अब संक्षेप में हम तुलसी की भाषा के सामान्य कला-पक्ष के अंतर्गत चार बातों पर और विचार करेंगे—१. ध्वन्यर्थसाम्य, २. संगीतात्मकता, ३. शब्द मर्यादा, तथा ४. मुहावरों और कहावतों की योजना।

१—ध्वन्यर्थसाम्य : से हमारा तात्पर्य शब्दों अथवा वाक्यों में प्रयुक्त ध्वनियों की उस विशेषता से है, जिसके सहारे एक विशिष्ट अर्थ की ऐसी क्रियात्मक अभिव्यक्ति होती है कि कोई दूसरी ध्वनि वहाँ पर रख देने से उक्त अर्थ-निहिति का लावण्य समाप्त हो जायगा। अलंकारों के अंतर्गत शब्दालंकार की जो विशेषता होती है, बहुत कुछ उसी प्रकार की विशेषता यहाँ पर किसी ध्वनि के प्रयोग के फलस्वरूप ही होने वाली अर्थ-प्रतीति में पाई जाती है। अधिक विस्तार में न जाकर इसके संबंध में इतना ही संकेत पर्याप्त होगा, कि तुलसी का अपने प्रयोगों के अंतर्गत इस ध्वन्यर्थ-साम्य पर विशेष ध्यान जान पड़ता है। इनकी इस प्रवृत्ति की वास्तविकता की पुष्टि करने के लिए कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

> कटकटान कपि कुंजर भारी।[2]
> सोहै सितासित को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे।[3]
> महा भुज-दंड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौं।[4]
> हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
> भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।[5]

२—संगीतात्मकता : भाषा में संगीतात्मकता की खोज का क्षेत्र एक प्रकार से अपने क्षेत्र में बहुत ही सीमित कहा जा सकता है क्योंकि संगीत-तत्व स्वयं एक स्वतंत्र विषय है, जिस की दृष्टि से तुलसी की काव्य-कला की परख हो सकती है। यहाँ पर हम तुलसी की भाषा में उपलब्ध उस नाद-सौंदर्य पर ही अपना ध्यान केंद्रित रखेंगे, जिसका विकास विशेष रूप से संगीतोपयोगी शब्दावली के व्यवहार के फलस्वरूप ही हुआ करता है। कविता की भाषा सहज ही संगीतमय होती है, फिर तुलसी की भाषा में, जिसके माध्यम से अनेक प्रकार के गीतों की रचना हुई है, संगीत-तत्व की विविधता मिलना स्वाभाविक ही है। इसका सब से रोचक और बहुमुखी विकास हमें लोकगीतात्मक ढंग पर लिखी गई उन पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है, जिनमें एकमात्र संगीतात्मकता

---

१ वि० ५७ २ रा० ६,३२ ३ क० ७,१४४
४ क० ६,१४ ५ क० ५,१५

की रक्षा के लिए ही शब्दों के आंशिक परिवर्तन अथवा रूपातर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

अपनी भाषा में संगीतात्मकता लाने के लिए, जिन स्थूल साधनों का तुलसी ने सहारा लिया है, उनमें विशेषतया निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :—

१—क्रियाव्यापार-सूचक ध्वनियों की योजना : जिसके फलस्वरूप शब्द के उच्चारण मात्र से ही, बिना अर्थ का पूर्ण ज्ञान हुए ही, अभिप्रेत वस्तु का स्पष्ट संकेत हो जाता है।

२—अनुनासिक ध्वनियों का अधिकाधिक संयोग : जिसके द्वारा अनायास ही शब्दों के भीतर एक प्रकार की झंकार ध्वनित होती है।

३—अनुस्वार का स्थान-स्थान पर योग : इसके सहारे भी अनुनासिक व्यंजनों की भाँति शब्दों के नाद-सौंदर्य की वृद्धि में योग देता हुआ कवि हमें वाद्य संगीत की ध्वनियों के निकट लाने का प्रयत्न करता है।

इनमें पहले और दूसरे साधन तो पर्याप्त कौशल तथा सावधानी से काम में लाए गए हैं, परंतु तीसरे साधन के उपयोग में बहुतसे स्थलों पर यथेष्ट संयम का अभाव दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि स्थान-स्थान पर संगीतात्मकता लाने की धुन में कवि अनुस्वारों का इतनी अधिक मात्रा में प्रयोग करता गया है, कि उनसे वाक्य-योजना में शिथिलता तथा साथ-ही-साथ व्याकरणिक अव्यवस्था के कारण अर्थबोध में थोड़ी बहुत कठिनाई उत्पन्न हो गई है। ऐसे स्थल जहाँ एक ओर भाषा की संगीतात्मकता में सहायक सिद्ध हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर भाषा की सामान्य गठन में बाधक सिद्ध हुए हैं, अतः इनमें तुलसी की स्वाभाविक सजगता की कमी खटकती अवश्य है। इस खटक के परिहार में, यदि किसी छिपे हुए कारण की खोज करने पर कोई बात कही जा सकती है, तो वह कदाचित् यही कि अनुस्वार की अकारण योजना की प्रवृत्ति चंदबरदाई आदि चारण-कवियों की रचनाओं के अंतर्गत तुलसी के पहले से ही परपरा-रूप में विद्यमान है, अतः बहुत संभव है कि तुलसी ने इसी परंपरा के प्रभाव में आकर अथवा जानबूझकर इस परंपरा का नमूना सुरक्षित रखने के विचार से इस पद्धति का अवलंबन करने में किसी विशेष अनौचित्य का अनुभव न किया हो। अस्तु, उक्त विवेचन की पुष्टि में कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

राम की बालक्रीड़ा सम्बन्धी कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

ललित सुतहि लालति सचु पाए।
कौसल्या कल कनक अजिर महँ, सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए।
कटि किंकिनी पैंजनी पाँयन, बाजति रुनझुन मधुर रेंगाए।
चिबुक कपोल नासिका सुंदर, भाल तिलक मसि बिंदु बनाए।
राजत नयन मंजु अंजन जुत खंजन कंज मीन मद नाए।[1]

---

१ गी० १, २६

ललित आँगन खेलें ठुमुकु ठुमुकु चलैं
झुँझुनु झुँझुनु पाँय पैंजनी मृदु मुखर।
चुटकी *बजावती* नचावती कौसिल्या माता
बाल केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि किलकि हँसैं द्वै द्वै दँतुरियाँ लसैं
तुलसी के मन बसैं तोतरे बचन वर॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में पैंजनियों की रुनझुन तथा झुनझुन का नाद-सौंदर्य तथा ध्वन्यर्थसाम्य तो प्रत्यक्ष ही है, किंतु इसके साथ-ही-साथ, ललित, लालति, चलन, लाये कपोल, भाल, तिलक, पाँय, चुटकी, किलकि किलकि, मंजु कंज, अंजन, खंजन, दँतुरियाँ आदि विशिष्ट शब्दों की योजना ने भी भाषा को संगीतमय बनाने में कितना योग दिया है, इसे अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। अनुनासिक ध्वनियों का व्यवहार तथा अनुस्वारयुक्त शब्दों का प्रयोग भी उक्त प्रकार के प्रयोग में स्पष्ट ही है।

अब केवल कुछ उदाहरण अनायास अनुनासिकता तथा अनुस्वारयोग के दिए जा रहे हैं, जिनके भीतर एकमात्र संगीतात्मकता की सृष्टि ही प्रधान लक्ष्य है, और जिस संगीतात्मकता की रक्षा के लिए, भाषा की सामान्य व्यवस्था की भी थोड़ी बहुत अवहेलना कर दी गई है।

अनुनासिक ध्वनियों की योजना तथा अनुस्वारयुक्त शब्दों के ऐसे प्रयोग निम्न लिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों में मुद्रित शब्दों में विशेष रूप से द्रष्टव्य है :—

तुलसिदास प्रभु देखि मगन भई प्रेम बिबस कछु सुधि न *अपनियाँ*।[2]
असुभ सुभ कर्म घृत पूर्ण दस वर्तिका, त्याग पावक सतोगुन *प्रकासं*।
भगति बैराग्य बिज्ञान दीपावली अर्पि *नीराजन* जग *निवासं*॥[3]
सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु मूढमन *बारबारं*।[4]
दे भक्ति रमा निवास त्रास हरन सरन *सुखदायकं*।[5]
अखिल मुनि निकर सुर सिद्ध गंधर्व बर नमत नर नारि अवनिप *अनेकं*।[6]

इन पंक्तियों में अपनियाँ, बारबारं तथा अनेकं जैसे शब्दों के द्वारा भाषा की गठन में आई हुई अव्यवस्था, पर साथ ही शब्दावली में ध्वनित संगीतात्मकता विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों के अंतर्गत 'याँ' के योग से बने हुए रूपों द्वारा लघुत्व का बोध कराने के साथ-साथ लोकगीतों में पाए जाने वाले लोकसंगीत का प्रवाह सुरक्षित रखने का प्रयत्न स्पष्ट है :—

---

१ गी० १, ३०　　२ गी० १, ३१　　३ वि० ४७
४ वि० ४६　　५ रा० ६, ११३　　६ वि० ५१

अरुन चरन नख जोति जगमगति रुनझुन करति पाँय *पैंजनियाँ*।
कनक रतन मनि जटित रटति कटि किंकिनि कलित पीत पट *तनियाँ*।
पहुँची करनि, पदिक हरिनख उर कठुला कंठ मंजु *गजमनियाँ*।
रुचिर चिबुक रद अधर मनोहर, ललित नासिका लसति *नथुनियाँ*।
मन मोहनी तोतरी बोलनि, मुनि मन हरनि हँसनि *किलकनियाँ*।
बाल सुभाय बिलोल विलोचन, चोरति चितहि चारु *चितवनियाँ*।[1]

शब्द-मर्यादा : शब्द-मर्यादा का क्षेत्र वैसे तो बहुत व्यापक और बहुमुखी है, और इसका विस्तृत विश्लेषण स्वयं एक स्वतन्त्र विषय है, किन्तु यहाँ पर केवल इतना ही निर्देश पर्याप्त होगा, कि तुलसी की इस शब्द-मर्यादा के दर्शन, प्रधानतया दो रूपों में होते हैं, १—उनकी यह विशेषता, कि वे एक स्थान में प्रायः जिस अर्थ में एक शब्द-विशेष का प्रयोग कर जाते हैं उसका उसी अर्थ में अन्त तक निर्वाह करते हैं—अर्थात् उनकी सारी रचना में वह शब्द जितनी बार आता है, उसी अर्थ में आता है। २ दूसरी बात यह कि कुछ ऐसे शब्द एवं वाक्य हैं जो अपने भीतर कुछ विशेष प्रयोजन का समावेश रखने के कारण कई स्थलों पर बिल्कुल एक ही रूप में प्रयुक्त हो गए हैं। इस दूसरी विशेषता का अनुसरण विशेष कर रामचरितमानस की शब्दावली तक ही सीमित समझना चाहिए। ऐसे स्थलों में पुनरुक्ति के भीतर भी शब्द-मर्यादा की ध्वनि सुनाई देती है। उक्त दोनों विशेषताओं का क्रमशः उदाहरण-सहित विश्लेषण किया जाता है।

क—रामचरितमानस के अंतर्गत सीता जी की सुंदरता का वर्णन करते हुए उनकी उपमा 'दीपशिखा' से देते हुए तुलसी कहते हैं—

सुंदरता कहँ सुंदर करई। छवि गृहँ *दीपसिखा* जनु बरई॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेह कुमारी॥[2]

किन्तु इसी के कुछ आगे बढ़कर हम कवि के मुख से सुनते हैं :

तात जनक तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लै आई। *करत प्रकासु* फिरइ फुलवाई॥[3]

दोनों स्थलों को एक साथ देखने पर हमें पता चलता है, कि यहाँ पर सीता जी का 'फुलवाई में प्रकाश करते हुए फिरने' का जो वर्णन कवि ने किया है, उसमें पूर्वोक्त 'दीपसिखा' शब्द की मर्यादा निभाने का स्पष्ट प्रयत्न विद्यमान है, क्योंकि पीछे कवि ने सीता जी को 'छवि गृह में बरती हुई दीपसिखा' कहा है।

इसी प्रकार विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्तियों में अपने को 'भव व्याल ग्रसित' कहकर भगवान की शरण मे जाते हुए उनके लिए 'उरग-रिपु-गामी' का प्रयोग भी कितना अर्थपूर्ण है !

तुलसिदास *भव व्याल ग्रसित* तव सरन *उरग रिपु गामी*।[4]

---

१ गी० १, ३१ २ रा० १, २३० ३ रा० १, २३१
४ वि० ११७

यह एक तथ्य है कि 'उरग-रिपु' गरुड़ के समीप जाते ही 'व्याल' के प्राणों के लाले पड़ जायेंगे। इस विशेष शब्दावली के भीतर शब्द-मर्यादा के निर्वाह का ध्यान न होता, तो कवि 'उरग रिपु' के स्थान में 'गरुड़' का कोई भी पर्यायवाची शब्द रखकर काम चला सकता था।

आगे हम कुछ और रोचक उदाहरणों का उल्लेख कर देना उचित समझते हैं, जिनमें शब्द-मर्यादा का बड़ा ही उत्कृष्ट एव कलात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है और जिन पर एक भाषा-कला-पारखी की दृष्टि रुके बिना नहीं रह सकती।

कंत *बीस लोचन बिलोकिये* कुमंत फल
ख्याल लंका लाई कपि रॉड़ की सी झोपरी।[1]

सीता हरन तात जनि, कहेहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम त कुल सहित, *कहिहि दसानन* आइ॥[2]

सॉचेहु मैं लबार *भुजबीहा*। जो न *उपारिउँ* तव *दस जीहा*॥[3]
आनि पर बाम बिधि बाम तेहि राम सों सकत संग्राम *दसकध काँध्यो*॥[4]
सुन *दसमाथ* नाथ साथ के हमारे कपि
हाथ लंका लाइहैं तो रहैगी हथेरी सी॥[5]
नाइ *दस माथ* महि, जोरि *बीस हाथ*
पिय मिलिए पै नाथ रघुनाथ पहिचानि कै॥[6]

उपर्युक्त उदाहरणों के अतर्गत एक रावण के ही संबध में जिन अनेक प्रकार के शब्दोंका विशेषणादि के रूप में व्यवहार किया गया है, उनसे तुलसी की शब्द मर्यादा की कला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'बिलोकिये' के साथ 'बीस लोचन' का, 'कहिहि' के साथ 'दसानन' का. 'दसजीह उपारने' के प्रसग में 'भुज बीहा' का (बीस भुजाओं के द्वारा अवरोध करने में समर्थ रावण की दसों जीभ उखाड़ने के लिए अगद का स्वाभिमानपूर्ण कथन कितना व्यजक एव चमत्कारक हुआ है !), कांध्यो (कधे पर भार समालना) के साथ 'दस कध' का, 'सुनु' ('सुनु' से यहाँ पर विचारपूर्वक सुनने से विशेष तात्पर्य है, जिसमें मस्तक की भी उपयोगिता का सकेत हो जाता है, क्योंकि वह विचार का माध्यम है) के साथ 'दस माथ' का, तथा 'नाइ' (झुककर) के साथ 'दस माथ' और 'जोरि' के साथ 'बीस हाथ' का व्यवहार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इन शब्दों के स्थान में अन्य पर्यायवाची शब्दों से काम चल सकता था, परन्तु न तो यह चमत्कार रह जाता, न शब्द मर्यादा का ही निर्वाह हो पाता। इन प्रयोगों की सार्थकता का विचार करें, तो रावण सबधी कुछ विशेषण बड़े ही मार्के के आए हैं, उदाहरणार्थ 'कहिहि दसानन आइ' में 'दसों मुखों' से (एक मुख से नहीं) अपनी करतूत और उसके

---

१ क० ६, २७ २ रा० ३ ३१ ३ रा० ६, ३४
४ व० ६, ४ ५ क० ६, १० ६ क० ६, २७

परिणामस्वरूप अपने नाश का समाचार कहने की क्रिया, 'दसकंध काँध्यो' में राम से युद्ध करने का भार वहन करने में, एक के स्थान में दस कंधे रखते हुए भी, रावण की असमर्थता, 'सुनु दस माथ' के अंतर्गत एक के स्थान में दस मस्तक रखते हुए भी रावण की तत्कालीन विचारहीनता, 'साँचेउ मैं लबार...दस जीहा' में रावण के बीस भुजाएँ होते हुए भी, केवल दो भुजा वाले अंगद द्वारा उसकी एक नहीं, दसों जीभों को उखाड़ लेने की अद्भुत क्षमता तथा 'बीस लोचन बिलोकिये' में रावण में निरीक्षण-शक्ति की अधिकता होते हुए भी इस संबंध में उसकी असावधानी इत्यादि विविध भावों की जो सफल एवं सबल अभिव्यक्ति हुई है, वह देखते ही बनती है। कहना न होगा कि यह सारी सफलता शब्द-प्रयोग की मर्यादा पर ही निर्भर है।

२—शब्द-मर्यादा के संबंध में जिस दूसरे रूप का निर्देश पीछे किया गया है, उसके विषय में विशेष बात ध्यान देने की यह है कि ऐसे स्थलों पर शब्द या वाक्य की मर्यादा इस बात में निहित है कि उनके द्वारा विभिन्न स्थलों पर बिल्कुल समान स्थिति की व्यंजना होती है—अतः वे शब्द और वाक्य भी पुनरुक्ति के विचार को महत्त्व न देकर उन-उन स्थलों पर वैसे के वैसे ही दोहरा दिए गए हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न प्रसंगों के अंतर्गत एक ही शब्द 'बड़भागी' के प्रयोग पर ध्यान दीजिए :—

अतिसय *बड़भागी* चरनन्हि *लागी* जुगल नयन जलधार बही।[१]
परेउ लकुट इव चरनन्हि *लागी*। प्रेम मगन मुनि वर *बड़भागी*॥[२]
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत विधि नाना॥[३]
अहह धन्य लछिमन *बड़भागी*। राम पदारविंद *अनुरागी*॥[४]
हनूमान सम नहि *बड़भागी*। नहिं कोउ राम चरन *अनुरागी*॥[५]

उपर्युक्त पंक्तियों के देखने से बिल्कुल स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ किसी भी पात्र को भगवान राम के चरणों की सेवा अथवा प्रत्यक्ष रूप से उनमें नत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वहाँ-वहाँ विशेषण के रूप में उस पात्र के लिए इस 'बड़भागी' शब्द का प्रयोग किया गया है।

शब्दों के समान ही वाक्यों के संबंध में भी कतिपय स्थलों पर ऐसी ही बात पाई जाती है। दो एक स्थलों पर तो पूर्व के प्रसंगों में आई हुई पूरी-पूरी चौपाई जैसी की तैसी दोहरा दी गई है जिसके देखने से पुनरुक्तिदोष का भ्रम हो जाना असंभव नहीं है। वे स्थल और वे चौपाइयाँ निम्नलिखित हैं :—

रामचरितमानस के बालकांड में शिव जी के नेम-प्रेम और अविचल भक्ति से संतुष्ट होकर उनके इष्टदेव भगवान श्री राम ने उनके समक्ष प्रगट हो कर उनके लिए तप करने वाली पार्वती के साथ ब्याह करने के लिये उन्हें आदेश दिया, जिसके उत्तर के प्रसंग में निम्नलिखित चौपाइयाँ आई हैं—

---

१ रा० १, २११ २ रा० २, १० ३ रा० ६, ११
४ रा० ७, १ ५ रा० ७, ५०

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं । नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा । परम धरमु यह नाथ हमारा ॥[1]

उपर्युक्त चौपाइयों मे दूसरी चौपाई अयोध्याकाड के अतर्गत प्रयाग में भरद्वाज मुनि के द्वारा आतिथ्य स्वीकार करने के लिए उनके वचन के उत्तर के प्रसग में भरत जी की ओर से वैसी की वैसी ही दोहराई गई है, यथा—

जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी । चरन वदि बोले कर जोरी ॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा । परम धरमु यह नाथ हमारा ॥[2]

साधारण दृष्टि से इस स्थल पर पुनरुक्तिदोष जैसा प्रतीत होने पर भी प्रसग पर कुछ गभीरता के साथ विचार करने पर दोनों में ही प्रभु और गुरु के प्रति आज्ञा-पालन का उत्तम और उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत है । किन्हीं कारणों से अपने मन में कुछ सकोच रहते हुए भी प्रभु और गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करना ही उचित और श्रेष्ठ समझा जाता है, इस दृष्टिकोण से उपर्युक्त दोनों प्रसगों में क्रमशः शिव जी व भरत जी की स्थिति बिल्कुल एक जैसी उपस्थित हुई है, अतएव दोनों स्थलों में स्थिति की एकता व समानता को देखते हुए भरत जी से सबधित दूसरे प्रसग में भी, शिव जी से सबधित पूर्व प्रसंग की चौपाई को वैसी की वैसी ही दोहरा देना शब्द-मर्यादा को ही व्यक्त करता है ।

इसी प्रकार अयोध्याकाड के अतर्गत वन यात्रा के अवसर पर राम-लक्ष्मण और सीता के सौंदर्य-शील और सुकुमारता आदि पर दृष्टि करके मार्ग के नर-नारियों द्वारा एक ही चौपाई दो विभिन्न स्थलो पर जैसी की तैसी प्रयुक्त हुई है, यथा—

१—राम लखन सिय रूप निहारी । कहहिं सप्रेम ग्राम नर नारी ॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥[3]
२—सुनि सविषाद सकल पछिताहीं । रानी राय कीन्ह भल नाहीं ॥...
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥[4]

यहाँ पर भी राम लक्ष्मण और जानकी के शील-सौंदर्य और सुकुमारता को देख कर दोनों स्थलों पर मार्ग के नर-नारियों के हृदय में एक जैसा ही भाव उत्पन्न होने की समान स्थिति को गभीर दृष्टि से देखने पर एक ही चौपाई का ज्यों का त्यों दो बार प्रयुक्त होना शब्द-मर्यादा के निर्वाह का ही द्योतक है ।

ऐसे ही दो स्थलों पर चौपाई के अतर्गत एक अर्द्धाली वैसी की वैसी दोहराई गई है—

१—मंगल भवन अमंगल हारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥[5]
मंगल भवन अमंगल हारी । द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी ॥[6]

उपर्युक्त दोनों चौपाइयों में प्रथम चौपाई राम नाम के सबध में और दूसरी चौपाई राम-रूप को लक्ष्य कर के कही गई है । इस प्रकार भगवान के नाम और रूप

---

१ रा० १,७७
२ रा० २,२१३
३ रा० २,८६
४ रा० २,११०-१११
५ रा० १,१०
६ रा० १,११२

दोनों की एकता को लक्ष्य करके दोनों के लिये 'मंगल भवन और अमंगल हारी' विशेषण देने के अभिप्राय से एक अर्द्धाली का दोनों स्थलों में एक ही रूप में प्रयुक्त होना शब्द-मर्यादा के विचार से सर्वथा युक्तिसंगत है।

२—*देखि परम बिरहाकुल सीता* । सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥[1]
देखि परम बिरहाकुल सीता । बोला कपि मृदु बचन बिनीता ॥[2]

उपर्युक्त स्थलों की चौपाइयों की पहली अर्द्धाली में सीता जी की परम विरहाकुलता का वर्णन है, अतः दोनों स्थलों पर स्थिति की समानता को लक्ष्य करते हुए यहाँ पर भी एक ही अर्द्धाली का वैसे के वैसे ही दो बार प्रयुक्त होना शब्द-मर्यादा की सार्थकता को स्पष्ट करता है।

अभिप्रेत विषय के प्रकाशन में अन्य किसी शब्द अथवा वाक्य को समान सामर्थ्य वाला न पाकर एक विशिष्ट शब्द अथवा वाक्य का ही उस विषय के अर्थबोध के लिए प्रयोग करने की यह प्रवृत्ति तुलसी के पहले प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अंतर्गत भी परंपरा-रूप में विद्यमान मिलती है। अतः हमें इन स्थलों पर केवल पुनरुक्ति-दोष की ओर दृष्टि न कर के प्राचीन परिपाटी के अनुसार प्रयोग की विशेषता पर ध्यान देना अधिक युक्तिसंगत होगा। इस की आड़ लेकर तुलसी की भाषा में शब्द-भंडार की कमी का आक्षेप लगाना हास्यास्पद ही होगा। इस प्रकार की पुनरुक्ति-द्वारा शब्दमर्यादा अथवा वाक्यमर्यादा के निर्वाह की प्रवृत्ति श्रीमद्भागवत जैसे ग्रंथों में भी, जिस का मानस की रचना-शैली पर बहुत प्रभाव है, बराबर पाई जाती है; उदाहरणार्थ, 'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः' का प्रयोग कई स्थलों पर इसी रूप में हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' का प्रयोग इसी रूप में दो बार हुआ है।

मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग-कौशल—तुलसी की भाषा का टकसाली सौंदर्य देखना हो, तो वह उनकी शब्दावली में प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों में विशेष रूप से मिलेगा। ये मुहावरे और लोकोक्तियाँ प्रायः ब्रज और अवधी से तथा कतिपय अन्य बोलियों में उपलब्ध शब्द-भंडार से ली गई हैं। इनमें ठेठ जनभाषा की अनेक-रूपात्मक छटा विद्यमान है। उदाहरण के लिए कुछ प्रयोग उनकी रचनाओं से उद्धृत किए जाते हैं, जिन से उक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की कलात्मकता का दिग्दर्शन हो जायगा।

१ दंत टेवैया : जहाँ जम जातना घोर नदीं भट कोटि जलच्चर *दंत टेवैया*।[3]
२ पेट खलाई : राम सुभाव सुन्यो तुलसी प्रभु सों कह्यो बारक *पेट खलाई*।[4]
३ ठकुर सोहाती : हमहुँ कहबि अब *ठकुर सोहाती*।[5]
४ बड़े गाल होना (मिजाज होना) : हँसि कह रानि *गालु बड़ तोरें*।[6]

---

१ रा० ५, १२ २ रा० ५, १४ ३ क० ७, ५२
४ क० ७, ५७ ५ रा० २, १६ ६ रा० २, १३

५ गाल करना (मिज़ाज करना) : *गालु करव* केहि कर वलु पाई ।[1]

६ दूजी जीभ कर के कहना : एकहिं वार आस सव पूजी ।
अव कछु कहव *जीभ करि दूजी* ॥[2]

७ खेह खाना (बुरी अवस्था में पड़ना):—
जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं अलसातो ।
वाजीगर के सूम ज्यों, खल ! *खेह न खातो* ॥[3]

८ वारह वाट जाना : राज करत विनु काज ही, ठटहिं जे कूर कुठाट ।
तुलसी ते कुरुराज ज्यों, जैहैं *वारह वाट* ॥[4]

९ खोंच लगना : तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु *लगी न खोंच* ।[5]

१० साँपिन सों खेलना : छोटे औ वडे रे मेरे पूतऊ अनेरे सब,
साँपिन सों खेलैं मेलैं गरे छुराधार सों ।[6]

११ फोकट में पच मरना : खल प्रवोध जग सोध मन को निरोध कुल सोध ।
करहिं ते फोकट *पचि मरहिं* सपनेहिं सुख न सुवोध ॥[7]

१२ मुख करिया (काला) करना : तुलसी दुख दूनो दसा दुहुँ देखि,
कियो मुख दारिद को करिया ।[8]

१३ मूड़ में बार न होना : तुलसी की वाजी राखी राम ही के नाम न तु,
भेंट पितरन कों *न मूड हू में वारु है* ।[9]

१४ पान पाना : साँचे परे *पाऊँ पान* पंचन मे पन प्रमान,
तुलसी चातक आस राम स्याम घन की ।[10]

१५ पीठ मींजना : *मींजो गुरु पीठ* अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा विरद वहत हौं ।[11]

१६ दूध की माखी ज्यों तज देना और साढ़ी काढ़ लेना :
दसमुख *तज्यों दूध-माखी ज्यों* आपु *काढ़ि साढी लई* ।[12]

१७ मुँहा-चाही होने लगना (एक दूसरे का मुँह देखने लगना) :—
आना कानी कंठ हँसी, *मुँहाचाही होन लागी*,
देखि दसा कहत विदेह विलखाइ कै ।[13]

१८ गौं परना : विदित विदेह पुर नाथ भृगुनाथ गति,
समय सयानी कीन्ही जैसी आइ *गौं परी* ।[14]

---

१ रा० २, १४ | २ रा० २, १६ | ३ वि० १५१
४ दो० ४५७ | ५ दो० ३०२ | ६ क० ५, ११
७ दो० २७४ | ८ क० ७, ४६ | ९ क० ७, ९७
१० वि० ७५ | ११ वि० ७६ | १२ गी० ५, ३७
१३ गी० १, ८२ | १४ क० ६, २७

१६ ठग के से लड्डू खाना सुख के निधान पाये हिय के पिधान लाए,
ठग के से लाडू खाए प्रेम मद छाके हैं।[1]

२० पानी भरी खाल है : तुलसी को भलो पै तुम्हारे ही हिये कृपालु,
कीजै न बिलंब वलि *पानी भरी खाल है*।[2]

२१ साग खाइ जाए माइ : देखे नर नारि कहैं *साग खाइ जाए माइ*,
बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।[3]

२२ खाती दीप मालिका ठठाइयत सूप हैं :—
फलैं फूलैं फैलैं खल सीदैं साधु पल-पल,
खाती दीप मालिका ठठाइयत सूप हैं।[4]

२३ मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियतु है :—
कलि को कलुष मन मलिन किये महत,
मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियतु है।[5]

२४ घरौंधा हुतो बालु को : पवि को पहार कियो ख्याल ही कृपालु राम,
बापुरो बिभीषण *घरौंधा हुतो बालु को*।[6]

२५ धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को :—
तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तौ,
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को।[7]

२६ भलो न भूमि पर बादर छीबो :—
ग्वालि वचन सुनि कहत जसोमति, *भलो न भूमि पर बादर छीबो*।[8]

२७ धान को गाँव पयार ते जानिय :—
धान को गाँव पयार ते जानिय, ज्ञान विषय मन मोरे।[9]

२८ तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू :—
तुलसी से खोटे खरे होत ओट नाम ही की,
तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू।[10]

२९ मुँह लाए मूड़ चढ़ना :—
मुँह लाए मूँड़हि चढ़ी, अंतहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई।[11]

३० त्यों त्यों होइगी गरुई ज्यों ज्यों कामरि भीजै :—
तुलसी *त्यों त्यों होइगी गरुई, ज्यों ज्यों कामरि भीजै*।[12]

---

१ गी० १, ६२ २ क० ७, ६५ ३ गी० १, ६३
४ क० ७, १७१ ५ क० ७, ६६ ६ क० ७, १७
७ क० ७, ६६ ८ श्रीकृ० ६ ९ श्रीकृ० ४४
१० क० ७, १६ ११ श्रीकृ० ८ १२ श्रीकृ० ४६

३१ ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की :—

करम वचन हिए कहौ न कपट किये,
ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की ।[१]

३२ आपने चना चबाइ हाथ चाटियत हैं :—

गारी देत नीच हरिचंद हू दधीचि हू को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियत हैं ।[२]

३३ बायनो दियो घर नीके :—

मातु काज लागी लखि डाँटत है *बायनो दियो घर नीके* ।[३]

३४ सकुच बेंचि सी खाई :—

सुनु मैया तेरी सौं करौ याकी टेव लरन की, *सकुच बेंचि सी खाई* ।[४]

३५ कह्यो है पछोरन छूछो :—

ठाली ग्वालि जानि पठए अलि, *कह्यो है पछोरन छूछो* ।[५]

३६ पतौआ भए बाय के : एक बान बेग ही उड़ाने जातुधान जात,
सूखि गए गात हैं *पतौआ भए बाय के* ।[६]

३७ चाउर से काँड़ि गो : बाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट,
भारी भारी रावरे के *चाउर से काँडि गो* ।[७]

उपर्युक्त उदाहरणों को विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने शब्दावली तो जनभाषा से चुनी ही है, साथ ही साथ प्रतीक भी ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित वस्तुओं एवं पदार्थों में से ही चुने हैं। उनकी यह प्रवृत्ति ठेठ जनबोली के साथ-साथ ग्रामीण वातावरण के भीतर भी गहरी पैठ की द्योतक है। जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है, इन मुहावरों और लोकोक्तियों का ग्रहण ब्रज और अवधी बोलियों के क्षेत्र से ही किया गया है, और इसलिए उनमें रूप की प्रादेशिकता का आ जाना स्वाभाविक ही है, वस्तुतः इसी प्रादेशिकता में ही इन मुहावरों और लोकोक्तियों का ठेठ माधुर्य अभिव्यक्त होता है। इनमें अनेक तो इतने व्यापक रूप में प्रयुक्त हैं कि आज भी वे उतने ही नवीन प्रतीत होते हैं, जितने कदाचित् तुलसी के समय में रहे होंगे।

अस्तु तुलसी की भाषा के काव्यशास्त्रीय एव सामान्य कला-पक्ष के संक्षिप्त विवेचन एव विश्लेषण के द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसी की भाषा विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से भी उतनी ही पूर्ण एव समृद्ध है, जितनी अन्य दृष्टियों से।

---

१ वि० ७५ २ क० ७, ६६ ३ श्रीकृ० १०
४ श्रीकृ० ८ ५ श्रीकृ० ४३ ६ गी० १, ६५
७ क० ६, २४

पंचम अध्याय

तुलसी की शब्दावली में सामाजिक और सांस्कृतिक संकेत

किसी कवि की भाषा में व्यवहृत शब्दावली के भीतर निहित तत्कालीन समाज और संस्कृति की खोज का प्रयत्न, आधुनिक साहित्यिक समालोचना के ही नहीं, वरन् ऐतिहासिक परम्परा की छानबीन के क्षेत्र मे भी एक विशिष्ट वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

तुलसी की भाषा की पृष्ठभूमि और तुलसी द्वारा मान्य एव प्रतिपादित सांस्कृतिक विचारधारा की पृष्ठभूमि के सापेक्षिक संबंध की ओर ध्यान देने पर कई ऐसे रहस्यों का उद्‌घाटन होता है जो प्रस्तुत विषय की आधारभूत परिस्थितियों का समझने में बड़े सहायक सिद्ध होंगे। भाषा की पृष्ठभूमि पूर्वकालीन तथा समकालीन कवियों और सामान्य व्यक्तियों की भाषात्मक प्रवृत्तियों के अध्ययन से तथा सांस्कृतिक विचार-धारा की पृष्ठभूमि पूर्ववर्ती एवं समकालीन समाज में प्रचलित व्यापक सास्कृतिक मान्यताओं के सिंहावलोकन से भली भाँति समझी जा सकती है। इस संबध में विवेचन में जाने से पूर्व इतना और निर्देश कर देना आवश्यक है कि तुलसी के समक्ष भाषा और सस्कृति दोनों के क्षेत्र में अनेकानेक जटिल समस्याएँ पनप चुकी थीं, जो परिस्थिति को बड़ा ही अनिश्चित तथा अनियंत्रित रूप प्रदान कर रही थीं। कई अंशों में दोनों की सामान्य परिस्थिति में इस प्रकार का साम्य होने के कारण उस युग के सभी कवियों एवं समाज-सुधारकों को अपने विचारों के प्रकाशन का माध्यम चुनते समय भाषा के सास्कृतिक दृष्टिकोण को भी महत्त्व देना एक प्रकार से स्वाभाविक तथा आवश्यक-सा बन गया था।

तुलसी के पूर्व उत्तर भारत का जन-समुदाय सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा ही अव्यवस्थित रूप ग्रहण कर चुका था। एक ओर तो कट्टर और एकांगी दृष्टिकोण रखने वाले विदेशी व्यक्ति अपनी अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं के न्यूनाधिक प्रचार पर बल दे रहे थे, और दूसरी ओर दरबार तथा जनता दोनों के भीतर के कवि एवं सुधारक के रूप में प्रसिद्ध व्यक्ति, एक प्रकार के समन्वय का रुख अपना कर चल रहे थे। जहाँ तक सामान्य जनता के विभिन्न वर्गों से सबधित सामाजिक एव सांस्कृतिक सकेतो का संबंध है, उनका अधिक स्पष्ट, प्रामाणिक एवं यापक स्वरूप हमें दूसरी कोटि के व्यक्तियों द्वारा व्यवहृत भाषा के अन्तर्गत मिलेगा, क्योंकि उनकी भाषा लोक-संस्कृति के क्षेत्र को कहीं अधिक निकट से स्पर्श करती है। इन में भी दो दृष्टिकोण विद्यमान हैं। एक तो कबीर और जायसी जैसे जन-कवियों की भाषा है, जो, जैसी जनता के भीतर

प्रचलित थी, लगभग उसी रूप में ग्रहण कर ली गई थी और दूसरी ओर तुलसी और रहीम जैसे कवि भी मिलते हैं, जिन्होंने सर्वत्र भाषा का सर्वथा ठेठ रूप ही न ग्रहण कर के, कतिपय सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति एव समस्याओ के समाधान को दृष्टि में रखते हुए उसमें पर्याप्त परिष्कार एव व्यवहार-वैविध्य लाने का प्रयास किया था।

विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से विचार करें, तो तुलसी में प्रमुखतया संस्कृति के दो रूप उपलब्ध होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय और लौकिक—इन दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वैदिक तथा पौराणिक सस्कृति और दूसरे के अन्तर्गत जनता की घरेलू सस्कृति अथवा लोकसस्कृति के विवरण आते हैं। शास्त्रीय सस्कृति का स्वरूप घरेलू जीवन की अपेक्षा आर्ष ग्रथों, वेद, पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र, श्रीमद्भागवत, गीता आदि तथा अन्य प्राचीन सस्कृत-साहित्य-ग्रथों के अध्ययन एव मनन के परिणामस्वरूप प्रायः परम्परागत रूप में और परम्परागत शब्दावली के ही द्वारा अकित हुआ है। इसी प्रकार घरेलू लोकसस्कृति से सबंधित प्रसगों के भीतर प्राचीन एव परम्परागत तथा सामयिक अशों का एक साथ समावेश मिलता है। इन में तुलसी की भाषा में उपलब्ध सांस्कृतिक निष्कर्षों के अन्वेषण में लोकसस्कृति का सामयिक अश विशेष उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्हीं के भीतर तुलसी के अपने सामाजिक एव सास्कृतिक अनुभवों एवं दृष्टिकोणों की छाया स्पष्टतर रूप में विद्यमान है। साथ ही सामाजिक और सास्कृतिक सकेतों के इस मिश्रित एव जटिल रूप की ओर ध्यान दिलाने का एक यह भी आशय है कि तुलसी की भाषा में उपलब्ध शब्दावली के आधार पर इस दिशा में निर्धारित निष्कर्षों को सर्वांशेन पूर्ण एव अन्तिम नहीं कहा जा सकता। अतएव इन निष्कर्षों को बहुत स्थूल रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये, यद्यपि यथासभव आगामी विवेचन और विश्लेषण के अन्तर्गत सतुलित दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न किया जायगा।

शास्त्रीय सस्कृति का जो स्वरूप तुलसी की रचनाओं में प्रयुक्त शब्दावली के अतर्गत मिलता है, उसके पीछे प्रमुखतया दो प्रभाव स्पष्ट हैं, एक तो वेद, आरण्यक और उपनिषद आदि में सुरक्षित वैदिक सस्कृति का, और दूसरे रामायण, महाभारत और विशेष कर श्रीमद्भागवत एव अन्य पुराणों में अभिव्यजित पौराणिक सस्कृति का। अपने काव्य के वर्ण्य विषय का क्षेत्र और आधार प्रधानत. वैदिक न होकर पौराणिक होने के कारण, तुलसी में दूसरे प्रकार के प्रभाव का बाहुल्य स्वाभाविक ही था। वैदिक और पौराणिक विश्वास-प्रणाली का जो समन्वय तुलसी की विचारधारा में अभिव्यक्त हुआ है उसका बहुत कुछ श्रेय उन की विशिष्ट प्रकार की शब्दावली और प्रसग-चित्रण की विशिष्ट शैली को ही है, क्योंकि सर्वत्र वेदों की मर्यादा की दुहाई देते हुए उनके शाश्वत सार-तत्वों को ग्रहण करते हुए भी तुलसी कई अशों में वैदिक विश्वास-प्रणाली से पर्याप्त मतभेद रखते जान पड़ते हैं। 'नानापुराण निगमागम-सम्मत' विषय-तत्व के भीतर सांकेतिक रूप में पाई जाने वाली यह विषमता महत्त्वपूर्ण है।

एक ओर तो वे निम्नलिखित शब्दों मे वेद की महिमा की अतुलता का प्रतिपादन करते हैं :—

अतुलित महिमा वेद की, तुलसी किये विचार।
जो निंदित निंदित भयो, विदित बुद्ध अवतार ॥[1]

(दूसरी पंक्ति के अन्तर्गत बौद्ध संस्कृति के प्रति तुलसी की पौराणिक अनास्था का भाव भी ध्वनित हो रहा है।)

दूसरी ओर जब हम वेदों में, प्रमुख देवता के रूप मे ही नहीं, वरन् कहीं-कहीं स्वयं परमात्मा के पर्याय में प्रयुक्त इन्द्र शब्द का व्यवहार रामचरितमानस के अंतर्गत यत्र-तत्र वैदिक परम्परा से नितान्त भिन्न रूप में पाते हैं, तो हमारे समक्ष उक्त विषमता का चित्र उपस्थित हो जाता है। 'मानस' में इन्द्र की चर्चा जहाँ-जहाँ आई है, वहाँ प्रायः अधिकतर तुलसी ने उन्हें लोभी, ईर्ष्यालु तथा संकुचित प्रवृत्ति वाले अत्यत पदाधिकार-लोलुप, अभिमानी देवराज के रूप में देखा है। उदाहरणार्थ नारद-मोह-प्रसंग के आरंभ में, नारद-तपस्या के प्रभाव से भयभीत इन्द्र की मनोवृत्ति निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त की गई है :—

सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर वासा ॥
जे *कामी लोलुप* जग माहीं। *कुटिल काक* इव सबहि डराहीं ॥
सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज ॥[2]

इसी प्रकार चित्रकूट के प्रसंग में—

कपट कुचालि सींव सुरराजू। पर *अकाज प्रिय* आपन काजू ॥
काक समान पाकरिपु रीती। *छली मलीन* कतहुँ न प्रतीती ॥[3]

इस प्रकार इन्द्र के लिए कहीं प्रत्यक्ष और कहीं परोक्ष रूप में, कामी, लोलुप, कुटिल काक, सठ, स्वान, छली, मलीन इत्यादि विशेषणों तथा उपमाओं का प्रयोग तुलसी को वैदिक विश्वास-प्रणाली से कुछ भिन्नता रख कर चलने में, उस पौराणिक प्रतिक्रिया का पोषक सिद्ध करती है, जिसका सूत्रपात तुलसी के बहुत पहले कृष्ण-काव्य में चित्रित गोवर्द्धन-धारण-लीला के अंतर्गत, कृष्ण और गोपों द्वारा इन्द्र के अभिमान-मर्दन के रूप में हो चुका था।

यही बात वैदिक परंपरा के अनुसार प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिदेव-भाव तथा देवताओं की उपासना इत्यादि के संबंध मे भी लागू होती है, क्योंकि वेदों में जहाँ इनका वर्णन भी देवता के रूप में होने के साथ ही साथ, कहीं-कहीं स्वय ईश्वर तक के अर्थ में हुआ है, वहाँ गोस्वामी जी की शब्दावली में केवल देवता के रूप में हुआ है, और प्रसंगानुसार उन की स्तुति, पूजा और नमस्कार का बराबर व्यवहार प्रदर्शित होते

---

१ दो० ४६४ २ रा० १, १२५ ३ रा० २, ३०२

हुए भी, इन्द्र की तरह उनके लिए भी कहीं कहीं स्वारथी, मलीन मन, माया-विवश आदि विशेषणों का व्यवहार आया ही है, उदाहरण के लिए—

आए देव *सदा स्वारथी*। बचन कहहिं जनु परमारथी ॥[1]
सुर *स्वारथी मलीन मन*, कीन्ह कुमंत्र कुठाट ।[2]
देव दनुज मुनि नाग मनुज, सब *माया बिबस* विचारे ।[3]

इस बात के मूल में भी श्रीमद्भागवत आदि पुराणों-द्वारा प्रतिपादित अवतार-वाद के सिद्धान्त के प्रति तुलसी की अद्वितीय आस्था तथा उस सिद्धान्त को सर्वमान्य एव सर्व-जन-सुलभ बनाने के प्रयत्न में उनकी अद्वितीय लगन की तीव्रता विद्यमान है, जिसका पता हमें उनकी वाणी में पग-पग पर चलता है।

लौकिक सस्कृति का रूप तुलसी की शब्दावली के अन्तर्गत शास्त्रीय सस्कृति की अपेक्षा कहीं अधिक विशद एव व्यापक है। केवल विविध घरेलू व्यापारों एव संस्कारों के अवसर पर ही नहीं, वरन् उन क्षेत्रों से सर्वथा असबद्ध साधारण स्थलों पर भी प्रतीक और उपमान आदि के रूप मे लोकसस्कृति से सबधित वस्तुओं, पदार्थों एव व्यापारों का उपयोग तुलसी ने प्रचुर मात्रा में किया है। इसी प्रकार मुहावरों एव लोकोक्तियों के चुनाव में भी इस प्रवृत्ति के प्रति तुलसी का विशेष आग्रह प्रत्यक्ष है।

लोक-सास्कृतिक सकेतों से सम्बंधित तुलसी की समस्त शब्दावली को विश्लेषण की सुविधा के विचार से निम्नलिखित वर्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१—पारिवारिक वातावरण से सबधित शब्द।
२—सस्कारसूचक शब्द।
३—त्यौहारसूचक शब्द।
४—शिष्टाचारसूचक शब्द।
५—व्यवसायसूचक शब्द।
६—कला-कौशल से सबधित शब्द।
७—परपरागत जनविश्वासों के सूचक शब्द।
८—सज्जासूचक शब्द।
९—व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के नाम।
१०—मनोविनोद के साधनों से सबधित शब्द।
११—व्यसनसूचक शब्द।
१२—प्रसिद्धियों के द्योतक शब्द।
१३—ऐतिहासिक सकेतों के सूचक शब्द।

१. पारिवारिक वातावरण से संबंधित शब्द

इसके अन्तर्गत आने वाले शब्दों को पाँच उपवर्गों में रख कर देखना अधिक

---

1 रा० ६, ११० 2 रा० २, २९५ 3 वि० ११

सुविधाजनक होगा—(क) संबंधियों के लिये प्रयुक्त शब्द (ख) वेषभूषा-सूचक शब्द (ग) खानपान से सबंधित शब्द (घ) सामान्य दैनिक चर्या के द्योतक शब्द (ङ) स्फुट कृत्यों के सूचक शब्द।

उपर्युक्त शब्दावली का विश्लेषण करने से तुलसी की उस व्यापक दृष्टि का पता चलता है, जो पारिवारिक जीवन की छोटी से छोटी साधारण बात से लेकर बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्याओं तक पहुँची है। यही नहीं, प्रत्येक कोटि और प्रत्येक वर्ग के परिवार का चित्र खींचने का प्रयत्न उनकी शब्दावली में विद्यमान है। दशरथ और जनक जैसे महाराजाओं से लेकर निषाद और भील-भीलनियों जैसे निम्नवर्गीय व्यक्तियों तक के पारिवारिक वातावरण के विषय में न्यूनाधिक संकेत तुलसी छोड़ गए हैं, जिससे उनकी विस्तृत एवं सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, तीव्र मानसिक शक्ति तथा अपने निरीक्षण के सबल प्रकाशन में समर्थ वाणी की गरिमा अभिव्यक्त होती है।

संबंधियों के लिये प्रयुक्त शब्द :

तुलसी की शब्दावली में यत्र-तत्र प्रसंगानुसार विभिन्न संबंधियों के लिये जिन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है उनमें माता (तथा इसी अर्थ में मातु, जननी, अंब, अंबा, माँ, माई, माय, मैया और महतारी), पिता (तथा इसी अर्थ में पितु, जनक और बाप), पति (तथा इसी अर्थ में भरतार, कंत और खसम) पतिनी (तथा इसी अर्थ में कामिनि, भामिनि, बाम, बामा, घरनी, रवनी, त्रिय, तिय, बधू और प्रिया), बहिन (तथा इसी अर्थ में भगिनी), मौसी, बंधु (तथा इसी अर्थ में भाई, भाइ, भैया और भ्राता), पुत्र (तथा इसी अर्थ में सुत, बालक, तनय, सुअन, सूनु, पूत, बेटा और ढोटा), पुत्री (तथा इसी अर्थ में सुता, कन्या, तनया, तनुजा और बेटी), देवर, सास, ससुर, समधी, जामाता, भाभी, नाती, जेठि (जेठानी), सवति (तथा आदरार्थ में प्रयुक्त 'जीजी') और मतेई (बिमाता के अर्थ में) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1]

---

[1]सुनु *माता* साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल। रा० ५,१६

फिरेउ *मातु पितु* परिजन लखि गिरिजा-पन। पा० मं० ३७

इकटक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि हरषि

लै उछंग *जननी* रसभंग जिय बिचारी। गी० १,२२

कबहुँक *अंब* अवसर पाइ। वि० ४१

जौं सिय भवन रहै कह *अंबा*। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा। रा० २, ६०

कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि *"माँ"* मोहिं बुलैहो। गी० १,८

नहिं कछु दोष स्याम को *माई*। श्रीकृ० २५

जाय *माय* पायँ परि कथा सो सुनाई है। गी० ५, २६.

बलदाऊ देखियत दूरि तें आवनि छाक पठाई मेरी *मैया*। श्रीकृ० १६

तज्यो *पिता* प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत *महतारी*। वि० १७४

वेषभूषासूचक शब्द—परिवार के विभिन्न व्यक्तियों की, स्त्री-पुरुषों के वस्त्रों और आभूषणों की चर्चा पारिवारिक संस्कृति और सभ्यता के स्तर का निर्धारण करने में बहुत उपयोगी मानी जाती है। तुलसी ने एक विशिष्ट प्रकार के ही नहीं, वरन् कई श्रेणी और कई प्रकार के परिवारों के चित्र उपस्थित किए हैं। बड़े-बड़े राजकीय परिवार से लेकर निम्न से निम्न वर्ग में परिगणित समुदाय तक के व्यवहार में प्रचलित वेषभूषा का निर्देश तुलसी ने यत्रतत्र अपनी शब्दावली के अन्तर्गत किया है। क्रमशः बालकों, स्त्रियों और पुरुषों की वेषभूषा के सूचक शब्दों का संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

कहु निज नाम जनक कर भाई। रा० ६,२१
मेरे तो *माय बाप* दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरो। वि० २२६
पति अनुकूल सदा रह सीता। रा० ७,२४
चाहिअ सदा सिवहि *भरतारा*। रा० १,७८
देखो देखो वन बन्यो आजु उमा *कंत*। वि० १४
राम के प्रसाद गुरु गौतम *खसम* भए,
रावरेहु सतानन्द *पूत* भये *माय* के। गी० १,६९
रिषि *पतिनी* मन सुख अधिकाई रा०। ३,५
रहहु भवन हमरे कहे *कामिनि*।
तुलसिदास प्रभु बिरह बचन सुनि सहि न सकी मुरछित भइ *भामिनि*। गी० २,५
आनि *परबाम* बिधि बाम तेहि राम सों सकत संग्राम दसकंध कांध्यो। क० ६,४
जौं हठ करहु प्रेम बस *बामा*। रा० २,६२
गौतम की *घरनी* ज्यों तरनी तरैगी मेरी
प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद न बढ़ाइहौं। क० २,८
परत पद पकज ऋषि *रवनी*। गी० १,५६
हमहुँ सुनी कृत *परत्रिय* चोरी। रा० ६,२२
इन्हहीं ताड़का मारी मग मुनि *तिय* तारी
ऋषि मख राख्यो रन दले हैं दुवन। गी० १,८१
पुर तें निकसी रघुबीर *वधू* धरि धीर दये मग में डग द्वै। क० २,११
अत्रिप्रिया निज तप बल आनी। रा० २,१३२
मातु मौसी बहिन हूं ते *सासु* तें अधिकाइ।
करहिं तापस-*तीय-तनया* सीय हित चितलाइ॥ गी० ७,३४
जद्यपि *भगिनी* कीन्ह कुरूपा। रा० ३,१८
सुख सनेह तेहि समय को तुलसी जानै
जाको चोर्‌यो है चित चहुँ *भाई*। गी०१,१२

बालकों की वेषभूषा के अन्तर्गत तुलसी ने सर्वाधिक प्रिय वस्तुओं के सम्बन्ध मे जिन शब्दों का व्यवहार किया है, उनमें किंकिनी, पैंजनी, पहुँची, कठुला, बघनखा, नथुनी, कुलही, झगुली, तनियाँ, नागफनी, कछौटी, पगिया और पनहीं (पदत्राण)

हंस वंस दसरथ जनक राम लषन से *भाइ* ? रा० २,१६१
पगनि कब चलिहौं चारों *भैया* ? गी० १,९
हृदयँ लाइ प्रभु भेंटेउ *भ्राता* । रा० ६,६२
राम-अनुग्रह पुत्र फल, होइहि सगुन विसेष । रामाज्ञा० ४,४,४
अवधेस के द्वारे सकारे गई *सुत* गोद कै भूपति लै निकसे । क० १,१
मेरे *बालक* कैसे धौं मग निबहहिंगे । गी० १,९७
तनय जनातिहि जीवनु दयऊ । रा० २,१७४
सकर *सुअन* भवानीनंदन । वि० १
गाधिसूनु कह हृदयं हसि मुनिहि हरिअरइ सूझ । रा० १,२७५
गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवन *पूत* सिर नायो । गी० ५,१
अंगद नाम बालि कर *बेटा* । रा० ६,२१
बूझत जनक 'नाथ *ढोटा* दोउ काके हैं ? गी० १,६२
पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ । रा० २,२८७
सीय *सुता* भै जासु सकल मगलमइ । जा० मं० ७
सो सरूप नृप कन्याँ देखा । रा० १,१३४
जनक-अनुज *तनया* दुइ परम मनोरम । जा० म० १७२
नहिं मानत क्वौ *अनुजा तनुजा* । रा० ७,१०२
काहू की *बेटी* सों *बेटा* न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ । क० ७,१०६
नाम लषन लघु *देवर* मोरे । रा० २,११७
सासु ससुर गुर सेवा करेहू । रा० १,३३४
गुन सकल सम *समधी* परस्पर मिलत अति आनँद लहे । जा० म० १४४
सादर पुनि भेंटे *जामाता* । रा० १,३४१
कहाँ तात, *मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी*
ढोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे । क० ५,६
उत्तम कुल पुलस्ति कर *नाती* । रा० ६,२०
कौसिल्या की *जेठि* दीन्ह अनुसासन हो । रा० ल० न० ९
कहिसि कथा सत *सवति* कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोध । रा० २,१८
कीजै कहा *जीजी* जू सुमित्रा परि पायँ कहै,
तुलसी सहावै विधि सोई सहियतु है । क० २,४
तुलसी सरल भाय रघुराय *माय* मानी
काय मन बानी हूँ न जानी कै *मतेई* है । क० २,३

उल्लेखनीय हैं।[1] इन शब्दों का समावेश शिशुओं एव बालकों के शृंगार-वर्णन-सबधी स्थलों में हुआ है।

स्त्रियों की वेषभूषा—स्त्रियों की वेषभूषा के सम्बन्ध में तुलसी की भाषा में जिन प्रमुख शब्दों का व्यवहार हुआ है वे हैं (वस्त्रों के अन्तर्गत) सारी, चूनरी और पिछौरी तथा (आभूषणों के अन्तर्गत) चूड़ी, ताटक (तर्की), वेसर, हार, कंकन, किंकिनि, नूपुर, चूड़ामणि और मुँदरी, मुद्रिका आदि।[2]

पुरुषों की वेषभूषा—पुरुषों की वेषभूषा के विस्तृत चित्रण का अवसर यदि तुलसी को कहीं मिला है, तो वह साकेतिक रूप में अपने आराध्य के सगुण विग्रह तथा अन्य देवताओं के सगुण रूप का वर्णन करने समय। राम, कृष्ण, शिव आदि की वेषभूषा के प्रसग इस विषय में ध्यान देने योग्य हैं। इनमें भी दो प्रकार की शब्दावली मिलेगी। एक तो वह जिसमें शास्त्रों में वर्णित परम्परागत देवरूप-चित्रण के अन्तर्गत आई हुई वस्तुओं का निर्देश है, और दूसरी वह जिसके द्वारा तत्कालीन प्रचलित वेष-भूषा का भी कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में दूसरी कोटि का शब्दावली ही अधिक उपयोगी है।

---

१. कटि किंकिनि पग पैंजनि बाजैं। पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं।
कठुला कंठ बघनहा नीके। गी० १,२८
रुचिर चिबुक रद अधर मनोहर ललित नासिका लसति नथुनियाँ।
विकट भृकुटि सुषमा निधि आनन कल कपोल काननि नगफनियाँ। गी० १,३१
कुलही चित्र विचित्र झँगूली। गी० १,२८
छोटिऐ धनुहियाँ पनहियाँ पगनि छोटी छोटिऐ कछौटी कटि छोटिऐ तरकसी।
लसत झँगूली झीनी दामिनि की छबि छीनी सुन्दर बदन सिर पगिया जरकसी।
गी० १,४२
कनक रतन मनि जटित रटति कटि किंकिनि कलित पीत पट तनियाँ।
गी० १,२१

२. कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिय कर हो। रा० ल० न० १०
कानन कनक तरीवन बेसरि सोहइ हो।
गज मुकुता कर हार कंठ मन मोहइ हो।
कर कंकन कटि किंकिनि नूपुर बाजइ हो।
रानी कै दीन्हीं सारी अधिक बिराजइ हो। रा० ल० न० ११
मगल मय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूनरी पीत पिछौरी। गी० १,१०३
मंदोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका। रा० ६,१३
चूडामनि उतारि तब दयऊ। रा० ५,२७
कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी। रा० ४,२३
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ। बरवै० ३८

किशोर राम लक्ष्मण की वेषभूषा का वर्णन करते समय पीत बसन (पीताम्बर) नागमनि, करनफूल, चौतनी, सिखंड, कुंडल, मुद्रिका, अंगुलित्राण, काकपच्छ तथा कृष्ण की वेषभूषा के वर्णन में मोर मुकुट, पीताम्बर और कुंडल का निर्देश हुआ है।[1] फुटकर शब्दों के अन्तर्गत प्रसंगानुसार प्रयुक्त कामरी, कुमाच और कम्बल उल्लेखनीय हैं।[2] वनवासी वेषभूषा के अन्तर्गत 'वल्कलचीर' की चर्चा की जा सकती है।[3]

खानपान से सम्बन्धित शब्द—इस क्षेत्र में दो प्रकार की शब्दावली मिलती है। एक तो खाद्य एवं पेय पदार्थों के नाम और दूसरे विभिन्न सामाजिक वर्गों की दैनिक जीवन-चर्या के अन्तर्गत खानपान के कार्यक्रम की सामान्य परम्परा के सूचक शब्द। प्रस्तुत प्रसंग में पहला अंश अधिक उपयोगी है।

जायसी और सूर की भाँति स्थान-स्थान पर तुलसी ने खाद्य और पेय पदार्थों के नामों की ऐसी सूची गिनाने की प्रवृत्ति का अनुसरण नहीं किया है कि उन्हें सुनकर पाठकों के मुँह में पानी आ जाय। उन्होंने केवल विशिष्ट अवसरों पर व्यवहृत पदार्थों का बहुत ही संतुलित मात्रा में यत्रतत्र निर्देश कर दिया है। प्रायः सांस्कृतिक उत्सवों के प्रसंग में, शिष्ट जनों के खानपान, युद्धादि के प्रसंग में निशाचरों के खानपान तथा स्फुट प्रसंग में काननवासी मुनिजनों, ग्रामवासी अथवा वनवासी निम्नवर्गीय व्यक्तियों के खानपान के विषय में थोड़ा बहुत संकेत वे करते गए हैं।

शिष्ट जनों के खानपान के प्रसंग में सूप (दाल), ओदन (भात) सुरभि-सरपि

---

१. पीत बसन परिकर कटि भाथा।...
उर अति रुचिर नागमनि माला।...
कानन्हि कनक फूल छबि देहीं।...
रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस। रा० १, २१६
सिरनि सिखंड, सुमन-दल-मंडन बाल सुभाय बनाए। गी० १, ५४
स्रवन कुंडल बिमल गंड मंडित चपल,
कलित कल कांति अति भाँति कछु तिन्ह तनी। गी० ७, ५
सुजस सुरेख सुनख अंगुलि जुत सुन्दर पानि मुद्रिका राजति।
अंगुलि त्रान कमान बान छबि सुरनि सुखद असुरनि उर सालति॥ गी० ७, १७
काकपच्छ सिर, सुभग सरोरुहलोचन। जा० मं० २६
मोर चंदा चारु सिर मंजु गुंजा पुंज धरे
बनि बन-धातु तन ओढ़े पीत पट हैं। श्री कृष्ण० २०
सिर केकिपच्छ बिलोल कुंडल अरुन बनरुह लोचनं। श्रीकृष्ण० २३
२. काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच। दो० ५७२
कंबल बसन बिचित्र पटोरे। रा० १, ३२६
३. बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर। रा० २, १६५

(गाय का घी), मेवा, पकवान, मलाई, साढ़ी, रोटी और पान आदि शब्द[1], मुनिजनों के खानपान के प्रसग मे कदमूल, फल-फूल, अकुर आदि[2], निम्नवर्गीय व्यक्तियों एव दरिद्र-समुदाय के खानपान के प्रसग में मीन, चना और रोटी आदि[3] तथा निशाचरों के खानपान के प्रसग में महिष (भैंसा), मानुप, धेनु, खर, अज तथा मदिरा आदि[4] उल्लेखनीय हैं। 'ओदन' के साथ-साथ 'भात' शब्द तो मिलता है, परन्तु 'सूप' के साथ इसका पर्याय 'दाल' शब्द, जो आजकल इतना प्रचलित है, तुलसी की शब्दावली में नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त स्फुट प्रसगों में साकेतिक रूप से खाद्य और पेय वस्तुओं के सूचक जिन शब्दों का व्यवहार तुलसी ने किया है, उनमे सतुआ, गोरस, चिउरा, दही, माखन, मही (मट्ठा), छीर और भांग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[5]

---

१ सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वादु पुनीत। रा० १, ३२८
बिबिध भाँति मेवा पकवाना। रा० १, ३२३
छाछी को ललात जे ते राम नाम के प्रसाद खात
खुनसात सोंधे दूध की मलाई है। क० ७, ७४
कनक कील मनि पान सँवारे। रा० १, ३२८
बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत लंक नहिं खात कोउ भात रौंध्यो। क० ६, ४
दसमुख तज्यो दूध माखी ज्यों आपु काढ़ि साढ़ी लई। गी० ५, ३७

२. कंद मूल फल सुरस अति, दिए राम कहँ आनि। रा० ३, ३४
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नए। गी० ३, ५

३ मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने। रा० २ १९३
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।
क० ७, ७३
गारी देत नीच हरिचन्द हू दधीचि हू को आपने चना चबाइ हाथ चाटिअत है।
क० ७, ९९
रावरो कहावौं, गुन गावौं राम रावरोइ रोटी द्वै हौं पावौं राम रावरी ही कानि हौं।
क० ७, ६३

४. कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। रा० ५, ३
महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना। रा० ६, ६४

५. सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से प्रेत एक पिअत बहोरि घोरि घोरि कै।
क० ६, ५०
दधि चिउरा उपहार अपारा। रा० १, ३०५
मेरे कहा थाकु गोरस को नव निधि मंदिर या महिं। श्रीकृष्ण० ५
मथि माखन सिय राम सँवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री।
गी० १, १०४

तपस्वी व्यक्तियों की चर्चा करते हुए, मूल, फल के अतिरिक्त वेल पाति (वेल की पत्ती) और साग का भी उल्लेख हुआ है[1] तथा स्फुट रूप से निषिद्ध पदार्थों के अन्तर्गत लहसुन की भी चर्चा आई है।[2] खानपान के कार्यक्रम में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के सूचक शब्दों में 'दोना', 'पातरि' तथा 'पनवारा' आदि उल्लेखनीय हैं।[3]

सामान्य दैनिक चर्या के द्योतक शब्द—इसके अन्तर्गत विशेष रूप से शिशुओं एवं बालकों का प्रसंग उल्लेखनीय है। शिशुपालन में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं तथा शिशुओं से संबंधित स्फुट व्यापारों की सूचक शब्दावली इस क्षेत्र में विशेष महत्त्व रखती है। ऐसे शब्दों में पलने पर झूलना, आँगन में खेलना, ठुमुक ठुमुक चलना, मिट्टी में खेलना, माताओं का चुटकी बजा कर खेलाना, शिशुओं का किलक किलक कर हँसना, चिकनी चुपरी रोटी के लिए शिशुओं का मचलना, दही भात मुँह में लपटा कर दौड़ना आदि व्यापारों के सूचक शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[4]

दिनचर्या के अन्तर्गत बालकों के जीवन से संबंधित उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त जिन स्फुट बातों का उल्लेख किया जा सकता है, वे हैं अरुणशिखा (मुर्गा) की ध्वनि

सुषमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है दही री।

गी० १, १०४

जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास। रा० १, २१

१. वेल पाति महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई। रा० १, ७४

संवत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरस गवाँए। रा० १, ७४

२. तेहि न बसात जो खात नित, लहसुन हू को बास। दो० ३५५

३. फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये। गी० ३,५
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो। वि० २२६
सादर लगे परन पनवारे। रा० १, ३२६

४. कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना। रा०, १, १६८
छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुकि ठुमुकि कब धैहौ।
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि माँ मोहि बुलैहौ॥ गी० १,८
धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहँसि गोद बैठाए॥ रा० १, २०३
चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता

बाल केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।

कलकि किलकि हँसैं द्वै द्वै दँतुरिया लसैं

तुलसी के मन बसैं तोतरे वचन बर॥ गी० १, ३०

भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ। रा० १, २०३
छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू दे री मैया, 'ले कन्हैया' 'सो कब'

'अबहिं तात'। श्रीकृष्ण० २

सुनकर प्रातःकाल उठना, शौच करना, नहाना, सन्ध्या-वदन (प्रातः तथा साय दोनों समय), कथा वार्ता में कुछ समय बिताना आदि।[1]

स्फुट कृत्यों के सूचक शब्द—इनके अन्तर्गत विशेष रूप से 'लोरी' महत्त्वपूर्ण है।[2] माताएँ अपने बच्चों को शीघ्र सुलाने के लिए लोरियाँ गागा कर सुनाती हैं। इसकी चर्चा किसी न किसी रूप में ससार की सभी भाषाओं के साहित्य में मिलती है। इसके अतिरिक्त बच्चों को पुचकारने और मन बहलाने के लिए उनकी चुटिया बढ़ने तथा विवाह इत्यादि की चर्चा छेड़ने की प्रवृत्ति भी उल्लेखनीय है।[3] ये बातें आजकल भी भारतीय परिवार में सुरक्षित हैं।

२. संस्कारसूचक शब्द

भारतीय हिंदू-परिवारों के अन्तर्गत षोड़श सस्कारों की परम्परा बहुत दिनों से चली आ रही है। इन सस्कारों के भीतर प्रयोग एव व्यवहार में आने वाले शास्त्र-गृहीत तथा लोक-गृहीत दोनों ही प्रकार के कुछ विशेष पारिभाषिक शब्दों के द्वारा कुछ विशेष कृत्यों और व्यापारों की व्यजना की जाती रही है। तुलसी की रचनाओं की भाषा उनमें से अधिकाश को अपनाए हुए है। षोड़श संस्कारों के

---

१ उठे लखनु निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा धुनि कान। रा० १,२२६
सकल सौच करि जाइ नहाए। रा० १, २२७
सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा। रा० १,२२६
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी। रा० १,२२६

२. सोइये लाल लाडिले रघुराई।
हौ जँभात अलसात तात तेरी, बानि जानि मैं पाई।
गाइ गाइ हलराइ बोलिहौं, सुख नींदरी सुहाई। गी० १,१६
सुख नींद कहति आलि आइहौं।
राम लषन रिपुदवन भरत सिसु, करि सब सुमुख सोआइहौं।
रोवनि धोवनि अनखनि अनरसनि, डिठि मुठि निठुर नसाइहौं।
हँसनि खेलनि किलकनि आनंदनि, भूपति भवन बसाइहौं।
गोद बिनोद मोदमय मूरति, हरषि हरषि हलराइ हौं।
तनु तिल तिल करि वारि राम पर, लैहौं रोग बलाइ हौं। गी० १,१८

३. छोटो मेरे लजित ललन लरिकाई।
ऐहैं सुत देखवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहै नई दुलहिया सुहाई।
उबटौं न्हाहु गुहौं चुटिया बलि, देखि भलो घर करिहि बड़ाई।
मातु कह्यो करि कहत बोलि है, भई बड़ि बार कालि तौ न आई।

अन्तर्गत, जिन संस्कारों का चित्र तुलसी ने अपनी शब्दावली द्वारा उपस्थित करना चाहा है, वे हैं जातकर्म, नामकरन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और अन्त्येष्टि। स्फुट लोकसांस्कृतिक कृत्यों के अन्तर्गत इन्हीं के साथ साथ छठी, बारहौं तथा नहछू भी उल्लेखनीय हैं। वर्णन-विस्तार और महत्त्वांकन की दृष्टि से विवाह-संस्कार की सूचक शब्दावली सबसे अधिक काम की है। इस बात का प्रमुख प्रमाण यही है कि मानस, गीतावली और कवितावली के बालकांड में वर्णित राम-विवाह-प्रसग को पर्याप्त न समझ कर दो स्वतत्र ग्रथ पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल विशेष रूप से कवि ने पार्वती और जानकी जी के विवाह के उपलक्ष में ही रच डाले हैं, जिनमें तद्विषयक विविध कृत्यों की सूचक शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि प्रायः श्री रामचन्द्र जी के ही जीवन को लेकर उक्त संस्कारों का चित्र प्रस्तुत किया गया है। अन्त्येष्टि संस्कार इसका अपवाद है। इसका चित्र दशरथ, गीधराज जटायु तथा रावण आदि के देहान्त के अवसर पर खींचा गया है। स्फुट सस्कारों के अन्तर्गत 'नहछू' को विशेष प्रधानता दी गई है। रामललानहछू जैसे एक स्वतंत्र ग्रंथ का प्रणयन इस की पुष्टि करता है। क्रमशः उक्त संस्कारों की सूचक शब्दावली का सक्षिप्त निर्देश नीचे किया जा रहा है।

जातकर्म से संबंधित शब्द 'मानस' और 'गीतावली' में विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इससे संबंधित स्फुट कृत्यों में सबसे अधिक व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण रूप में 'सोहिलो' गाने की प्रथा, जिसे आजकल अवधी को घरेलू बोली में 'सोहर' के नाम से पुकारते हैं, और जो आज भी इस संस्कार का एक प्रमुख अग माना जाता है, विशेष रूप से वर्णित है। अन्य कृत्यों में 'नांदी मुख श्राद्ध करना' [2] हाटक (स्वर्ण), धेनु, वसन और मणि आदि ब्राह्मणों को दान देना,[3] स्त्रियों का सामूहिक गान करना, और आशीर्वाद देना,[4] गलियों में कुंकुम, अरगजा, अगर और अबीर आदि का उड़ाना,[5] नृत्य,[6] चौके

---

१. सहेली सुनु सोहिलो रे।
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो सब जग आज।
भूपति सदन सोहिलो सुनि, बाजैं गहगहे निसान। गी० १,२

२. नंदी मुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह। रा० १, १९३

३. हाटक धेनु वसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह। रा० १, १९४

४. सहज सिंगार किये बनिता चलीं मंगल चिपुल बनाई।
गावहिं देहिं असीस मुदित चिरजिवौ तनय सुखदाई॥ गी० १, १

५. वीथिन्ह कुकुम कोच अरगजा अगर अबीर उड़ाई। गी० १, १

६. नाचहि पुर नर नारि प्रेम भरि देह दसा बिसराई। गी० १, १
नृत्य करहि नट नटी नारि नर, अपने अपने रंग। गी० १, २

रचना,[१] दल, फल, फूल, दूब, दधि और रोचन छिड़कना,[२] प्रजा का 'ढोव' (उपहार) लेकर चलना,[३] उल्लेखनीय है। बाजों में घंटा, घंटी, पखाउज, आउज, झाँझ, वेनु, डफ और तार का प्रयोग ऐसे अवसर पर प्रचुरता से होता था।[४] कोलाहल और भीड़-भाड़ आदि का मनोरम उल्लास-पूर्ण दृश्य[५] आज भी भारतीय परिवार में जातकर्म संस्कार के अवसर पर अपनी पूर्ण छटा के साथ उपस्थित होता है।

छठी—बालक के जन्मदिन के छठे दिन का संस्कार छठी के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवसर पर प्रायः नारियाँ रात्रि भर जागरण करके अनेक कृत्य करते हुए आनन्दोत्सव मनाती हैं। तुलसी की शब्दावली में इस जागरण के अतिरिक्त अन्य कृत्यों के अन्तर्गत मूलिकामनि रखने तथा देवी-देवताओं के न्योतने का वर्णन मिलता है।[६]

बारहौं—बालक के जन्म लेने के बारहवें दिन का संस्कार। इसका भी नाम मात्र तुलसी की शब्दावली में निर्दिष्ट है।[७]

नामकरण—बालक के नाम रखने का संस्कार 'नामकरण' कहलाता है, जो परम्परागत रूप में ही तुलसी ने उपस्थित किया है। इससे संबंधित कृत्यों में कुल-पुरोहित का सुदिन शोध कर नाम रखना, साथ-साथ जल, दल, फल, मूलिकामनि, आदि का व्यवहार, गनपति, गौरि, हर तथा गौ की पूजा, चौक पर शिशु को लेकर माता का बैठना और पुरोहित द्वारा वेद-ऋचा का पाठ इत्यादि का उल्लेख विशेष महत्व-पूर्ण है।[८]

---

१. सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह, आँगन गली बाजार। गी० १, २

२ दल फल फूल दूब दधि रोचन, घर घर मङ्गल चार। गी० १, २

३. लै लै ढोब प्रजा प्रमुदित चले भाँति भाँति भरि भार। गी० १, २

४. घंटा घंटि पखाउज आउज झाँझ बेनु डफ तार। गी० १, २

५ नभ प्रसून भरि पुरी कोलाहल, भइ मन भावति भीर। गी० १, २

६ जागिय राम छठी सजनी रजनी रुचिर निहारि।
सिन्ह की छठी मंजुल मठी जग सरस जिन्ह की सरसई।
किए नींद भामिनि जागरन अभिरामिनी जामिनि भई।
वैदिक बिधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानि कै।
बलिदान पूजा मूलिकामनि साधि राखी आनि कै।
जो देव देवी सेइयत हित लागि चित सनमानि कै।
ते जंत्र मंत्र सिखाइ राखत सबनि सों पहिचानि कै।
ज्यों आज कालिहु परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिए। गी० १, ५

७ छठी बारहौं लोक बेद बिधि करि सुबिधान बिधानी। गी० १, ४

८. राम लषन रिपुदवन भरत धरे नाम ललित गुरु ज्ञानी। गी० १, ४
नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए।
पाय रजायसु राय को ऋषिराज बोलाए। गी० १, ६

चूड़ाकरन—इस संस्कार के नाम मात्र का निर्देश तुलसी ने किया है।[1]

कर्णवेध और उपनयन का निर्देश भी बहुत संक्षेप में किया गया है।[2]

नहछू—यह वस्तुतः या तो यज्ञोपवीत के समय का अथवा विवाह के प्रारंभिक कृत्यों से संबंधित प्रमुख कृत्य है। इसकी प्रमुख क्रियाओं का निर्देश तुलसी ने अपने रामललानहछू में विस्तारपूर्वक किया है। सर्वप्रधान क्रिया है नखों में नहरनी छुआने की[3], और इसीलिए संभवतः इसका नाम भी नखछू अथवा नहछू पड़ गया है। आजकल ग्रामीण भाषा में कहीं-कहीं इसे 'नाखुर' भी कहते हैं। इस प्रमुख कृत्य के साथ अन्य स्फुटिक कृत्यों के अन्तर्गत सोहर-गान, बाजा बजना, बाँस के माँड़व छाना, मोतियों की झालर तथा झूलन लगाना, गंगाजल का कलस मँगा कर संबंधित व्यक्ति को नहलाना, चौक पुरवाना, अर्घ्य देना, कनक-खम्भ रचना, मानिक-दीप तैयार करना, मायन, गारी आदि तथा निम्नवर्गीय परजों का अपनी-अपनी मांगलिक वस्तुओं के साथ आना, जैसे 'बरायन' ले कर लोहारिन का, 'दहेड़ि' (दही का बर्तन) के साथ अहीरिन का, 'बीड़ा' के साथ तँबोलिन का, 'जोरा' के साथ दरजिन का, 'पनहीं' के साथ मोचिन का, 'मौर' के साथ मालिन का, 'छाते' के साथ बारिन का, और 'नहरनी' के साथ नाउनि का आना और मांगलिक गारी देना इत्यादि के सूचक शब्द उल्लेखनीय हैं।[4]

विवाह संस्कार—इस प्रसंग में व्यवहृत शब्दावली स्थूल रूप से तीन वर्गों में रखी जा सकती है—(१) वैवाहिक सजधज से संबंधित शब्द (२), वैवाहिक सांस्कृतिक कृत्यों के सूचक शब्द, (३) इस संस्कार के साथ लगी हुई परम्परागत रूढ़ियों के निर्देशक शब्द। इन सभी का न्यूनाधिकांश में प्रयोग हुआ है और प्रायः इन प्रसंगों में ऐसे ही पारिभाषिक शब्द-रूपों का व्यवहार किया गया है, जो आजकल भी प्रायः अपने उन्हीं

जल दल फल मनि मूलिका कुलि काज लिखाए।
गनप गौरि हर पूजि कै गोवृंद दुहाए। गी० १, ६
सिसु समेत बेगि बोलिए कौसल्या रानी। " " "
सुनत सुआसिनि लै चलीं गावत बड़भागी। " " "
चारु चौक बैठत भईं भूप भामिनी सोहैं। " " "
लगे पढ़न रच्छा ऋचा ऋषि राज बिराजे। " " "

१. चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई, बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई। रा० १, २०३

२. करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब गए उछाहा। रा० २, १०

३—अति बड़ भाग नउनियाँ छुये नख हाथ सो हो। रा० ल० न० १३
आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो।
राम लला कर नंहछू गाइ सुनाइय हो। रा० ल० न० १

४—कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो॥ रा० ल० न० २
आलहि बाँस के माँडव मनिगन पूरन हो। रा० ल० न० ३

रूपों में सुरक्षित मिलते हैं। इनमें शास्त्रीय आधार की अपेक्षा लोकसांस्कृतिक आधार अधिक व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है।

वैवाहिक सजधज—से संबंधित कार्यों के अन्तर्गत जिनका संकेत तुलसी की शब्दावली मे हुआ है, वे हैं मंडप (माँड़व), कनक-कदली के खंभे, वंदनवार, चौक, मंगल कलस, ध्वजा, पताका, चँवर आदि की योजना, हाथी, घोड़े, रथ (हय, गय, स्यदन), पालकी (शिविका) आदि सवारियों की व्यवस्था, वेसर (खच्चर), ऊँट, बैल (वृषभ), काँवरि आदि सामान ढोने के पशुओं तथा वस्तुओं से संबंधित तैयारी, नट, विदूषक, मागध, सूत, भाट, नाऊ, बारी, कहार आदि विभिन्न व्यवसायियों का एकत्रीकरण, नाना प्रकार के वाद्य (शहनाई, मृदंग इत्यादि), विविध भाँति की खाद्य सामग्रियों और उपहारादि का समुचित प्रबन्ध इत्यादि।[1]

मोतिन्ह झालर लागि चहूँ दिसि झूलन हो।
गंगाजल कर कलस तौ तुरित मँगाइय हो।
जुबतिन्ह मंगल गाइ राम अन्हवाइय हो॥ रा० ल० न० ३
गज मुकुता हीरा मनि चौक पुराइय हो।
देइ सुअरघ राम कहँ लेइ बैठाइय हो।
कनक खंभ चहुँ ओर मध्य सिंहासन हो॥ ” ” ” ४
मानिक दीप बराय बैठि तेहि आसन हो।
बनि बनि आवत नारि जानि गृह मायन हो।
बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो।
अहिरिन हाथ दहेडि सगुन लेइ आवइ हो। ” ” ” ५
रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
दरजिन गोरे गात लिहे कर जोरा हो॥ ” ” ” ६
मोचिनि बदन सँकोचिनि हीरा मांगन हो।
पनहिं लिहे कर सोभित सुन्दर आँगन हो।
बतियाँ सुघर मलिनिया सुन्दर गातहि हो।
कनक रतन मनि मौन लिहे मुसुकातहि हो। ” ” ” ७
कटि कै छीनि बरिनियां छाता पानिहि हो।
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारि रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ ” ” ” ८
नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बोलाई हो।
कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिय कर हो॥ ” ” ” १०

१ मुनि गन बोलि कहेउ नृप माँडव छावन। गावहिं गीत सुवासिनि बाज बधावन। जा० मं० १२७

बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा। रा० १, २८७

सांस्कृतिक कृत्यों के सूचक शब्दावली के अन्तर्गत विशेष रूप से वरेखी (आजकल इस कार्य को अवधी की घरेलू बोली में वरदेखी के नाम से पुकारते हैं, जिसका तात्पर्य, कन्या के लिए वर ढूँढ़ना, तथा बीच में पड़ कर विवाह का निश्चय कराना होता है।), वेदी तैयार करना, कलस थापना, तेल चढ़ाना, लगन देना, अगवानी, जनवासा, सामध, पाँवड़े पड़ना, परिछन, आरती, शान्ति-पाठ, अरघ, मधुपर्क, नेगचार, अग्नि थापना, कुसोदक लेना, कन्या-दान का सकल्प, साखोच्चार, पानिग्रहन, सिंदूर वंदन, होम, लावा, सिलपोहनी, भाँवर, कोहवर ले जाना, लहकौरि, जेवनार, गारी और निछावर आदि उल्लेखनीय हैं।[1] मुँह-

---

रचे रुचिर वर वंदनिवारे। रा० १, २८६
चौकें भाँति अनेक पुराईं। रा० १,२८८
मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चमर सुहाए। रा० १, २८६
हय गय स्यंदन साजहु जाई। रा० १, २६८।
सिविका सुभग सुखासन जाना। रा० १, ३००
वेसर ऊँट वृषभ बहु जाती। चले वस्तु भरि अगनित भाँती॥ रा० १, ३००
कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। विविध वस्तु को वरनै पारा॥ रा० १, ३००
नागर नट चितवहिं चकित, उगहि न ताल वँधान। रा० १, ३०२
करहिं कि नाना। रा० १, ३वदूपक कौतु०२
नट भाट मागध सूत जातक जस प्रतापहि वरनहीं। जा० मं० १८०
परेउ निसानहि घाउ चाउ चहुँ दिसि पुर। पा० मं० ६२
सरस राग वाजहिं सहनाई। रा० १, १०२
तुरग नचावहिं कुँअर वर, अकनि मृदंग निसान। रा० १, १२२

1. तैसी वरेखी कीन्ह पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी। पा० मं० १२१
   प्रथम हरदि वेदन करि मंगल गावहिं।
   करि कुल रीति कलस थपि तेलु चढ़ावहिं। जा० मं० १२६
   ललित लगन लिखि पत्रिका, उपरोहित के कर जनक जनेस पठाई। गी० १, १०१
   नृप सुनि आगे आइ पूजि सनमानेउ।
   दीन्हि लगन कहि कुसल राउ हरपानेउ। जा० मं० १३१
   आवत जानि वरात वर, सुनि गहगहे निसान।
   सजि गज रथ पद चर तुरग, लेन चले अगवान॥ रा० १, ३०४
   नियरानि नगर बरात हरषी लेन अगवानी गए। जा० मं० १३५
   दीन्ह जाइ जनवास सुपास किए सब। पा० मं० ११७
   गिरि बर पठए बोलि लगन वेरा भई। मंगल अरघ पाँवड़े देत चले लई॥
   पा० मं० ११८
   पहिलिहि पँवरि *सुसामध* भा सुखदायक। पा० मं० १३०

दिखाई[१] की प्रथा का निर्देश भी हुआ है।

परम्परागत रूढ़ियों के क्षेत्र में दूल्हा और दुलहिन की विशिष्ट वेषभूषा तथा दाइज की प्रथा और उसका वाह्य स्वरूप आदि बातों की चर्चा आ जाती है। रामचरितमानस, पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल में इस विषय से संबधित शब्दावली पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुई है।

दूल्हा-दुलहिन की वेषभूषा एवं शृंगार के विषय में 'जावक' (महावर), पीत धोती, किंकिन, कटि सूत्र, पीत जनेऊ, मुद्रिका, पियर उपरना, कुंडल, तिलक और मौर तथा दुलहिन की वेषभूषा के अन्तर्गत चूनरी और पीत पिछौरी (जिसका कुछ निर्देश पीछे स्त्रियों की वेषभूषा के प्रसंग में किया जा चुका है) उल्लेखनीय है।[२]

सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जसु गावन लागे॥ रा० १, ३२०
मंगल आरति साजि बरहि परिछन चलीं। जा० मं० १४८
करि आरती अरघु तिन्ह दीन्हा। राम गवन मंडप तब कीन्हा॥ रा० १, ३१९
साति पढहिं महिसुर अनुकूला। रा० १, ३१९
अरघ देइ मनि आसन बर बैठायउ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अँचवायउ॥ पा० मं० १३५
नेगचारु कहँ नागरि गहरु लगावहिं। जा० मं० १५१
अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ।
कन्या दान विधान संकलप कीन्हेउ॥ जा० मं० १६१
साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहँसहिं। जा० मं० १४३
भयो पानिगहन बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनंद भरैं। रा० १, ३२४
सिंदूर बदन होम लावा होन लागी भावँरी।
सिलपोहनी करि मोहिनी मन हर्यो मूरति सावँरी। जा० मं० १६२
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै। रा० १, ३२६
करि लहकौरि गौरि हर बड़ सुख कीन्हेउ। पा० मं० १४४
चहुँ प्रकार जेवनार भई बहु भाँतिन्ह। जा० मं० १७८
जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥
रा० १, ३२९
करहिं निछावरि छिनु छिनु मंगल मुद भरी। जा० मं० २०९

१. नारि उहार उघारि दुलहिनिन्ह देखहिं। जा० मं० २११

२. जावक जुत पद कमल सुहाए।
पीत पुनीत मनोहर धोती।
कल किंकिनि कटि सूत्र मनोहर।
पीत जनेउ महाछबि देई।
कर मुद्रिका चोरि चित लेई। रा० १, ३२७

दहेज में दी जाने वाली वस्तुओं का निर्देश करने वाले शब्द तुलसी की शब्दावली में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिन के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा को विवाह का एक बड़ा व्यापक अंग मान कर तुलसी चले हैं। इन वस्तुओं मे विशेष रूप से कंबल, गज, रथ, दास, दासी, धेनु, उपहार, तुरग, स्वर्ण, वस्त्र, मनि, महिषी आदि उल्लेखनीय हैं।[1] विवाहोपरांत सुदिन सोधकर कंकन छोरने की प्रथा,[2] तथा परदा अथवा घूँघट[3] की प्रथा का, विवाह-संस्कार-सूचक शब्दावली के अन्तर्गत ही वर्णन हुआ है, जिन में पहली तो विवाह संस्कार के पश्चात् होने वाली किंतु उसी का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानी जाने वाली क्रिया है, और दूसरी का संबध गृहस्थ परिवारों के भीतर प्रचलित स्त्रियों की सामान्य रहन-सहन की पद्धति से है, न कि केवल विवाह संस्कार से।

विवाह-सस्कार-सूचक शब्दावली में जो शब्द आए हैं वे दो प्रकार के हैं। एक

पियर उपरना काँखासोती।
नयन कमल कल कुंडल काना।
भाल तिलक रुचिरता निवासा।
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे॥
रा० १, ३२७

मंगलमय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूनरी पीत पिछौरी। गी० १, १०३

१. कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडपु पूरी॥
कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी॥
बस्तु अनेक करिय किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥
रा० १, ३२६

भरि भरि बसह अपार कहारा। पठईं जनक अनेक सुसारा॥
तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा॥
मत्त सहस दस कुंजर साजे। जिन्हहि देखि दिसि कुंजर लाजे॥
कनक वसन मनि भरि भरि जाना। महिषी धेनु वस्तु विधि नाना॥
दाइज अमित न सकिअ कहि, दीन्ह बिदेह बहोरि। रा० १, ३३३
दाइज भयउ बिबिध विधि जाइ न सो गनि।
दासी दास वाजि गज हेम वसन मनि। जा० मं० १७५

२. सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। रा० १, ३६०

३. चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो।
क० १, १६

का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि।
चाँद सरग पर सोहत एहि अनुहारि॥ वरवै० १६

तो वे जो प्राचीन ग्रंथों में वर्णित सांस्कृतिक कृत्यों अथवा सांस्कृतिक रूढ़ियों का परम्परागत रूप में चित्रण करते हैं, उनमें कोई विशेष मौलिकता नहीं पाई जाती, और न निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि वे तुलसी के समय में प्रचलित थे या नहीं। दूसरे वे शब्द हैं जो सचमुच तुलसी की समकालीन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का किसी न किसी रूप में निर्देश करते हैं, उदाहरणार्थ सांस्कृतिक रूढ़ियों के अन्तर्गत विवाह-संस्कार के समय 'सींक का धनुष' दूल्हे को देकर उसकी शक्ति की विनोदमय परीक्षा ली जाती थी।[1] इसी प्रकार एक दूसरी रूढ़ि है कोहबर में दूल्हा और दुलहिन को जुआ खेलाने की।[2] यह आजकल भी बराबर किसी न किसी रूप मे दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के शब्द बहुत कुछ तुलसी की समकालीन रूढ़ियों की ओर संकेत करते हैं। किंतु मंडप-निर्माण, पाणिग्रहण आदि कृत्यों से संबंधित शब्द प्राचीन परंपरा के सूचक हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार—इस संस्कार का सूचक 'क्रिया' शब्द, जो वस्तुतः शाब्दिक अर्थ में किसी भी कार्य का बोधक होते हुए भी इस संस्कार के अर्थ में रूढ़ हो चला है और आज तक इसी रूप में चल रहा है, तुलसी की शब्दावली में भी व्यवहृत हुआ है।[3]

अयोध्या में भरत द्वारा दशरथ की दाहक्रिया के प्रसंग में अन्त्येष्टि संस्कार की कुछ विधियों तथा उसके अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली कुछ वस्तुओं का निर्देश बहुत स्पष्ट शब्दों में किया गया है। इन में वैदिक रीति से मृत व्यक्ति के शव का नहलाना, उसको उपयुक्त वाहन में रख कर एक पवित्र नदी के समीप ले जाना, चंदन-अगर आदि सुगंधित काष्ठ-सामग्री द्वारा चिता का निर्माण करके उस में शव का दाह करना, तिलांजलि देना, शास्त्रीय रीति से दशगात्र विधान करके अन्त्येष्टि क्रिया करने वाले का शुद्ध होना, ब्राह्मणों को दान देना (दान के अन्तर्गत दी जानेवाली वस्तुओं में धेनु, घोडे, हाथी नाना प्रकार के वाहन, सिंहासन, भूषण, वस्त्र, अन्न, पृथ्वी, धन और गृह आदि की चर्चा आई है) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[4] शव को देर तक अविकृत रखने के लिए

---

१ सींक धनुष हित सिखन सकुचि प्रभु लीन।
मुदित माँगि एक धनुहीं नृप हँसि दीन॥ बरवै० १६

२ जुआ खेलावत कौतिक कीन्ह सयानिन्ह।
जीति हारि मिस देहिं गारि दुहुँ रानिन्ह॥ जा० मं० १६८

३ तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम। रा० ३, ३२
करि पितु क्रिया वेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक तम तरनी॥ रा० २, २४८

४. नृप तनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दस गात बिधाना॥

उसे तेल की नाव में रखने का उपाय प्रचलित था, इस का संकेत भी मिलता है।[1]

३. त्यौहार-सूचक शब्द

हिंदू-समाज में प्रचलित त्यौहारों के अन्तर्गत 'भूला' और 'फाग' का ही विशद चित्रण तुलसी की शब्दावली मे मिलता है। वस्तुत: ये दो त्यौहार ऐसे हैं जो कुछ अन्य त्यौहारों की भाँति केवल कतिपय उच्च अथवा मध्यम वर्ग की जातियों के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय जनता के सभी वर्णों एव जातियों के लोगों द्वारा समान रूप से और समान अधिकार से मनाए जाते हैं। यहाँ पर इस बात पर बल देने का प्रमुख कारण यह है कि तुलसी का विषय-तत्व इतना विस्तृत और इतना व्यापक था कि वे बिना किसी प्रकार की असुविधा के, बिना प्रसग के बाहर गए हुए ही, अन्य त्यौहारों पर भी, जिनका नाम मात्र कहीं-कही उन्होने प्रासंगिक रूप से ले लिया है, थोड़ा विस्तार के साथ लिख सकते थे। ऐसे स्फुट त्यौहारों में दिवारी (दीपावली) तथा होली (होलिका) उल्लेखनीय है।[2] 'दिवारी' अथवा 'दीपावली' के लिए ही प्रयुक्त शब्द 'दीपमालिका'[3] की चर्चा भी यहाँ पर की जा सकती है।

भूला से संबधित वस्तुओं और कृत्यों के सूचक शब्दों के अन्तर्गत हिंडोलना, भूलन, सावन, स्त्रियों का सामूहिक रूप से साज-शृगार के साथ भूलने के लिए जाना, ओसरी ओसरी से (बारी-बारी से) एक दूसरे को झुलाना और स्वयं भूलना, गौंड़ और मलार गाना, खभ, पाटि (जिस पर बैठ कर भूलते हैं, इसी को 'पटुली' के नाम से भी पुकारा गया है।) स्त्रियों का कुसुँभी चीर पहनना, गुंड और मलार के अतिरिक्त सोरठ, सारग आदि रागों में वाद्य के साथ गाना, भूले का मचना ('मचना' शब्द बड़ा ही ठेठ और व्यंजक है और यह शब्द भूले के अत्यत तीव्र गति से चलने का बोध कराता है।)

भये बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥
सिंहासन भूषन बसन, अन्न धरनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन काम॥ रा० २, १७०

१ तेल नाव भरि नृप तनु राखा। रा० २, १५७

२ आजु कि कालिह परों कि नरों जड़ जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो।
क० ७, १७६

गोपद पयोधि करि होलिका ज्यों लाइ लंक निपट निसंक पर पुर गल बल भो।
क० ह० बा० ६

३. साँझ समय रघुबीर पुरी की सोभा आजु बनी।
ललित दीपमालिका बिलोकहिं हित करि अवध धनी॥
फटित भीत सिखरन पर राजति कंचन दीप अनी।
जनु अहिनाथ मिलन आयो मनि सोभित सहस फनी॥ गी० ७, २०

इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[१] फाग का उत्सव वसंत ऋतु में फागुन के मास में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया जाता था। इसके अन्तर्गत एक से एक मनोरंजक और विनोदमय शिष्ट एवं अशिष्ट दृश्यों और कृत्यों का रूप उपस्थित होता था। इन सब का संकेत तुलसी ने जिन शब्दों द्वारा किया है, उनमें विशेष रूप से बसंत, अबीर की झोलियाँ, पिचकारी, मृदंग, डफ, ताल और वेनु आदि बाजों का बजना, सुगंधित मलयरेणु का छिड़कना, रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहने हुए युवतियों के यूथ का 'छरी बेंत' लेकर 'बिभाग' सोधना और सरस राग से चाँचरि और झूमक कहना, ललनागण का दौड़ना (आजकल भी मथुरा के बरसाने जैसे स्थलों में, जो फाग का विशेष सांस्कृतिक केन्द्र माना जाता है, स्त्रियाँ छड़ी लेकर पुरुषों को मारने दौड़ती हैं और पुरुष अपना बचाव करते हुए भागते हैं, यह कृत्य बड़े ही पारस्परिक आनंद एवं विनोद के साथ सम्पन्न होता है, यद्यपि इसमें पुरुषों को कभी-कभी ऐसी चोटें भी लग जाती हैं कि वे महीनों तक के लिए पड़ जाते हैं।), फगुआ मना कर लोचन आँजना, और हा हा करा कर नचा नचा कर छोड़ना, विदूषकों का स्वाँग साज कर खरों पर सवार हो निर्लज्ज हो कर कूटोक्तियाँ करना, नर-नारियों का परस्पर गारी देना, और लोगों का उस में भी विनोद का अनुभव करना, किंसुक वर्ण का वातावरण, अबीर के साथ-साथ कुंकुम इत्यादि भरना और बिखेरना, और अंत में याचक-जनों को

---

१. आली री राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।
उनये सघन घन घोर मृदु झरि सुखद सावन लाग।
सो समौ देखि सुहावनो नव सत सँवारि सँवारि।
गुन रूप जोबन सींव सुंदरि चलीं झुंडनि झारि।
हिंडोल साल बिलोकि सब अंचल पसारि पसारि।
लागीं असीसन राम सीलहि सुख समाजु निहारि।
झूलहिं झुलावहिं ओसरिन्ह गावैं सुगौंड मलार। गी० ७,१८
गृह गृह रचे हिंडोलना महि गच काँच सुढार।
सरल बिसाल बिराजहीं बिद्रुम खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटी पुरट की झरकत मरकत भौंर।
मरकत भँवर डाँडी कनक मनि-जटित दुति जगमगि रही।
पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रकट करि राखी सही।
कुसुंभि चीर तनु सोहहीं भूषन बिबिध सँवारि।...
सारंग गुंड मलार सोरठ सुहव सुघरनि बाजहीं।
अति मचत छूटत कुटिल कच छबि अधिक सुंदरि पावहीं।
पट उड़त भूषन खसत हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं।
फिरि फिरि झूलहिं भामिनी अपनी अपनी बार। गी० ७,१६

भूषन और चीर आदि का दान देना इत्यादि उल्लेखनीय हैं।[1]

विदूषकों के स्वाँग और भद्दी गालियों के दृश्य आजकल भी दिखाई पड़ते हैं। फाग के संबंध में पीछे जिन कृत्यों का निदेश किया गया है, उनमें एक बात विशेष रूप से स्पष्ट है और वह है इस पर ब्रज-प्रदेश में प्रचलित फाग का प्रभाव। वैसे भी परम्परागत रूप में रामचरितवर्णन के अन्तर्गत फाग इत्यादि का विशेष विवरण न मिलने से तुलसी ने कृष्ण-लीला-संबंधी ग्रंथों तथा कृष्णलीला के केन्द्रों से ही इस उत्सव की शब्दावली इत्यादि ग्रहण की होगी। यह भी संभव है कि तुलसी के समय में सामान्य रीति से जनता में फाग का उत्सव इसी प्रकार मनाया जाता रहा हो।

४. शिष्टाचारसूचक शब्द

शिष्टाचार का स्वरूप प्रायः उन स्थलों पर प्रयुक्त शब्दावली में दिखाई देता है, जहाँ तुलसी ने सभा-सोसायटी अथवा उत्सव आदि का प्रसंग चित्रित किया है जिसमें सामूहिक रूप से कई व्यक्ति किसी न किसी रूप में भाग लेते हैं। इस विषय में अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट और लंका तथा जनसमुदाय के वातावरण के वर्णन में आए हुए शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। चित्रकूट की सभा में भरत और राम आदि के भाषणों में शिष्टाचार की सर्वोत्तम शब्दावली तथा लंका की सभा में इसकी सबसे निकृष्ट शब्दावली मिलेगी (दूसरे प्रसंग को तुलसी की दृष्टि से शिष्टाचार के अन्तर्गत

---

१. खेलत बसंत राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज॥
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ॥
बाजहिं मृदंग डफ ताल बेनु। छिरकहिं सुगंध भरे मलय रेनु॥
उत जुबति जूथ जानकी संग। पहिरे पट भूषन सरस रंग॥
लिए छरी बेत सोधैं बिभाग। चाँचरि झूमक कहैं सरस राग॥
नूपुर किंकिनि धुनि अति सुहाइ। ललना गन जब जेहि धरहिं धाइ॥
लोचन आँजहिं फगुआ मनाइ। छाड़हिं नचाइ हा हा कराइ॥
चढ़े खरनि बिदूषक स्वाँग साजि। करैं कूट निपट गई लाज भाजि॥
नर नारि परसपर गारि देत। सुनि हँसत राम भाइन्ह समेत॥
गी० ७,२२

खेलत फागु अवधपति अनुज सखा सब संग।
ताल मृदंग झाँझ डफ बाजहिं पवन निसान।
सुघर सरस सहनाइन्ह गावहिं समय समान।
किंसुक बरन सुअंसुक सुषमा सुखनि समेत।
कुंकुम सुरस अबीरनि भरहिं चतुर बर नारि।
खेलि बसंत कियो प्रभु मज्जन सरजू नीर।
बिबिध भाँति जाचक जन पाए भूषन चीर। गी० ७,२१

ग्रहण करना उचित न होगा, क्योंकि वे राक्षसों की सभा में इस प्रकार के शिष्टाचार को अस्वाभाविक समझते थे)।

ऐसे शिष्टाचार-सूचक शब्दों में 'प्रणाम' अथवा 'अभिवादन' का सूचक 'जयजीव' शब्द सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका व्यवहार दशरथ और उनके सेवकों के वार्तालाप में तथा सुमंत-दशरथ-वार्तालाप में और राम-सुमंत-संवाद में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।[1] केवल राजकीय प्रसंगों में इस शब्द का प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है कि सामान्य जनता के बीच नहीं, वरन् शिष्ट एवं उच्च कोटि के राजदरबारों में ही यह विशेष आदरसूचक शब्द प्रचलित रहा है।

शिष्टाचार-सूचक अन्य शब्दों एवं वाक्यों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—'साधु साधु' ('शाबास' के अर्थ में अथवा 'बहुत ठीक' के अर्थ में), 'बलि जाउँ' 'मेरे बिसेषि गति रावरी' (मुझे तो आपका ही सहारा है, जैसा आजकल भी शिष्टाचार में लोग बोलते हैं), 'बात चले बात को न मानिबो बिलग बलि' (बात चलने पर, कोई लगने वाली बात कह दी जाय, तो बुरा न मानिएगा—यह ढंग भी आधुनिक वार्तालाप में बराबर मिलता है)।[2] इनमें केवल 'साधु साधु' शब्द ऐसे हैं, जो आधुनिक शिष्टाचार में बिल्कुल प्रयुक्त नहीं होते। संभवतः तुलसी के समय में, विशेषकर संतों की मंडली में, यह शब्द खूब प्रचलित रहा होगा।

५. व्यवसायसूचक शब्द

प्रायः व्यवसायों के रूप में ही समाज के विभिन्न वर्गों तथा विभिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों के रहन-सहन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं के सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानकारी हो पाती है। तुलसी की शब्दावली के आधार पर विचार करें, तो उसमें व्यवसाय की दृष्टि से लगभग वह सम्पूर्ण सामग्री मिलती है, जिसका सामान्य जन-जीवन

---

१ मुदित महीपति मंदिर आए। सेवक सचिव सुमंत्रु बुलाए॥
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाए। भूप सुमंगल बचन सुनाए॥ रा० २,४
कहि जयजीव बैठ सिरु नाई। रा० २,३८
देखि सचिव जय जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनामु। रा० २,१४८

२ कहि 'साधु साधु' गाधि सुवन सराहे राउ महराज जानि जिय ठीक भली दई है। गी० १,८४
निवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की। क० १,३
हौं बलि जाउँ और को जानै ? कही कपि कृपानिधान सों। गी० ५,२३
तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥ रा० २,५३
मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे। गी० १,१२
बात चले बात को न मानिबो बिलग बलि,
का की सेवा रीझि के निवाजो रघुराज जू ? क० ७,१९

के किसी क्षेत्र के लिए कुछ भी उपयोग रहा है। इनमें प्रमुख रूप से किसबी, किसान, बनिक, भिखारी, भाँट, चाकर, नट, चोर, चार, चेटकी, व्यवहरिया, धनिक (महाजन या साहूकार के अर्थ मे), बजाज, सराफ, उपरोहित, नाऊ, बारी, कहार, जोलाहा, बटपार, दूत, बैद, माली, सूत, मागध, गायक, आगमी (ज्योतिषी), भँडुआ, दर्जी—ये शब्द व्यवसाय करने वालों के लिए[1], लोहारिनि, अहिरिनि, तमोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मालिनि, बारिनि, नाउनि आदि शब्द व्यवसाय करने वालों की पत्नियों के लिए (जिनका निर्देश पीछे संस्कारसूचक शब्दों के अन्तर्गत प्रासंगिक रूप में हो चुका है) तथा मूसर, खुरपा, खरिया, आलबाल, खेत के धोखा, पाही खेती, पारई, खरी, खलेल, अवाँ (जिसके भीतर रख कर कुम्हार बर्तन पकाता है), घट, ब्यौंत (कपड़ा कतरने के लिए दरजियों का पारिभाषिक शब्द) और कोल्हू पेरना आदि शब्द व्यवसाय-संबधी वस्तुओं एवं कृत्यों की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।[2]

---

१. किसबी किसान कुल बनिक भिखारी भाट
चाकर चपल नट चोर चार चेटकी। क० ७, ९६
पुनि आनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥ रा० १,२७६
देवे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ। वि० १००
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते। रा० ७,२८
उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥ रा० ७,४८
नाऊ बारी भाट नट, राम निछावरि पाइ। रा० १,३१९
भरि भरि बसह अपार कहारा। पठईं जनक अनेक सुसारा॥ रा० १,३३३
धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ। क० ७,१०६
चोर चतुर, बटपार नट, प्रभु प्रिय भँडुवा भंड। दो० ५४९
ललित लगन लिखि पत्रिका उपरोहित के कर जनक जनेस पठाई। गी० १,१०१
मंत्री गुरु अरु बैद जो, प्रिय बोलहिं भय आस। दो० ५२४
सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु मानहु मदन माली आपु निरमई है।
गी० १,९४

तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि। रा० ५,२१
सूत, मागध प्रबीन, बेनु बीना धुनि द्वारे, गायक सरस राग रागे। गी० ७,२
अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुन गन बहुतन्ह परिचौ पायो। गी० १,१४
अब देह भई पट नेह के घाले सों ब्यौंत करै बिरहा दरजी। क० ७,१३३

२—गुन ज्ञान गुमान भभेरि बड़ी कलपद्रुम काटत मूसर को। क० ७, १०२
कुस गात ललात जो रोटिन को घरवात धरे खुरपा खरिया। क० ७, ४६
आलबाल मुकुताहलनि, हिय सनेह तरु मूल। दो० ३०९

६. कलाकौशल से संबंधित शब्द

कला-कौशल का जो रूप तुलसी के समय मे अथवा उस समय में, जिसको उन्होंने अपने वर्ण्य-विषय से संबधित माना है, प्रचलित रहा है, उसके सबध मे तुलसी की शब्दावली के भीतर वास्तु, चित्र, नृत्य, वाद्य, संगीत, काव्य तथा कुश्ती आदि विभिन्न कोटि की कलाओं के सूचक शब्द यत्रतत्र पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं।

वास्तुकला और चित्रकला के अन्तर्गत गृह-निर्माण, मडप-निर्माण, पच्चीकारी आदि विभिन्न विषयों का समावेश हो जाता है, जिनका विशद चित्रण जनकपुर, अयोध्या तथा लका के प्रासादों की सजधज के वर्णन में मिलेगा, उदाहरणार्थ राम-विवाह के अवसर पर जनकपुर के कलाकारों की कारीगरी के वर्णन में[1] कनक केदली के खम्भ बनाना, पद्मराग के फूल, और हरी मणियों के पत्र व फल बनाना, अहिवेलि बनाना, बध बनाना, बीच बीच में मुक्तादाम लगाना, मानिक, मरकत, कुलिस, पिरोजा (फीरोजा) का प्रयोग, रग-बिरगे भँवरों, सुर-प्रतिमाओं आदि का खम्भों पर अकित करना इत्यादि, अयोध्या मे झूले के अवसर पर की गई तैयारियों के चित्रण तथा अयोध्या के महलों एव अन्य कला-सबधी वस्तुओं के वर्णन में फटिक भीति, मनिमय पौरि, काँच-गच, कोट, कँगूरा, कलस, झरोखा, मनि-दीप, देहरी, मनि-खभ,

---

कुअँर चढ़ाई भौंहैं अबकी बिलोकि सोहैं जहाँ तहाँ भे अचेत खेत के से धोखे हैं।
गी० १, ९३

पाहो खती लगन बट, रिन कुब्याज मग खेत। दो० ४७८

मनि भाजन मधु पारई, पूरन अमी निहारि। दो० ३५१

सुकृत सुमन तिल मोद बासि बिधि जतन जंत्र भरि घानी।
सुख सनेह सब दियो दसरथहि, खरि खलेल थिर थानी॥ गी० १, ४

कोप कृसानु गुमान अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे। क० ७, ११८

अब देह भई पट नेह के घाले सो ब्यौंत करै बिरहा दरजी। क० ७ १३३

पेरत कोल्हू मेलि तिल, तिली सनेही जाति। दो० ४०२

१—बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा॥
हरित मनिन्ह के पत्र फल, पदुम राग के फूल। रा० १, २८७
कनक कलित अहि वेलि बनाई। लखि नहि परइ सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बध बनाए। बिच बिच मुकुता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥
किए भृंग बहु रंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा॥
सुर प्रतिमा खभन गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ी॥
सौरभ पल्लव सुभग सुठि किए नीलमनि कोरि।
हेम बौर मरकत घवरि, लसत पाट मय डोरि॥ रा० १, २८८

अजिर, द्वार, कपाट और चित्रशाला आदि तथा रावण की लंका के वर्णन में कनक कोट, चउहट्ट (चौहाट), हट्ट (हाट), सुबट्ट (सुबाट या सुमार्ग), बीथी (गलियाँ) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[1]

संगीत-कला के अन्तर्गत वाद्य के भीतर घंटा, घंटी, पखाउज, आउज, झाँझ, वेनु, डफ, तार, सहनाई और मृदग इत्यादि, जिनकी कुछ चर्चा पीछे संस्कार व त्यौहार के सूचक शब्दों के अन्तर्गत आ चुकी है, तथा संगीत-नृत्य-सूचक स्फुट शब्दों में नट, नटी, ताल, बंधान, राग, तान आदि और काव्यकला के अन्तर्गत छंद, प्रबध, गीत, पद आदि आते हैं।[2] स्फुट कलाओं के अन्तर्गत विदूषकों के हास-परिहास एवं कौतुक की कला तथा पहलवानों की कुश्ती (इस प्रसंग में 'अखारा' शब्द का प्रयोग तुलसी ने किया है, जो आजकल भी बहुलता से व्यवहृत होता है) इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।[3]

---

१. फटिक भीति सुचारु चहुँ दिसि मंजु मनिमय पौरि।
गच काँच लखि मन नाच सिखि जनु पाँच सर सुफँसौरि॥ गी० ७, ७८
पुर चहुँ पास कोट अति सुन्दर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥
धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं॥
मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहि देहरी बिद्रुम रची।
मनि खंभ भीतिं बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुन्दर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु वज्रन्हि खचे॥
चारु चित्र साला गृह, गृह प्रति लिखे बनाइ। रा० ७, २७
कनक कोट बिचित्र मनि कृत सुन्दरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥ रा० ५, ३

२. घंटा घंटि पखाउज आउज झाँझ वेनु डफ तार।
नूपुर धुनि मंजीर मनोहर कर कंकन झनकार॥
नृत्य करहिं नट नटी नारि नर अपने अपने रंग।
मनहुँ मदन रति बिबिध वेष धरि नटत सुदेस सुढंग॥ गी० १,२
सुर नर नारि सुमंगल गाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥
तुरग नचावहिं कुअँर बर अकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित, डगहिं न ताल बँधान॥ रा० १, ३०२
उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान। गी० १,२

३. करहिं विदूषक कौतुक नाना। हास कुसल कल गान सुजाना॥ रा० १, ३०२
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं। रा० ५, ६

७. परम्परागत जनविश्वासों के सूचक शब्द

इस क्षेत्र के भीतर जनता में प्रचलित वे सारे परम्परागत विश्वास आ जाते हैं, जिनकी पुष्टि के लिए किसी विशेष तर्क अथवा बौद्धिक समाधान की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया जाता, वरन् उन्हें रेखागणित की स्वयसिद्धियो की भाँति मान लिया जाता है। लोग अपने जीवन के, नित्य एव नैमित्तिक, उभय प्रकार के लौकिक व्यापारों के भीतर उन विश्वासों के प्रति सजग रहने का प्रयत्न करते हैं।

तुलसी ने जिन विश्वासों एव अंधविश्वासों का निर्देश अपनी शब्दावली मे किया है, वह प्रमुखत: चार रूपों में मिलते हैं :—

१–शकुन, २–अपशकुन, ३–अधविश्वास तथा ४–उपचार (झाड़-फूँक आदि)

शकुन के अन्तर्गत बाईं दिशा में चाषु (नीलकठ) का चारा लेना, दाहिनी ओर कौए का खेत में रहना, नकुल-दर्शन, घट और बाल के साथ वर नारी का आना, लोआ (लोमड़ी) का दर्शन, सामने शिशु का दूध पिलाते हुए सुरभी का दर्शन, दाहिनी ओर मृगमाला का आना, छेमकरी तथा स्यामा पक्षियों का दिखाई पड़ना, दधि और मीन का सामने आना, पुस्तक लिए ब्राह्मण का मिलना (इन सारे शकुनों का एक साथ वर्णन रामविवाह के अवसर पर अयोध्या से बारात के प्रस्थान करने के प्रसग में किया गया है), स्त्री का बायाँ अग फड़कना (विशेप रूप से बाएँ नेत्र और बाएँ हाथ का फड़कना) पुरुषों का दाहिना नयन और भुज फड़कना विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] शकुन के बाह्य लक्षणों के अतिरिक्त भारतीय लोकजीवन के क्षेत्रों में प्रचलित सगुन मनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के दृश्य भी कहीं-कहीं बड़ी सजीव शब्दावली में अंकित हैं, जैसे अयोध्या में कौशल्या द्वारा काग-दर्शन तथा छेमकरी-दर्शन के समय राम, लक्ष्मण और जानकी लिए सगुन मनाना—कौए को दूध-भात की दोनी देने का और सोने से उसकी चोंच मढ़ाने का प्रलोभन देना आदि।[2]

---

१. चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ पावा॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरस देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा॥
छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥ रा० १, ३०३
पेखि सप्रेम पयान समय सब सोच बिमोचन छेमकरी है। क० ७, १८०
फरकत मंगल अंग सिय बाम बिलोचन बाहु। रामाज्ञा० ५, २, ५
सबरी सोइ उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु। गी० ३, १७, १
भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार। रा० ७, प्रारंभिक दोहा संख्या ४

२. बैठी सगुन मनावति माता।

अपशकुन—अपशकुन-सूचक शब्दों के अन्तर्गत विशेष रूप से ऊकपात (उल्कापात), दिकदाह, स्वान और सियार का फेकरना, केतु का उदय होना, पृथ्वी का काँपना, स्त्री की दाहिनी आँख फड़कना, रात में कुसपने देखना, खर (गदहा) का बोलना (बुरी तरह से चिल्लाना), प्रतिमाओं का रोना, पविपात, अतिवात (तूफानी हवा) बहना, पृथ्वी का डोलना (भूडोल), बलाहकों का रुधिर, कच और रज आदि अशुभ पदार्थ बरसाना इत्यादि उल्लेखनीय हैं।[1]

अंधविश्वास—इनके अन्तर्गत कल्पित देवी-देवताओं के प्रति अंधश्रद्धा की सूचक बातें तथा टोटक आदि से संबधित बातें ली जा सकती हैं। इनका विशेष प्रचार निम्नवर्गीय व्यक्तियों में अधिक दिखाई पड़ता है, जैसे बहराइच के गाजी मियाँ में विश्वास और 'निजरा का टोटक'। इनके अतिरिक्त कनसुई लेने की तथा अपने हाथ से दीवाल पर ऐपन लगाकर उसे पूजने की प्रथा के सूचक शब्द भी स्फुट अंध-विश्वासों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।[2] स्त्रियाँ गोबर की गौर को चलनी में रख कर

कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु काग फुरि बाता।
दूध भात की दोनी देहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं। गी० ६, १९

छेमकरी बलि बोलि सुबानी।
कुसल छेम सिय राम लषन कब, ऐहैं अंब अवध रजधानी।
ससि मुख कुंकुम बरनि सुलोचनि, मोचनि सोचनि बेद बखानी।
देवि दया करि देहि दरस फल, जोरि पानि बिनवहिं सब रानी।
सुनि सनेहमय बचन निकट ह्वै, मंजुल मंडल कै मँडरानी।
सुभ मंगल आनंद गगन धुनि, अकनि अकनि उर जरनि जुड़ानी।
फरकन लगे सुअंग बिदिसि दिसि, मन प्रसन्न दुख दसा सिरानी। गी० ६, २०

१. ऊकपात दिकदाह दिन, फेकरहिं स्वान सियार।
उदित केतु गतहेतु महि, कंपति बारहिं बार। रामाज्ञा० ५, ६, ३

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥ रा० २, २७

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा॥
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत उर सूला॥ रा० २, १५८

मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी॥
प्रतिमा रुदहिं पबिपात नभ अतिबात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही॥ रा० ६, १०२

२ लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ॥ दो० ४९९

स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचक उलटि न हेरो।
बि० २७२

पृथ्वी पर फेंकती हैं। यदि वह गौर सीधे गिरती है तो शकुन और आड़ी या उल्टी गिरती है तो अपशकुन मानते हैं। यही कनसुई की प्रथा है। ऐपन लगा कर पूजने की प्रथा का रूप कई घरेलू उत्सवों एव त्यौहारों पर स्त्रियाँ उपस्थित करती हैं।

उपचार (झाड़-फूँक आदि) की सूचक शब्दावली शिशु राम की वशिष्ठ द्वारा झाड़-फूँक के वर्णन में है, जहाँ पर प्रातःकाल उठकर शिशु राम अनरसे होकर दूध पीने में आनाकानी करते हैं और पालने में झुलाने पर भी बैठे ठाढे किसी प्रकार नहीं रहते तथा रोने लगते हैं। इस प्रसग में कुलगुरु का हाथ से शिशु का मस्तक छूना, कुश लेकर नृसिंह मत्र पढना, झराना आदि उल्लेखनीय हैं।[1]

८. सज्जासूचक शब्द

ऐसे शब्दों के स्थूल रूप से दो विभाग किए जा सकते हैं, एक में तो वे शब्द आएँगे, जिनका सम्बन्ध गली, चौहट, बाजार, घाट, मदिर, उपवन, बावली, कुँआ आदि की व्यवस्था तथा साजबाज से सबधित है।[2] आश्रम या तीर्थस्थल आदि से सबधित शब्द भी इसी विभाग में आ जाते हैं। दूसरे विभाग में इस प्रकार के शब्द आते हैं, जिनमें व्यक्तियों के शृङ्गार से सम्बन्धित क्रियाओं का संकेत मिलता है, जैसे बालकों की देह में उबटन चुपड़ना, नयन आँजना, गोरोचन का तिलक करना, भौंह पर मसि-बिंदु लगाना और पुरुषों अथवा स्त्रियों का विशिष्ट अवसरों पर

लेत फिरत कनसुई सगुन सुभ बूझत गनक बोलाइ के। गी० १, ६८
अपनो ऐपन निज हथा, तिय पूजहिं निज भीति। दो० ४५४

१ आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ़े, पालने झुलावत हू रोवत राम मेरो सोच सबही के॥
देव पितर ग्रह पूजिए तुला तौलिए घी के।
तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसे हि अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के॥
बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के॥
जासु नाम सर्बस सदा सिव पार्वती के।
ताहि झरावति कौसिला यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के॥
माथे हाथ ऋषि जब दियो राम किलकन लागे। गी० १, १२

२ राज दुआर सकल विधि चारू। बीथीं चौहट रुचिर बजारू॥ रा० ७, २८
उत्तर दिसि सरजू बह, निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर, स्वल्प पंक नहिं तीर॥ रा० ७, २८
दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजि गज ठाटा॥
पनिघट परम मनोहर नाना। राजघाट सब बिधि सुदर बर॥
नीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँदिसि तिन्ह के उपवन सुंदर॥

महावर लगाना इत्यादि ।[1] इन्हीं के अंतर्गत ग्राम्य वातावरण से सम्बन्धित शब्दो को भी ले सकते हैं, किन्तु तथ्य तो यह है कि अलग से ग्रामों की व्यवस्था के वर्णन का अवसर तुलसी को न मिलने के कारण उसके सज्ञासूचक शब्द, उनकी शब्दावली में प्रायः नहीं मिलते। केवल एकाध स्थलों पर तुलसी के वृक्ष आदि लगाने की चर्चा आई है, जो केवल ग्रामीण वातावरण तक सीमित नहीं कही जा सकती ।[2]

९. व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के नाम

इनके अन्तर्गत दो प्रकार के शब्द लिए जा सकते हैं। एक तो वे, जो दैनिक व्यवहार में आने वाली साधारण वस्तुओं से सम्बन्धित हैं और दूसरे वे, जो विशिष्ट अवसरो पर प्रयुक्त होने वाले पदार्थों एव वस्तुओं के द्योतक हैं। प्रथम प्रकार के शब्दों के अन्तर्गत लकड़ी, डौवा, करछुली, सिल, लोढ़ा आदि तथा दूसरे प्रकार के शब्दो में निषग, कोदड, सारग, कृपान (तरवारि), शक्ति, तोमर, चर्म, कमठ, सूल, परिघ, परसु, गोला, पक्खर (लड़ाई की झूल), गज, रथ, तुरग, सनाह (कवच), जुझाऊ ढोल, फरसा, बाँस, सेल, तुपक, दारू (बारूद), पलीता, गोली इत्यादि उल्लेखनीय हैं।[3]

तीर तीर तुलसिका सुहाई । वृन्द वृन्द बहु मुनिन्ह लगाई ॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा । वन उपवन वापिका तड़ागा ॥
वापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहही ॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं ।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हँकारहीं ॥ रा० ७, २६

१. चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन आँजे, रचि रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।
भ्रू पर अनूप मसि बिंदु बारे बारे बार, बिलसत सीस पर हेरि हरै हियो है ॥
गी० १, १०

जावक रचिक अँगुरियन्ह मृदुल सुठारी हो । रा० ल० न० १५
कुंकुम तिलक भाल स्रुति कुंडल लोल । बरवै० ८

२ नव तुलसिका वृन्द तहँ, देखि हरष कपि राय । रा० ५, ५

३. लकड़ी डौवा करछुली, सरस काज अनुहारि । दो० ५२६
फोरहिं सिल लोढ़ा सदन, लागे अढ़ुक पहार । दो० ५६०
कटि तट परिकर कसेउ निषंगा । कर कोदंड कठिन सारंगा ॥ रा० ६,८६
बहु कृपान तरवारि चमंकहिं । रा० ६, ८७
गज रथ तुरग चिकार कठोरा । रा० ६, ८७
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने । रा० ६, ८७
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसु धरा । रा० ३, १६

१०. मनोविनोद के साधनों से संबंधित शब्द

इन शब्दों के अन्तर्गत खेल-कूद आदि से संबधित शब्दो की गणना की जा सकती है। इस विषय में तुलसी ने प्रसगानुसार जिन शब्दो का व्यवहार किया है, उनमें प्रमुख रूप से कंदुक, चौगान, पतग, चग अथवा गुड़ी, अखाड़ा (कुश्ती अथवा मल्लयुद्ध) और पक्षी-पालन की चर्चा की जा सकती है; ऐसे पक्षियों मे मोर, हस, सारस, पारावत (कबूतर), सुक, सारिका, चातक और कोकिल उल्लेखनीय हैं।[1]

११. व्यसन-सूचक शब्द

तुलसी की रचनाओं में प्रयुक्त शब्दावली के अन्तर्गत भारतीय लोकसस्कृति के इस निंदनीय किंतु महत्त्वपूर्ण अग को बहुत कम स्थान मिला है, तथापि इस क्षेत्र में भी यत्रतत्र स्फुट सकेत विद्यमान हैं। इनमें जुआ, सुरापान, शतरज, मृगया अथवा अहेर और पैंत उल्लेखनीय हैं। शतरज और मृगया मनोविनोद के साधनों के अन्तर्गत भी रखे जा सकते हैं।[2]

लक्ख में पक्खर तिक्खन तेज जे सूर समाज में गाज गने हैं। क० ६,३६
साजि कै सनाह गजगाह सउछाह दल महाबली धाये बीर जातुधान धीर के।
क० ६, ३१
छाड़े महीधर सिखर कोटिन्ह बिबिध बिधि गोला चले। रा० ६,४६
सुमिरि राम पद पंकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं॥
अँगरी पहिरि कूँडि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥ रा० २, १९१
दीख निषाद नाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥ रा० २, १९२
काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमी पाल॥ दो० ५१५
गोली बान सुमंत्र सर, समुझि उलटि मन देखि। दो० ५१६

1. द्रोन सो पहार लियो ख्याल ही उखारि कर
कदुक ज्यों कपि खेल बेल कैसो फल भो। क० ह० बा० ६
अनुज सखा सिसु संग लै खेलन जैहैं चौगान। गी० १,४६
चढ़े बघूरे चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोक समाज। दो० ५१३
भरत गति लखि मातु सब रहि ज्यों गुड़ी बिन बाय। गी० ६, १४
लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥ रा० ६, १३
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥
मोर हंस सारस पारावत। भवननि पर सोभा अति पावत॥ रा० ७, २८
सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥ रा० १, ३३८
बोलत जो चातक मोर कोकिल कीर पारावत घने। गी० ७, १६
2. कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी। श्री कृष्ण० ६०

१२. प्रसिद्धियों के द्योतक शब्द

तुलसी की शब्दावली में ऐसे शब्दो की दो कोटियाँ स्थूल रूप से निर्धारित की जा सकती हैं। १—शास्त्र-प्रसिद्धियों के सूचक शब्द २—काव्यप्रसिद्धियों के सूचक शब्द।

शास्त्रप्रसिद्धियों से संबंधित शब्दावली के अन्तर्गत अगस्त्य का समुद्रपान, कच्छप, दिग्गज और शेषनाग का पृथ्वी धारण करना, क्षीरसागर की कल्पना, हनुमान जी का सूर्य के रथ के सामने पीछे की ओर भागते हुए शिक्षा लेना इत्यादि लिए जा सकते हैं।[1]

काव्यप्रसिद्धियों से संबंधित शब्दावली में स्वाति बूँद के प्रति चातक का आदर्श एवं अनन्य प्रेम, चकोर का चंद्रमा के प्रति दृष्टि लगाए रहना, चन्द्रमाविषयक विभिन्न कल्पनाएँ, प्रातःकाल मुर्गे का बाँग देना, इन्द्र की अमरावती को वैभव का मापदंड मानना तथा चकवा-चकई का रात में वियुक्त होना आदि उल्लेखनीय हैं।[2]

सुरा सेवरा आदरहिं, निंदहिं सुरसरि बारि। दो० ३२६
महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥ रा० ६, ६४
सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज
महाराज बाजी रची प्रथम न हति। वि० २४६
बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥ रा० १, २०५
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। रा० २, १३६
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं। गी० ६, १३

१. कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोषेउ सुजस सकल संसारा॥ रा० १, २५६
दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
रा० १,२६०
करउ सो मम उर धाम, सदा छीर सागर सयन। रा० १, आरंभिक सोरठा ३
भानु सों पढ़न हनुमान गए भानु मन अनुमानि सिसु केलि कियो फेर फार सों।
पाछिले पगनि गम गगन मगन मन क्रम को न भ्रम कपि बालक बिहार सों॥
क० ह० बा० ४

२. जाँचै बारह मास, पियै पपीहा स्वाति जल। दो० २०७
अंड फोरि कियो चेटुआ, तुष पर्‌यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर, डार्‌यो बाहिर बारि॥ दो० ३०३
मुनि लोचन चकोर ससि राघव, सिव जीवन धन सोउ न बिचारे। गी० २,२
घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। रा० १,२३८
जनम सिंधु पुनि बंधु बिषु, दिन मलीन सकलंक। १,२३७
उठे लखनु निसि बिगत सुनि, अरुन सिखा धुनि कान। रा० १,२२६

१३. ऐतिहासिक तथ्यों के सूचक शब्द

वैसे तो ऊपर जितनी भी बातों का विवेचन एवं विश्लेपण हो चुका है, वे सभी किसी न किसी रूप में ऐतिहासिक तथ्यों की कोटि में रखी जा सकती हैं, किंतु किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर तुलसी के समय की कुछ विशिष्ट घटनाओं एवं परिस्थितियों के संबंध में स्पष्ट निर्देश करने वाले शब्द मिल जाते हैं, जिन्हें विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों की सूचक शब्दावली में स्थान देना उचित होगा। इनके अन्तर्गत प्रधानतया मीन की सनीचरी, बिस्वनाथ की बीसी (रुद्रबीसी)[1] महामारी, गोरख का जोग तथा साखी, सबदी एवं दोहरा (जिन्हें कह कर कतिपय तत्कालीन निर्गुणवादी सन्त जनता को शास्त्रीय मार्ग से दूर हटा रहे थे) उल्लेखनीय हैं।[2]

तुलसी की शब्दावली के आधार पर सांस्कृतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों का अन्वेषण यह सिद्ध कर देता है कि तुलसी ने अपनी शब्दावली की योजना में अन्य संस्कारों के साथ-साथ जन-जीवन के यथार्थ रूप को भी बड़ी गहराई के साथ अपनाया था और वस्तुतः इन सभी को लेकर उनकी भाषा का रूप इतना व्यापक बन सका है।

जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥

रा० २, ११३

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी।

रा० २, ६६

संपति चकई भरतु चक, मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ, राखे भा भिनुसार। रा० २, २१५

१. एक तो कराल कलिकाल सूल मूल,
ता में कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की। क० ७, १७७
बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की।

क० ७, १७०

२. रोष महामारी परितोष महतारी दुनी देखिए दुखारी मुनि मानस मरालिके।

क० ७, १७३

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है। क० ७, ८४
साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं वेद पुरान॥ दो० ५५४

उपसंहार

तुलसी की भाषा के विविध पक्षों का प्रस्तुत विवेचन और विश्लेषण उन्हें एक ऐसे अद्वितीय भाषा-सम्राट् का व्यक्तित्व प्रदान करता है जिसके समान संभवतः संपूर्ण भारतीय साहित्य में नहीं, तो कम-से-कम हिंदी-साहित्य में तो दूसरा नहीं है। उनकी भाषा में वाल्मीकि की स्वाभाविकता, व्यास की समास-शक्ति, भारवि का अर्थगौरव, बाण का लालित्य, कालिदास की प्रासादिकता, चंद की अनेकरूपता, कबीर की ओजस्विता, जायसी की ठेठरूपता और सूर की माधुरी मर्यादित एवं समन्वित रूप में विद्यमान है।

भाषासम्राट् के नाते तुलसी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने के उपरांत हम अत्यंत संक्षेप में पिछले पृष्ठों में उपस्थित किए गए विवेचन के आधार पर तुलसी की भाषा के स्वरूप के संबंध में अपने निष्कर्षों का सारांश क्रमशः निम्नलिखित रूपों में व्यक्त कर सकते हैं :—

१—तुलसी ने पिछली कई शताब्दियों से ठेठ बोलचाल के रूप में प्रचलित जनभाषा के बिखरे हुए अंशों को समेट कर उनका समुचित संस्कार करके उसको एक व्यापक भाषा का रूप प्रदान किया है। उसमें विविध प्रकार की प्रादेशिक और विदेशी भाषाओं एव बोलियों के स्वाभाविक रूपों के साथ-साथ गढ़े हुए शब्द-रूपो का समावेश भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। फलतः आज भी राष्ट्रभाषा-विषयक समस्याओं के समाधान में उनका दृष्टिकोण उपयोगी है।

२—अन्य क्षेत्रों की भाँति, भाषा के क्षेत्र में भी, तुलसी मर्यादा और समन्वय के सिद्धान्त को सुरक्षित रखने के पक्ष में रहे हैं और यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के परम्परागत रूपों से लेकर ग्रामीण तथा विजातीय समुदाय में प्रचलित शब्द-रूपों तक का न्यूनाधिक अंश में यथास्थान उपयोग किया है।

३—तुलसी के विचार से जनोपयोगी साहित्य की रचना जीवित जनभाषा के माध्यम से ही अधिक सफलतापूर्वक हो सकती है। साथ ही ऐसी रचना में व्यापकता लाने के लिए मूलभाषा (सस्कृत) की पृष्ठभूमि का सहारा लेना वे आवश्यक समझते हैं।

४—गंभीर विषयों की चर्चा में प्रयुक्त होने वाली पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में संस्कृव का तथा सामान्य लोकव्यवहार की बातों को प्रकट करने में ठेठ प्रचलित बोली का आधार ग्रहण करना तुलसी की दृष्टि से सुविधाजनक एवं युक्तिसंगत है।

५—तुलसी व्याकरण के क्षेत्र में भाषा-विकास के मूल नियमों की तथा कवि की प्रयोगगत स्वच्छंदता के सिद्धान्त की रक्षा के समर्थक जान पड़ते हैं। फलतः उनमें व्याकरण की रूढ़िगत मान्यताओं की अपेक्षा भावगत प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के प्रति अधिक आग्रह दिखाई पड़ता है।

६—काव्य में भाषा के कलापक्ष के यथासभव अधिकाधिक निर्वाह के प्रति पूर्ण अभिरुचि रखते हुए भी वे कलाबाजी—कृत्रिम एव प्रयास-जन्य सजाव-शृङ्गार की प्रवृत्ति—के पक्ष में नहीं हैं।

७—भाषा को समवतः सांस्कृतिक उपयोगिता प्रदान करने के लिए अपने देश के सामाजिक जीवन के वातावरण में बहुलता से व्यवहृत होने वाले लोकसांस्कृतिक शब्दों, मुहावरों एव लोकोक्तियों को उन्होंने अपनी शब्दावली में स्थान दिया है और उनके द्वारा बडे मार्मिक सकेत उपस्थित करने में सफल हुए हैं।

तुलसी के भाषा-विषयक दृष्टिकोण एव प्रवृत्तियों के प्रकाश में हिन्दी-भाषा की लिपि एव व्याकरण की विभिन्न समस्याओं के समाधान पर विचार करें, तो इस क्षेत्र में भी कई अशों मे उनका समुचित उपयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रमुखतया निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :—

१—ध्वनियों के अन्तर्गत 'ष' और 'ख' दोनों ध्वनियों के बोध के लिए एक ही रूप 'ष' का व्यवहार तुलसी की कृतियों की लगभग सभी हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त होता है।[1] यदि इस प्रवृत्ति का वैज्ञानिक निरीक्षण कर के कतिपय सीमाओं का विचार रखते हुए, इसका अनुसरण किया जा सके, तो देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता को अपूर्ण बनाने वाली उस त्रुटि एव भ्रम का निराकरण हो सकता है जो 'ख' तथा 'रव' का अन्तर समझने में होता है।

२—सशाओं तथा धातुओं के निर्माण में अन्य शब्द-रूपों का आधार ग्रहण करके जिस स्वाभाविक एव सुविधाजनक नियमानुसरण-प्रणाली का सहारा तुलसी ने लिया है, उसका यथेष्ट उपयोग हिंदी के शब्द-भाडार की शास्त्रीय जटिलता को दूर करने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध हो सकता है।

३—विभिन्न कालों में प्रयुक्त होने वाले क्रिया-रूपों के विधान में सहायक क्रियाओं से कम से कम सहयोग लेने की प्रवृत्ति भी तुलसी की भाषा में बहुत दिखाई देती है। इसका भी उपयोग, वर्तमान हिंदी-काव्य-भाषा के क्षेत्र में किया जा सकता है।

इस प्रकार तुलसी की भाषा का अध्ययन हमें आज भी अपनी भाषा-साहित्य-सबधी समस्याओं को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण सहायता कर सकता है।

---

[1] अवधी के कवि लालदास के 'अवधविलास' जैसे ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियों में भी यह परम्परा सुरक्षित मिलती है। कबीर की भी हस्तलिखित प्रतियों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

प्रथम परिशेष

भाषा के आधार पर तुलसी की रचनाओं का वर्गीकरण

तुलसी के भाषा-विषयक दृष्टिकोण को अधिक क्रियात्मक रूप में समझने के लिए अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भाषा के आधार पर उनकी कृतियों के वर्गीकरण का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक जान पड़ता है। किसी कवि की कृतियों में थोड़े बहुत स्फुट प्रयोग अनेक बोलियों के मिल सकते हैं, किंतु उक्त आधार पर वर्गीकरण करते समय उनमें से केवल उन्हीं को अपने लक्ष्य का विषय बनाना चाहिए, जो कवि के ग्रंथ के अपने प्रमुख भाषा-रूप के क्षेत्र में आते हैं, उदाहरणार्थ तुलसी की रचनाओं में अरबी, तुर्की, फारसी जैसी विदेशी भाषाओं, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्व कालीन भाषाओं तथा बंगला, गुजराती, राजस्थानी आदि प्रांतीय भाषाओं का न्यूनाधिक मात्रा में प्रयोग अवश्य मिलता है, किंतु इनमें से किसी को भी बोलचाल एवं व्याकरण से संबंधित विशेषताओं के आधार पर किए जाने वाले वर्गीकरण में महत्त्व नहीं दिया जा सकता। तुलसी यत्रतत्र अन्य भाषाओं के प्रयोगों को अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति अथवा अपने व्यापक परिचय अथवा परिस्थिति-विशेष के प्रभावस्वरूप अपनी भाषा में खपाते हुए भी वस्तुतः हिंदी-भाषा के कवि हैं। अतः यहाँ पर हिंदी-भाषा के क्षेत्र के भीतर गिनी जाने वाली उपभाषाओं एवं बोलियों पर ही सारा ध्यान केन्द्रित किया जायगा। इसके अंतर्गत हम चाहे जितनी सूक्ष्म से सूक्ष्म परिधियों में जा सकते हैं, उदाहरणार्थ— यदि कोई कवि हिंदी की एक बोली अवधी का ही कवि हो, तो हम उसकी भाषा के अन्तर्गत अवधी-क्षेत्र की भी छोटी से छोटी प्रादेशिक उपबोलियों को इस प्रकार के वर्गीकरण में स्थान दे सकते हैं।

जब हम तुलसी की भाषा पर विचार करते हैं तो स्पष्ट रूप से उनकी रचनाओं में हमें दो भाषा-प्रयोग-संबंधी धाराएँ मिलती हैं जिनके आधार पर हम उनके दो प्रधान वर्ग कर सकते हैं :—

१ अवधी की रचनाओं का वर्ग।

२ ब्रजभाषा की रचनाओं का वर्ग।

अवधी की प्रतिनिधि-रचना 'रामचरितमानस' है। शेष रचनाओं में रामललानहछू, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल तथा रामाज्ञा-प्रश्न अवधी के वर्ग में रखे जा सकते हैं।

ब्रजभाषा-वर्ग का प्रतिनिधित्व श्रीकृष्णगीतावली करती है। इसी वर्ग में उनकी शेष सारी कृतियाँ अर्थात् कवितावली, विनयपत्रिका, गीतावली, दोहावली तथा वैराग्य संदीपिनी आती हैं।

प्रतिनिधि-रचना का तात्पर्य यह है कि अमुक रचना अमुक उपभाषा अथवा बोली के प्रयोगों को अन्य रचना की अपेक्षा कहीं अधिक प्रादेशिक रूप में, उस बोली की व्याकरणिक विशेषताओं को अधिक से अधिक मात्रा में सुरक्षित रखती हुई, उपस्थित करती है। समावेश की मात्रा की न्यूनता अथवा अधिकता का विचार करते हुए ही उक्त रचनाओं को कथित बोलियों के वर्ग में रखा गया है। प्रथम प्रकार की रचनाओं का ढाँचा अवधी का, तथा द्वितीय वर्ग की रचनाओं का ढाँचा ब्रजभाषा का कहा जा सकता है जिसपर बुंदेली का भी प्रभाव है।

पहले वर्ग के अन्तर्गत निम्नांकित उपवर्ग हो सकते हैं—

१. पूर्वी अवधी की कृतियों का वर्ग।

२. पश्चिमी अवधी की कृतियों का वर्ग।

३. बैसवाड़ी अवधी की कृतियों का वर्ग।

दूसरे वर्ग अर्थात् ब्रजभाषा-वर्ग के अन्तर्गत दो उपवर्ग किए जा सकते हैं :—

१. पश्चिमी ब्रजभाषा की रचनाओं का वर्ग।

२. पूर्वी ब्रजभाषा की रचनाओं का वर्ग।

तुलसी की रचनाओं के अन्तर्गत प्राप्त कतिपय प्रत्यक्ष भेदक व्याकरणिक एवं भाषा-वैज्ञानिक विशेषताओं के आधार पर, हम पूर्वी अवधी के वर्ग में बरवै रामायण और रामललानहछू को, पश्चिमी अवधी के वर्ग में जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल तथा बैसवाड़ी अवधी के वर्ग में रामचरित-मानस को रख सकते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी ब्रजभाषा की रचनाओं के वर्ग में गीतावली, विनयपत्रिका, दोहावली और वैराग्य संदीपिनी तथा पूर्वी ब्रजभाषा की रचनाओं के वर्ग में श्रीकृष्णगीतावली और कवितावली को रखा जा सकता है। इस वर्गीकरण के संबंध में भी इस बात को दुहरा देना आवश्यक होगा, कि प्रयोगों के आधिक्य के कारण ही रचनाओं को विशिष्ट उपवर्ग में रखा गया है। इस का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि अन्य उपवर्गों की विशेषताएँ उनमें बिल्कुल नहीं ढूँढी जा सकतीं।

उक्त वर्गीकरण की वैज्ञानिक छानबीन करने से पूर्व, बैसवाड़ी अवधी के विषय में कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि अन्य उपबोलियों के स्वरूप के संबंध में इतनी जटिलता नहीं पाई जाती, जितनी बैसवाड़ी अवधी के विषय में।

हमने बैसवाड़ी को अवधी की एक उपबोली के रूप में ग्रहण किया है, किंतु इसके विषय में भाषावैज्ञानिकों में परस्पर मतभेद है। इनमें विशेष रूप से डॉ० जार्ज ग्रियर्सन, केलाग महोदय तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना के नाम यहाँ पर उल्लेखनीय हैं। अतः क्रमशः इन के मतों के संक्षिप्त उल्लेख एवं परीक्षण के पश्चात् ही किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना युक्तिसंगत होगा।

लिंग्विस्टिक सर्वे मे डॉ० जार्ज ग्रियर्सन अवधी के संबंध में विवेचन करते हुए कहते हैं :—

"यह भाषा 'कोसली' और 'बैसवाड़ी' भी कही जाती है। पहला नाम वस्तुत: अवधी शब्द का ही अनुवाद है ('कोसल' अवध का प्राचीन नाम होने के कारण)। बैसवाड़ी या बैसवाड़ का अर्थ बैसवाड़ा की भाषा है। बैसवाड बैसवार राजपूतों के प्रदेश का अर्थ रखता है, जो अवध में पर्याप्त सख्या में पाए जाते हैं। कुछ लोग बैसवाड़ी नाम को लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली और फतेहपुर में बोली जाने वाली बोली तक ही सीमित मानते हैं, परन्तु यह एक ऐसा परिवर्द्धन है जो वास्तविक तथ्यों से समर्थित नहीं है। इन जिलों की बोली, जहाँ तक व्याकरण का सबध है (और भाषाओं के वर्गीकरण में व्याकरण ही एक मात्र आधार होता है), ठीक वही है, जो अवध के शेष भाग की है। इस संबंध में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह यह कि पूर्वी अवध में क्रिया के कुछ रूप और पश्चिमी अवध में क्रिया के दूसरे प्रकार के रूप बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि जो रूप पूर्वी प्रदेश में बहुतायत से मिलते हैं, वे पश्चिमी भाग में भी प्रयुक्त होते हैं, और जो रूप पश्चिमी भाग में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं, वे पूर्वी प्रदेश में भी व्यवहृत मिलते हैं।[1]"

इन शब्दो से स्पष्ट है कि डॉ० ग्रियर्सन बैसवाड़ी को अवधी के ही वाचक, एक दूसरे नाम के रूप में ग्रहण करना अधिक उपयुक्त समझते हैं, किन्तु इसका नामकरण जिस बैसवाड़ा अथवा जिन बैसवाड़े राजपूतों के संबंध का सूचक सिद्ध होता है, उसे देखते हुए यह कहाँ तक युक्तिसंगत होगा, कि हम समूचे अवध को लखनऊ, रायबरेली, उन्नाव और फतेहपुर चार जिलों की सीमा के भीतर ही संकुचित करके बैसवाड़ी को समूची अवधी बोली की, जिसके अन्तर्गत कई उपबोलियों के भेद-विभेद वर्तमान हैं, समता में लाकर रख दें। 'कोसली' और 'बैसवाड़ी' को एक कोटि में रख कर देखना भी अनुचित है। दोनों समीपवर्ती अवश्य कही जा सकती हैं, किन्तु दोनों को एक समझने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

डॉ० जार्ज ग्रियर्सन का यह तर्क, कि व्याकरणिक विशेषताओं की वास्तविक स्थिति उक्त तथ्य का समर्थन नहीं करती (इस बात का कि बैसवाड़ी, अवधी के एक सीमित क्षेत्र की बोली है) अस्पष्ट जान पड़ता है और समस्या का समाधान करने में समर्थ नहीं होता।

श्री केलाग महोदय के मतानुसार बैसवाड़ी, अवधी से मानो भिन्न एक बोली है, जिसका प्राचीन रूप तुलसी के 'रामचरितमानस' में सुरक्षित है। उक्त मत उनके निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त हुआ है :—

---

१ जार्ज ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड ६, भाग १, पृ० ९

"पूर्वी हिंदी के अन्तर्गत अवधी, रिवई, रामायण की प्राचीन वैसवाड़ी, भोजपुरी, मागधी और मैथिली आती है।"[1]

हाँ, बैसवाड़ी अवधी की ही कोई अत्यन्त निकटवर्ती बोली है, ऐसा अवश्य ही उन्हें स्वीकार है जैसा निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है :—

"रामायण की प्राचीन बैसवाड़ी अवध और रीवाँ की वर्तमान ठेठ बोलियों से निकट सबध रखने वाली एक विशिष्ट काव्योपयोगी बोली है।"[2]

यहीं पर यह भी निर्देश करना अप्रासगिक न होगा कि केलाग महोदय ने उक्त बैसवाड़ी को अपने 'हिंदी व्याकरण' के प्रथम सस्करण में 'प्राचीन पूर्वी' का नाम दिया था। पहले सस्करण की 'प्राचीन पूर्वी' ने ही दूसरे संस्करण में आकर न जाने क्यों 'प्राचीन बैसवाड़ी' का जामा पहन लिया।[3]

श्री कैलाग का उपर्युक्त मत वैज्ञानिक दृष्टि से कितना भ्रान्तिमूलक है, इसको समझना कठिन नहीं, क्योंकि बैसवाड़ी को अवधी से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र बोली का अस्तित्व दे देना भी बहुत कुछ ठीक इसी प्रकार अनुचित हुआ जैसा ग्रियर्सन का बैसवाड़ी को अवधी का दूसरा नाम समझना। 'बैसवाड़ी' और चाहे जो कुछ हो, किंतु उसे अवधी से भिन्न सिद्ध करने वाली उसमें कोई भी बात नहीं है। रही दूसरी बात यह कि केलाग ने रामचरितमानस की बोली को प्राचीन बैसवाड़ी का नाम देकर इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, किंतु इससे विपय और अधिक अस्पष्ट हो जाता है, क्योंकि बैसवाड़ी के आधुनिक रूप का कोई भी सकेत न करके एक मात्र मानस की भाषा को 'प्राचीन बैसवाड़ी' कह देने से 'बैसवाड़ी' के सबध में कोई व्यापक एवं मान्य धारणा नहीं बन पाती।

अब हम तीसरे मत पर आते हैं, और वह है डॉ० बाबूराम सक्सेना का। सक्सेना जी के विचार इस विषय में कहीं अधिक सयत एव खोजपूर्ण प्रतीत होते हैं, जैसा हम अभी देखेंगे। उन्होंने वस्तुतः बैसवाड़ी को अवधी के ही इस सीमित क्षेत्र की बोली माना है, जिसके अन्तर्गत लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली और फतेहपुर जिले आते हैं। ग्रियर्सन के उस मत से, जो बैसवाड़ी को अवधी के ही दूसरे नाम के रूप में ग्रहण करता है, वे सहमत नहीं जान पड़ते। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है, कि उन्होंने इसे अवधी की एक निश्चित शाखा अथवा उपबोली के रूप में भी नहीं ग्रहण किया, क्योंकि उन्होंने अवधी-क्षेत्र की उपबोलियों का जो वर्गीकरण अपने 'एवोल्यूशन आफ अवधी' नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया है, उसमें बैसवाड़ी को कोई भी स्थान नहीं दिया गया। उनके अनुसार अवधी-क्षेत्र की प्रमुख बोलियाँ तीन वर्गों में विभक्त की गई हैं :—

---

१. केलाग—हिंदी ग्रैमर (द्वितीय सस्करण), पृ० ६६

२. केलाग—हिन्दी ग्रैमर (द्वितीय संस्करण), पृ० ६७

३ ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड ६, भाग १, पृ० १०, १२

(१) पश्चिमी—जिसका प्रचलन खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव और फतेहपुर में है।

(२) मध्यवर्ती—जिसका प्रचार बहराइच, बाराबंकी और रायबरेली में मिलता है।

(३) पूर्वी—जिसका व्यवहार गोंडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्जापुर में दिखाई देता है।

इस वर्गीकरण को उन्होंने कतिपय भाषावैज्ञानिक लक्षणों अथवा विशेषताओं पर आधारित कहा है।

इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि बैसवाड़ी की चर्चा अपने ग्रंथ में उन्होंने केवल उस भ्रम की ओर संकेत करने के लिए की है जो उसे व्यर्थ में समस्त अवधी की क्षेत्र-व्यापकता प्रदान करता है। उसकी केवल एक विशेषता का उल्लेख विशेष रूप से करके वे रह गए हैं और वह है बैसवाड़ी की सहज कर्कशता, जैसा उनके निम्नलिखित शब्दों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा :—

"कभी-कभी इस भाषा (अवधी) को एक दूसरा नाम 'बैसवाड़ी' भी दिया गया है (लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड ६, पृ० ६), किंतु इस का व्यवहार अवधी के एक सीमित क्षेत्र अर्थात् बैसवाड़ा की, जिसके अन्तर्गत उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर जिले आते हैं, बोली के लिए अधिक शुद्ध और उपयुक्त है। बैसवाड़ा अपनी कर्कशता के लिए कुख्यात है और ऐसी ही उस क्षेत्र की बोली भी। इस क्षेत्र के मूल निवासियों से, मेरे पूछताछ करने पर, उक्त कथन की पुष्टि हुई है। अवधी की अन्य बोलियों से इसका प्रधान अन्तर ध्वन्यात्मक है। जैसे 'ए' का उच्चारण 'या' की भाँति और 'ओ' का 'वा' की भाँति[1] होता है।"

उक्त पक्तियों के अंतर्गत अवधी की उपबोलियों से बैसवाड़ी का भेद स्पष्ट कर देने के लिए उन्होंने इतना कह देना पर्याप्त समझा है कि यह भेद प्रमुखतः केवल ध्वनि से ही संबंध रखता है जिसके कुछ उदाहरण ऊपर दिए गए हैं।

केलाग के उस मत के संबंध में, जिसके अनुसार 'रामचरितमानस' की भाषा को 'प्राचीन बैसवाड़ी' कह कर बैसवाड़ी को अवधी से भिन्न एक स्वतंत्र अस्तित्व देने का प्रयत्न किया गया है, कोई भी उल्लेख सक्सेना जी ने नहीं किया। उन्होंने अवधी बोली के विकास का विश्लेषण करते समय जायसी के 'पद्मावत' के साथ-साथ तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' का भी बराबर आधार लिया है और उसे केलाग की 'प्राचीन बैसवाड़ी' के स्थान में 'प्राचीन अवधी' का नाम दे दिया है। 'प्राचीन अवधी' और आधुनिक अवधी के भेदक लक्षणों के स्पष्टीकरण में ही उनके ग्रंथ की विशेष मौलिकता समझी जाती है। वस्तुतः इस प्रसंग में 'प्राचीन बैसवाड़ी' और 'प्राचीन

---

१. डॉ० सक्सेना : एवोल्यूशन आफ़ अवधी, भूमिका पृ० १

अवधी' का भेद स्पष्ट न होना तुलसी की भाषा का अध्ययन करने वाले छात्र के लिए एक जटिल समस्या खड़ी कर देता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

उपर्युक्त विविध मतों पर विचार करने के पश्चात् हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यह है कि बैसवाड़ी, अवधी से भिन्न कोई स्वतंत्र बोली न होकर उसी की कई उपबोलियों में से एक उपबोली कही जा सकती है और हम रायबरेली, लखनऊ, उन्नाव तथा फतेहपुर के क्षेत्र में अवधी के इसी रूप का प्रचार मान सकते हैं, यद्यपि बाराबंकी के भी कुछ भाग में इसका व्यवहार मिलता है। बैसवाड़ी-अवधी के संबंध में अलग से इतना विवेचन यहाँ पर पर्याप्त होगा।

अब हम क्रमशः भाषा के आधार पर किए गए, तुलसी की रचनाओं के दोनों वर्गों एवं उपवर्गों का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

१. पूर्वी अवधी की रचनाओं का वर्ग—इस वर्ग में हमने 'बरवै रामायण' और रामललानहछू को रखा है। इनमें प्रमुख रूप से ध्यान देने योग्य पूर्वी अवधी के दो व्याकरणिक लक्षण हैं और वे हैं संज्ञा-शब्दों में 'इया' तथा 'वा' का योग। ये पूर्वी अवधी की ऐसी भेदक विशेषताएँ हैं, जो अवधी की अन्य उपबोलियों में नहीं मिलतीं। इनके उदाहरणस्वरूप उपर्युक्त दोनों रचनाओं के निम्नलिखित अंशों में व्यवहृत बतिया, मलिनिया, बरिनिया, नउनिया, उजियरिया, कनगुरिया, हरवा आदि शब्द लिए जा सकते हैं :—

बतिया सुघर *मलिनिया* सुन्दर गातहि हो।[१]
कटि कै छीन *बरिनिया* छाता पानिहि हो।[२]
नैन बिसाल *नउनिया* भौं चमकावइ हो।[३]
डहकु न है *उजियरिया* निसि नहि घाम।[४]
कनगुरिया कै मुन्दरी कंकन होइ।[५]
चंपक *हरवा* अंग मिलि अधिक सोहाइ।[६]
सीय बरन सम केतकि अति हिय हारि।
किहेसि भँवर कर *हरवा* हृदय बिदारि॥[७]

२. पश्चिमी अवधी की रचनाओं का वर्ग—

इस वर्ग के अन्तर्गत जानकी-मंगल और पार्वती मंगल को रखा गया है। इन ग्रन्थों की भाषा में पश्चिमी अवधी की भेदक व्याकरणिक विशेषताओं के परीक्षण के पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत का उल्लेख एवं निरीक्षण आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने इन दोनों कृतियों को 'पूर्वी अवधी' की रचनाएँ घोषित किया है।

---

१ रा० ल० न० ७   २ रा० ल० न० ७   ३ रा० ल० न० ८
४ बरवै० ३७   ५ बरवै० ३८   ६ बरवै० ५
७ बरवै० ३२

पार्वती-मंगल : इस रचना में शिव-पार्वती-विवाह वर्णित है। इसमें सोहर के १४८ और १६ छंद दिए गए हैं।........इसकी भाषा शुद्ध पूर्वी है।........ ...

जानकी मंगल : इसमें सोहर के १९२ तुक तथा २४ छन्द हैं और प्रति ८ सोहर पर एक छंद है। इस में सीता-राम-विवाह का वर्णन है। यह पार्वती-मंगल के समय ही का बना ग्रन्थ है और भाषा-छद आदि सभी में उससे मिलता जुलता है।"*

कहना न होगा कि उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए 'शुद्ध पूर्वी' से शुक्ल जी का तात्पर्य पूर्वी अवधी से ही है, क्योंकि अन्यत्र भी उन्होंने इन दोनों कृतियों को ठेठ अवधी की रचनाएँ माना है।[1]

यदि कोई यह प्रश्न करे, कि उनके 'शुद्ध पूर्वी' का इस 'ठेठ अवधी' से क्या संबध हो सकता है, तो इसका भी समाधान इस प्रकार हो जाता है कि शुक्ल जी वस्तुतः अवधी के पूर्वी रूप को अथवा 'पूर्वी अवधी' को ही अवधी का शुद्ध अथवा ठेठ रूप मानते थे, और इसी लिए उन्होंने यहाँ पर 'शुद्ध अवधी' अथवा 'पूर्वी अवधी' न कह कर सक्षेप में 'शुद्ध पूर्वी' द्वारा अपना काम चला लिया है। जायसी-ग्रंथावली की भूमिका के निम्नलिखित शब्दों पर ध्यान देने से 'पूर्वी अवधी' के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है :—

"........उपर्युक्त सकर्मक क्रिया के रूपों के उदाहरण ठेठ या पूर्वी अवधी के हैं और उनमें पुरुष-भेद बराबर बना हुआ है।"

".. ......ठेठ अवधी या पूर्वी अवधी में कारक चिह्न प्रथमपुरुष, एकवचन की वर्तमानकालिक क्रिया के रूप मे लगता है.........।[2]"

परन्तु जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल में 'मलिनिया' और 'हरवा' जैसे ठेठ पूर्वी अवधी के क्षेत्र में प्रचलित शब्दों का (जिनका कुछ निर्देश पीछे हो चुका है), तथा इन्हीं से मिलते-जुलते अन्य शब्दों का अभाव है। अतः 'पूर्वी अवधी' की रचनाओं के वर्ग में इन्हें रखना युक्तिसंगत नहीं जँचता।

इनमें पश्चिमी अवधी की भेदक विशेषताओं की छान-बीन की दृष्टि से निम्नलिखित उदाहरणों में उपलब्ध तुम्हार, तुम्हारे, देखन, ऐहैं साज कै तथा 'सखिन्ह

---

* तुलसी-ग्रंथावली 'दूसरा खंड' का वक्तव्य, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।

१ .... जो बराबर सोरों की पछाही बोली (व्रज) बोलता आया होगा, वह जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल की सी ठेठ अवधी लिखेगा।...देखिए-हिन्दी साहित्य का इतिहास। पृष्ठ १३१—रामचंद्र शुक्ल

२ जायसी-ग्रंथावली की भूमिका—रामचंद्र शुक्ल

सन' द्रष्टव्य हैं :—

जौ मन मान तुम्हार तौ लगन लिखायहु।[1]
मुनिवर तुम्हरे वचन मेरु महि डोलहिं।[2]
सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छवि देखन लगे।[3]
पछिताव भूत पिसाच प्रेत जनेत ऐहैं साजि कै।[४]
कहि प्रिय वचन सखिन्ह सन रानि विसूरति।[५]

बैसवाड़ी अवधी का वर्ग—इसके अन्तर्गत केवल रामचरितमानस को हमने स्थान दिया है। इसका विशेष कारण यह है कि परम्परा से बैसवाड़ी की चर्चा इस ग्रथ के विषय में कई मान्य विद्वान करते आए हैं और हम ने भी इसे अवधी की प्रमुख उपबोलियों के भीतर एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, यद्यपि, जैसा पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, बैसवाड़ी अवधी का अधिकांश क्षेत्र पश्चिमी अवधी के बृहत्तर क्षेत्र के भीतर ही आ जाता है।

वस्तुतः रामचरितमानस की भाषा अन्य ग्रथों की अपेक्षा कहीं अधिक मिश्रित शब्द-रूपों से युक्त होने के कारण उसे बैसवाड़ी के वर्ग में रखने की बात सहसा मान्य नहीं हो सकती। अभी तक 'रामचरितमानस' में अवधी की किसी उपबोली के प्रयोग का विशेष आधिक्य मिलता है, इस बात पर किसी विद्वान ने विस्तार से विचार नहीं किया है। इसी लिए इस विषय में कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है। केवल केलाग महोदय द्वारा 'मानस' की प्राचीन बैसवाड़ी की चर्चा, जिस का कुछ सकेत पीछे किया जा चुका है, इस सबध में अपना निजी महत्त्व रखती है, परंतु वह भी वैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट एव निर्भ्रान्ति नहीं कही जा सकती। अतः क्रमशः हम 'रामचरितमानस' की भाषा के विषय में कतिपय पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों का सक्षिप्त उल्लेख* करेंगे, जिससे हम तद्विषयक प्रचलित एव मान्य विचारों के प्रकाश में उक्त तथ्य की ठीक-ठीक जाँच कर सकें। यहीं पर यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा, कि इन में केवल कुछ भाषा-वैज्ञानिकों को छोड़ कर, जिन्होंने वस्तुतः भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करते समय प्रासगिक रूप से ही 'मानस' की भाषा के विषय में अपना मत व्यक्त किया है, अधिकांश के विचार सामान्य साहित्यिक भूमि पर होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के नहीं जान पड़ते। अस्तु, क्रमशः उनमें से प्रमुख का उल्लेख एव परीक्षण किया जा

---

१ पा० मं० ८७ २ जा० मं० १०२ ३ जा० मं० ७२
४ पा० मं० ६३ ५ जा० मं० ८२

* इस विषय में अधिक विस्तृत विवेचन के लिए लेखक की अन्य कृति 'रामचरितमानस की भाषा' (अप्रकाशित) द्रष्टव्य है।

रहा है :—

१—अपने 'नवरत्न' में मिश्रबंधु लिखते हैं :—

"रामचरितमानस में इन्होने (तुलसीदास ने) थोडे से छंदों को छोड़ कर बैसवाड़ी और अवधी भाषा का प्रयोग किया है[1]।"

उपर्युक्त मत के अन्तर्गत बैसवाड़ी और अवधी का भिन्न रूप से उल्लेख इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मिश्रबंधु महोदय बैसवाड़ी को अवधी की एक उपबोली न मानकर उसे अवधी से सर्वथा पृथक् (किंतु सभवत: निकटवर्ती) एक स्वतंत्र बोली के रूप में ग्रहण करते हैं और वस्तुत: तुलसी की भाषा का सब से उपयुक्त प्रतिनिधित्व करने वाली उपबोली के निर्णय के संबंध में उन्होंने किसी वैज्ञानिक आधार पर विचार करने का प्रयत्न नहीं किया। फिर भी उक्त निर्णय की बात छोड़ कर हम यदि केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विचार करें, तो उन का उक्त मत सचमुच एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, क्यों कि उन्होंने ऐसे समय में जब कि बैसवाड़ी अवधी की कोई विशेष चर्चा अथवा खोज न हो पाई थी, हमें कम से कम इतना संकेत तो दिया, कि 'मानस' की भाषा के विषय मे अवधी का ही नहीं, बैसवाड़ी का भी विचार एव विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

२—श्री एफ० ई० के महोदय इस संबंध मे निम्नलिखित आशय के विचार प्रकट करते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से देखने में तुलसीदास जी के सभी ग्रंथों की भाषा से सबंधित जान पड़ते हुए भी वस्तुत: रामचरितमानस की भाषा को ही लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किए गए हैं। वस्तुत: 'मानस' की भाषा को ही व्यापक अर्थ में उन्होने तुलसीदास की भाषा की संज्ञा दे देनी चाही है :—

"तुलसीदास ने प्राचीन बैसवाड़ी अथवा अवधी का व्यवहार किया है जो पूर्वी हिंदी की एक बोली है और उनके प्रभाव के ही कारण उनके समय से रामकाव्य की रचना बराबर इसी बोली में होती रही है। उन्होंने अन्य बोलियों के भी अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, विशेष रूप से व्रजभाषा के शब्दों का। उनकी भाषा में ठेठ ग्रामीण प्रयोगों की भरमार है और छंद-विधान अथवा छंद-पूर्ति की सुविधा के लिए किसी भी शब्द में परिवर्तन अथवा ध्वनि-विकार लाने में उन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है[2]।"

उक्त मत पर ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि के महोदय (एक प्रकार से जार्ज ग्रियर्सन की ही भाँति, जिन के मत का विवेचन कुछ विस्तार के साथ हमने पिछले पृष्ठों में किया है) प्राचीन बैसवाड़ी को अवधी का ही एक दूसरा नाम मानते हुए दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं देखते। उनका मत जार्ज ग्रियर्सन से भी अधिक भ्रांतिजनक हो गया है क्यों कि ग्रियर्सन ने कम से कम बैसवाड़ी

---

१ मिश्रबंधु . हिन्दी नवरत्न पंचम संस्करण, पृ० १८३

२ एफ० ई० के : ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर, पृ० ५४

के विषय में अपने से भिन्न मत का भी उल्लेख कर दिया है और इस प्रकार पाठक को थोड़ा बहुत सोचने का अवसर दे दिया है। किंतु श्री के महोदय ने इस विषय में पूरा गोलमाल कर दिया है और संभवतः किसी प्रकार की आलोचना का अवकाश न देने के लिए ही बिना कोई वैज्ञानिक आधार लिए एक अस्पष्ट धारणा का निर्माण किया है। संभव है 'मानस' की भाषा के विषय में प्रचलित उभय धारणाओं का समन्वय कर देने के विचार से, अथवा अवधी और बैसवाड़ी की प्रादेशिक तथा व्याकरणिक एकता अथवा समानता के विषय में विशेष सजग न रहने के कारण ऐसा कर गए हों, किंतु इस के लिए हमें लेखक को ही सर्वथा दोषी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि बैसवाड़ी और अवधी के अन्तर के संबंध में कोई भाषावैज्ञानिक आधार न मिलने पर एक अहिंदी-भाषा-भाषी लेखक के मन में इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाना विस्मयोत्पादक नहीं है।

३—केलाग महोदय ने अपने विचार इस विषय में औरों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किए हैं, जैसा उनके हिंदी-व्याकरण में उपलब्ध निम्नलिखित आशय के वक्तव्य से सिद्ध है :—

"अपने साहित्यिक महत्त्व तथा धार्मिक प्रभाव के कारण तुलसीदास के रामायण की 'प्राचीन बैसवाड़ी' पूर्वी बोलियों के अन्तर्गत विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। तुलसीदास ने छंद-विधान की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से अथवा अपनी कल्पना की प्रेरणा से, हिंदी की विविध बोलियों से ही नहीं, वरन् प्राकृत और संस्कृत तक से व्याकरणिक रूपों को ग्रहण करने में अत्यधिक स्वच्छंदता से काम लिया है। अध्ययनकर्ता को बड़ी सावधानी के साथ इन अवान्तर तत्वों को उनसे पृथक् कर लेना चाहिए, जो हिंदी के उस रूप के द्योतक हैं, जिसमें कवि ने ग्रंथ की रचना की है। उदाहरणार्थ यद्यपि रामायण में प्रायः ब्रजभाषा के 'यौ' में अन्त होने वाले कन्नौजी के ओकारान्त, तथा भोजपुरी के 'ल' में अन्त होने वाले पूर्ण-क्रिया-द्योतक कृदन्तों के रूप उपलब्ध हो जाते हैं, किंतु उनमें से किसी को भी उस 'प्राचीन बैसवाड़ी'[1] का रूप नहीं माना जा सकता, जिसमें इस काव्य की रचना हुई है।[2]"

उक्त कथन में इतनी अधिक स्पष्ट शैली से मत व्यक्त हुआ है कि कोई भी सामान्य पाठक, जिसे यह नहीं पता है कि 'मानस' की भाषा से अवधी नाम की भी किसी बोली का संबंध माना जाता है, बिना किसी विवाद की आशंका के, इसे स्वीकार कर लेगा। साथ ही एक ऐसा पाठक, जिसे बैसवाड़ी के विषय में कोई भी ज्ञान नहीं है, और जो 'मानस' की भाषा को प्रचलित धारणा के अनुसार अवधी के रूप में जानता

---

१ इस संबंध में यह बात स्मरणीय है कि श्री केलाग ने अपने ग्रंथ के प्रथम संस्करण में इसी 'प्राचीन बैसवाड़ी' को 'प्राचीन पूर्वी' का नाम दिया है, जैसा हम पीछे संकेत कर चुके हैं।

२ केलाग—ए ग्रैमर आफ़ हिन्दी लैंग्वेज—द्वितीय संस्करण, पृ० ७८, ७९

रहा है, इसी कथन पर चौंक भी सकता है। कारण स्पष्ट है। केलाग महोदय ने बड़ी निश्चिंतता के साथ बेखटके 'मानस' की भाषा को 'प्राचीन बैसवाड़ी' का नाम दे डाला है और इस निर्भ्रान्त प्रतीत होने वाले विचार के साथ-साथ उन्होंने इस बात का तनिक भी संकेत करने की आवश्यकता नहीं समझी है कि 'मानस' की भाषा को अवधी के स्थान पर 'बैसवाड़ी' क्यों मान लिया जाय, जबकि बैसवाड़ी (उनके मत के अनुसार) अधिकांश में एक स्वतन्त्र बोली के रूप में अपनी सत्ता रखती है। संभव है कि केलाग महोदय 'मानस' की भाषा के विषय में उस लोकधारणा से, जो इसे अवधी के रूप में ग्रहण करती रही है, नितांत अपरिचित रहे हों, अन्यथा अपने 'हिंदी-व्याकरण' में हिंदी की विविध बोलियों के अन्तर्गत अवधी को एक भिन्न बोली के रूप में स्थान देते हुए भी 'मानस' की अवधी की कुछ न कुछ चर्चा करना वे न भूलते।

विशुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें, तो उनके मत में एक और त्रुटि स्पष्ट जान पड़ती है, वह यह कि किसी भाषा की विविध बोलियों का विश्लेषण एवं वर्गीकरण करते समय किसी एक प्रचलित बोली के अपने स्वतन्त्र भेदक लक्षण देने की आवश्यकता न समझ कर एकमात्र किसी ग्रंथ-विशेष की भाषा के प्रयोगों को उस बोली की विशेषताओं का मूलाधार मान लेना अनुचित है। सीधा वैज्ञानिक ढंग तो यह है कि उस बोली के प्रचलित रूप को देखते हुए, उसी के भेदक लक्षणों का निर्देश कर के किसी ग्रंथ की भाषा में उसके प्रयोगों को खोजना चाहिए। इसमें संदेह नहीं, कि केलाग महोदय ने इस समस्या से बचने का एक मार्ग निकाल लेने का प्रयत्न अवश्य किया है और वह यह कि उन्होंने 'मानस' की भाषा को स्पष्टतः बैसवाड़ी न कह कर 'प्राचीन बैसवाड़ी' के नाम से पुकारते हुए, अपनी समझ में इस प्रश्न की गुंजाइश नहीं छोड़ी, कि उक्त ग्रंथ की भाषा में बैसवाड़ी के प्रचलित रूपों का परीक्षण किए बिना उसे बैसवाड़ी क्यों मान लिया जाय ? किंतु 'प्राचीन' मात्र कह देने से, किसी बोली के स्वतंत्र अस्तित्व एवं स्वाभाविक विकास-क्रम का प्रश्न तो नहीं समाप्त हो जाता। कितनी ही प्राचीन होने पर भी उसकी विशेषताओं का निर्धारण, बिना उसके आधुनिक रूप का आधार लिए हुए, नहीं हो सकता।

इस प्रकार उक्त मत मौलिक एवं स्पष्ट होते हुए भी तर्क और वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसने से समस्या को किसी सन्तोषजनक एवं विश्वसनीय ढंग से हल करने में समर्थ नहीं जान पड़ता। फिर भी यह कह कर इस मत के महत्त्व की उपेक्षा करना किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। यही क्या कम है कि एक अहिंदी-भाषाभाषी विद्वान ने 'मानस' की भाषा के संबंध में प्रचलित जनधारणा को अंधाधुंध न मान कर उसके भीतर उपलब्ध विविध बोलियों के बीच प्रधान स्थान ग्रहण करने वाली एक विशेष बोली के निर्धारण की वैज्ञानिक आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, और एक स्पष्ट एवं स्वतंत्र विचार हमारे समक्ष प्रस्तुत किया, और वह भी उस समय, जब कि हिंदी-साहित्य के भारतीय विद्वानों में कवियों का भाषा-विषयक गंभीर अध्ययन तो दूर रहा, सामान्य भाषाविज्ञान-संबंधी अध्ययन एवं अन्वेषण का

सूत्रपात भी न हो सका था। अतः 'मानस' की भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण को एक बलवती भूमिका प्रदान करने की दिशा में में केलाग महोदय को उचित श्रेय मिलना चाहिए।

४—आचार्य रामचंद्र शुक्ल मानस की भाषा के सबध में अपने 'तुलसीदास' नामक ग्रथ के अन्तर्गत 'भाषा पर अधिकार' शीर्षक अध्याय में लिखते हैं :—

"रामचरित-मानस को उन्होंने अवधी में लिखा—है, जिसमें पूर्वी और पछाहीं (अवधी) दोनों का मेल है[1]।"

शुक्ल जी के उक्त कथन में प्रचलित जन-धारणा का ही समर्थन शिष्ट ढंग से कर दिया गया है। वस्तुतः 'पूर्वी' और 'पछाहीं' अवधी का नाम ले लेने से हमें अपने वैज्ञानिक अध्ययन में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। किन्तु तथ्य यह है कि यहाँ पर शुक्ल जी की दृष्टि 'मानस' की भाषा की प्रधान बोली की खोज पर न हो कर तुलसी के भाषाधिकार की व्यापकता का निर्देश करने पर है। इस विषय में स्वसपादित जायसी-ग्रथावली की भूमिका के अन्तर्गत जायसी की भाषा का विवेचन करते समय जायसी तथा तुलसी की भाषा की तुलनात्मक व्याकरणिक विशेषताओं के सबंध में बीच-बीच में जो सकेत उन्होंने दिए हैं, वे अवश्य ही अध्ययन का एक सुन्दर ढग प्रस्तुत करते हैं[2]। परन्तु एक बात प्रत्यक्ष है और वह यह कि शुक्ल जी ने अपने विवेचन में कहीं भी बैसवाड़ी को कोई महत्त्व नहीं दिया। इस प्रकार शुक्ल जी का सारा कार्य इस दिशा में किसी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक निर्णय की दृष्टि से नहीं, वरन् केवल सामान्य साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से ही उपयोगी है।

५—डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सपादित 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रथ में प्रकाशित मत हमारे समक्ष इस विषय में सब से अधिक स्पष्ट एव सतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसमें पूर्ण विश्वास के साथ घोषित किया गया है :—

"गोसाईं जी ने बैसवाड़ी अवधी में 'रामचरितमानस' की रचना की[3]।"

उपर्युक्त वाक्य की 'बैसवाड़ी अवधी में यद्यपि श्री केलाग के मत की वह जटिलता नहीं आने पाई, जो उनके 'प्राचीन बैसवाड़ी' के 'प्राचीन' शब्द के कारण, तथा उसे अवधी से भिन्न एक स्वतत्र अस्तित्व दे देने से उपस्थित हो जाती है, फिर भी उक्त कथन में जितना निर्णयात्मक बल दिखाई देता है, उतना ही विवेचन और विश्लेषण का अभाव। जहाँ केलाग का मत कई अशों में दोषपूर्ण होते हुए भी, पर्याप्त विवेचन एव विश्लेषण के फलस्वरूप ही अपेक्षाकृत कहीं अधिक गभीर एव विचारपूर्ण प्रतीत होता है, वहाँ कई अशों में उपयुक्त होते हुए भी उक्त मत साधारण विचारभूमि से ऊपर नहीं

---

१ रामचंद्र शुक्ल ' तुलसीदास-संशोधित संस्करण (संवत् १९९६) पृ० २२८

२ ,, ,, : जायसी ग्रंथावली की भूमिका (पंचम संस्करण) पृ० २०८, २०९

३ डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० बड़थ्वाल गोस्वामी तुलसीदास

उठ पाता। इस दृष्टि से हमारे वैज्ञानिक निर्णय एवं परीक्षण में विशेष सहायक न होने पर भी इस छोटे से वाक्य में इस बात की स्पष्ट व्यंजना हो जाना ही, कि बैसवाड़ी वस्तुतः अवधी से भिन्न कोई स्वतन्त्र बोली न होकर अवधी के अंतर्गत ही एक उपबोली है जिसका व्यवहार तुलसी ने 'मानस' में किया है, सबसे अधिक महत्त्व की बात है। वस्तुतः इसी महत्त्व की ओर संकेत करना ही इस कथन का उद्धरण देने का प्रमुख उद्देश्य है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उक्त कथन जिस प्रसंग में से लिया गया है, वहाँ पर भाषा का विषय प्रधान न होकर गौण है और प्रासंगिक रूप में ही उसका इस रूप में उल्लेख कर दिया गया है। कई अन्य मतों की अपेक्षा इस मत की भाषा का स्पष्टतर होना इसकी प्रमुख विशेषता है, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। उसमें न तो मिश्रबंधुओं के मत में निर्दिष्ट 'अवधी या बैसवाड़ी' के अस्पष्ट मिश्रण की ध्वनि है और न एफ० ई० 'के' के मत में निर्दिष्ट 'अवधी या बैसवाडी' के स्वरूप की अभिन्नता के संदेह की गुंजाइश है। केलाग के मत की जटिलता से तो उक्त मत की सुबोधता की तुलना हम पीछे कर ही चुके हैं।

५—डॉ० जार्ज ग्रियर्सन अपनी सर्वे के अन्तर्गत अवधी-के विषय में विचार करते हुए लिखते हैं :—

"तुलसीदास द्वारा, जिन्होंने अवधी में अपनी रामायण की रचना की थी, इस बोली के भाग्योदय पर मोहर लगा दी गई है।"[1]

ग्रियर्सन के उक्त कथन में वैज्ञानिक दृष्टि से कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती, परन्तु यह निर्णय देने के साथ-साथ 'मानस' की 'बैसवाड़ी' के संबंध में भी उनका सजग रहना और श्री केलाग की भाँति इस विषय में मौन रहकर समस्या को अस्पष्ट और जटिल बना देने की प्रवृत्ति से उनका बचा रहना इस बात को सिद्ध करता है कि उन्होंने लगे हाथ ही यह निर्णय नहीं दे डाला, वरन् उस पर गंभीरता से विचार अवश्य किया था। उन्होंने स्वयं इसी प्रसंग में केलाग महोदय के मत की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि तुलसीदास की प्राचीन अवधी को ही श्री केलाग ने अपने प्रथम संस्करण में 'प्राचीन पूर्वी' तथा द्वितीय संस्करण में 'प्राचीन बैसवाड़ी' का नाम दे दिया है। इससे ग्रियर्सन का अपना मत 'मानस' की भाषा को अवधी की संज्ञा देते हुए भी 'बैसवाड़ी' शब्द से कोई विरोध नहीं उपस्थित करता। जैसा हम पीछे थोड़ा विस्तार से कह चुके हैं कि ग्रियर्सन के विचार से बैसवाड़ी वस्तुतः अवधी का ही दूसरा नाम है और बैसवाड़ी को वे उस सीमित क्षेत्र की प्रादेशिक बोली मात्र के रूप में नहीं ग्रहण करते, जो लखनऊ, रायबरेली, उन्नाव तथा फतेहपुर में प्रचलित है। यह बात तो स्पष्ट है कि हमारे उक्त वर्गीकरण की उपयुक्तता में यह मत कोई विशेष बाधा नहीं उपस्थित कर पाता।

---

[1] जार्ज ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे, खण्ड ६, भाग १

६—डॉ० बाबूराम सक्सेना ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'एवोल्यूशन आफ अवधी' के अन्तर्गत 'मानस' की भाषा के संबंध में अपना मत व्यक्त किया है जो निर्णय की शब्दावली के विचार से जार्ज ग्रियर्सन से पूर्ण साम्य रखते हुए भी दृष्टिकोण में (जिसका विशेष संबंध अवधी और बैसवाड़ी के स्वरूप-भेद से है) पर्याप्त विभिन्नता रखता है जैसा आगामी विवेचन से विदित होगा। वे लिखते हैं.—

"साहित्यिक क्षेत्र में अवधी तुलसीदास के रामचरितमानस में प्रयुक्त होकर अमर हो गई है।"

"प्राचीन अवधी में यह महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा गया है, यद्यपि उसका इतना विस्तार नहीं, जितना ब्रज के साहित्य का। वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं के अंतर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'रामचरित मानस' (जो रामायण के नाम से प्रसिद्ध है) अवधी में है।"[1]

उपर्युक्त वाक्यों के अन्तर्गत 'प्राचीन अवधी' का उल्लेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वैसे तो बाहर से देखने में यह भी केलाग की 'प्राचीन बैसवाड़ी' से अधिक महत्त्व की नहीं जान पड़ती, किंतु सक्सेना जी के उक्त ग्रंथ में आने से उसका महत्त्व बढ़ गया है। कारण यह है कि सक्सेना जी ने पर्याप्त गंभीरता के साथ अवधी बोली के विकास का वैज्ञानिक विश्लेषण करते समय उसके विकास-क्रम की दो अवस्थाएँ मानी-हैं, और उन्हीं में से पूर्ववर्ती विकासावस्था को 'प्राचीन अवधी' (Early Awadhi) तथा परवर्ती प्रचलित रूप की अवस्था को आधुनिक अवधी (Modern Awadhi) की संज्ञा दी है जिस की ओर कुछ संकेत हमने पीछे किया है। फलतः उनका 'मानस' की भाषा को 'प्राचीन अवधी' कहना एक वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

जब हम बैसवाड़ी अवधी के साथ 'मानस' के संबंध पर दृष्टि रखते हुए सक्सेना जी के उक्त कथन पर विचार करते हैं, तो हम उन्हें कहीं भी 'मानस' की भाषा के प्रसंग में बैसवाड़ी को महत्त्व देना तो दूर रहा, इसकी चर्चा भी करते हुए उन्हें नहीं पाते। उन्होंने केवल अवधी के नामकरण एवं उसकी उपयुक्तता पर विचार करते समय उसके अन्य कई नामों का उल्लेख करते हुए ही बैसवाड़ी के स्वरूप के विषय में कुछ कहा है, और ग्रियर्सन के मत द्वारा उत्पन्न उस भ्रम को, जो अवधी और बैसवाड़ी के सापेक्षिक महत्त्व के अन्तर पर पर्दा डाल देने के कारण हुआ है, बहुत अंशों में निर्मूल करने का प्रयास किया है। वे बैसवाड़ी को अवधी के वाचक एक दूसरे नाम के रूप में न ग्रहण कर उसे अवधी-क्षेत्र के ही चार जिलों लखनऊ, रायबरेली, उन्नाव और फतेहपुर की बोली मानते हैं। इस प्रकार ग्रियर्सन से उनका मत-वैभिन्न्य स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने अपने एक पूर्ववर्ती भाषावैज्ञानिक एवं वैयाकरण श्री केलाग महोदय द्वारा मान्य 'मानस' की 'प्राचीन पूर्वी' अथवा 'प्राचीन बैसवाड़ी'

१—डा० बाबूराम सक्सेना 'एवोल्यूशन आफ् अवधी—भूमिका पृ० ६, ११

का उल्लेख क्यों नहीं किया ? केवल यह अनुमान कि वे उनके विचार से सहमत रहे होंगे, हमारी शंका का समाधान नहीं कर सकता, क्योंकि कम से कम उनके मत की आलोचना कर के उसके गुणावगुण को तो प्रकाश में लाना सर्वथा उपयोगी ही होता। इस विषय में अधिक संभावित कारण यही माना जा सकता है कि सक्सेना जी का ध्यान कदाचित् ग्रंथ लिखते समय वेलाग के उक्त मत की ओर न गया हो।

इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी—जिनमें सर्वश्री रामदास गौड़, अयोध्या सिंह उपाध्याय, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी प्रभृति तुलसी के आलोचकों तथा हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों का उल्लेख किया जा सकता है—रामचरितमानस तथा तुलसी की अन्य कृतियों की भाषा के संबंध में, अपना व्यक्तिगत मत प्रस्तुत किया है, किन्तु इन सब में प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से कोई विशेष वैज्ञानिक मौलिकता नहीं दृष्टिगोचर होती। अतः उनके विषय में कोई विवेचन करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। केवल एक बात इन सभी के विषय में लागू होती है और वह यह कि हमें 'मानस' की बैसवाड़ी अवधी के स्वरूप-निर्धारण की दिशा में इन से कोई सामग्री नहीं मिलती।

उक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि अधिकांश विद्वानों के मतों से परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में हमारे वर्गीकरण का औचित्य ही सिद्ध होता है और कहीं-कहीं जो मत-वैभिन्न्य दिखाई देता है उसका विशेष कारण यही प्रतीत होता है कि इस विषय में वैज्ञानिक छानबीन की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। इस प्रकार अधिकाशतः हमारा वर्गीकरण पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों के निश्चित आधार पर भी प्रतिष्ठित है। अतः रामचरितमानस की भाषा प्रमुखतः 'बैसवाड़ी अवधी' ही ठहरती है ।

रामचरितमानस में बैसवाड़ी अवधी का प्राधान्य सूचित करने वाली व्याकरणिक विशेषताओं की जाँच के लिये निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त मोर, तोर, कहै लाग, कइ, और इहइ द्रष्टव्य हैं :—

मैं अरु *मोर तोर* तैं माया।[1]

कहै लाग खल निज प्रभुताई।[2]

उमा संत *कइ इहइ* बड़ाई।[3]

यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि बैसवाड़ी अवधी में पश्चिमी अवधी से विशेष व्याकरणिक विभिन्नता नहीं पाई जाती, क्योंकि इसका अधिकांश क्षेत्र पश्चिमी अवधी के वृहत्तर क्षेत्र के अंतर्गत ही पड़ता है। अतः और अधिक व्यापक रूप में कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि रामचरितमानस की भाषा 'पश्चिमी अवधी' के अधिकाश रूपों को रखती हुई भी प्रधानतः 'बैसवाड़ी अवधी' है। परम्परा और भाषावैज्ञानिक विश्लेषण दोनों ही इस निर्णय का समर्थन करते हैं।

---

१ रा० ३, ४१   २ रा० ६, ८   ३ रा० ५, ४१

अवधी-कृतियों के तीनों वर्गों का थोड़ा बहुत विश्लेषण कर लेने के पश्चात् हम संक्षेप में तुलसी की उन ब्रजभाषा कृतियों को लेते हैं, जिन्हें हमने अपने वर्गीकरण में क्रमशः पश्चिमी ब्रजभाषा तथा पूर्वी ब्रजभाषा की रचनाओं के वर्गों में रखा है।

१. पश्चिमी ब्रजभाषा की रचनाओं का वर्ग

इसमें गीतावली, विनयपत्रिका, दोहावली और वैराग्यसंदीपनी को स्थान दिया गया है। इनमें पश्चिमी ब्रजभाषा की लगभग वे सारी विशेषताएँ, जो उसको पूर्वी ब्रजभाषा से भिन्न अस्तित्व प्रदान करती हैं, मिलती हैं।

पश्चिमी ब्रजभाषा की कुछ प्रवृत्तियों का उल्लेख डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रकार किया है—

"पूर्वकालिक कृदंत के 'य' सहित रूप जैसे 'चल्यौ' या 'चल्यो', 'ब' लगाकर क्रियात्मक संज्ञा बनाना जैसे 'चलिबो', 'ग' भविष्य जैसे 'चलैगो', सहायक क्रिया के भूतकाल 'हो' आदि रूप, उत्तमपुरुष, एकवचन सर्वनाम 'हौं', तथा प्रश्नवाचक सर्वनाम का 'को' रूप पश्चिमी ब्रजभाषा-प्रदेश की कुछ विशेषताएँ हैं।"*

उक्त रचनाओं में प्रयुक्त निम्नलिखित पंक्तियों में आए हुए टेढ़े अक्षरों वाले प्रयोगों से इनकी भाषा में पश्चिमी ब्रजभाषा के प्राधान्य की पुष्टि होती है :—

तुलसी भूलि *गयो* रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा॥[१]
दीपक काजर सिर *धर्यो*, *धर्यो* सु *धर्यो* धरोइ।[२]
तुलसी जो *फिरिबो* न बनै प्रभु, तौ हौं आयसु पावौं।[३]
महराज राम पहँ *जाउँगो*।[४]
बचन करम हिये कहौं राम सौंह किए
तुलसी पै नाथ के निबाहे *निबहैगो*।[५]
मन में मंजु मनोरथ *हो री*।[६]
हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम मायापति हौं बस माया॥[७]
लहै न फूटी कौडिहू, *को* चाहै केहि काज।[८]

२. पूर्वी ब्रजभाषा की रचनाओं का वर्ग

इस वर्ग में हमने कवितावली और श्रीकृष्णगीतावली को स्थान दिया है जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के पूर्वी प्रदेश की बोली के प्रयोग अधिक दृष्टिगोचर होते हैं।

---

* डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० १६

१. वै० स० २८ २. दो० १०६ ३ गी० २, ७३
४ गी० ५, ३० ५ दो० २५६ ६. गी० १, १
७ वि० १७७ ८ दो० १०८

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार व्रजभाषा के पूर्वी भूमिभाग में प्रचलित रूपों की व्याकरणिक विशेषताएँ ये हैं—

"पूर्वकालिक कृदन्त में 'य' का प्रयोग न होना—जैसे चलो; न लगाकर क्रियात्मक संज्ञा बनाना जैसे 'चलना', 'ह' भविष्य जैसे चलिहै; सहायक क्रिया के भूतकाल में 'हतो' आदि रूप उत्तमपुरुष, एकवचन सर्वनाम 'मैं' तथा प्रश्नवाचक सर्वनाम 'कौन।'*

उक्त रचनाओं की निम्नलिखित पंक्तियों मे टेढ़े अक्षरों वाले प्रयोग पूर्वी व्रजभाषा के प्राधान्य के द्योतक हैं :—

सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की,
चले कहत चाय सों *सिरानो* पथ छन मे।[1]
ठाली ग्वालि जानि पठये अलि, *कह्यो* है पछोरन छूछो।[2]
पवि को पहार *कियो* ख्याल ही कृपालु राम,
वापुरो विभीषण घरौंदा *हुतो* वालु को।[3]
सीव न चाँपि *सको* कोऊ तव जब *हुते* राम कन्हाई।[4]
कहिवे कछू कछू कहि जैहे, रहौ आलि अरगानी।[5]
सिला साप पाप गुह सीय को मिलाप,
सवरी के पास आप चलि गए हौ सो सुनी *मैं*।[6]
सुनै तिन्ह की *कौन* तुलसी जिन्हहि जीति न हारि।[7]
हुतो न साँचो सनेह *मिट्यो* मन को संदेह,
हरि परे उघरि, संदेसहु ठठई।[8]

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि अध्ययन की सुविधा के लिए अधिकांश मात्रा में मिलने वाली प्रवृत्तियों का ही आधार ग्रहण करते हुए यह वर्गीकरण किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं, कि एक वर्ग की सारी की सारी विशेषताएँ दूसरे वर्ग में अनुपस्थित हैं।

इस प्रकार तुलसी का भाषाविषयक दृष्टिकोण भाषा के आधार पर उनकी कृतियों के वर्गीकरण के विवेचन एवं विश्लेषण से और भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

---

*डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : व्रजभाषा-व्याकरण पृ० १६

१. क० ५ ३१	२. श्रीकृ० ४२	३. क० ७, ८४
४ श्रीकृ० ३२	५. श्रीकृ० ४७	६. क० ७, २१
७, श्रीकृ० ५२	८. श्रीकृ० ३६	

द्वितीय परिशेष

भाषा के आधार पर तुलसी की जीवनी और कृतियों से संबंधित संकेत

अन्य आधारों पर प्राप्त निष्कर्षों के समान ही भाषा के आधार पर भी हम गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवनी तथा कृतियों के विषय में कुछ निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। जीवनी के विषय में हमें उनकी भाषा में जो संकेत मिलते हैं वे संक्षेप में ये हैं :—

१ --गोस्वामी जी के ग्रंथ या तो अवधी में हैं या ब्रजभाषा में। अतः उनका जन्मस्थान एवं निवासस्थान इन्हीं बोलियों के प्रदेशों में अथवा उन्हीं के आसपास रहा होगा। अवधी को उनके ग्रन्थों में अधिक महत्त्व मिला, अतः बहुत सम्भव है कि अवधी-क्षेत्र में उनका निवास अधिक समय तक रहा हो[1]।

१—इस दृष्टि से तुलसी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में चलने वाले सोरों-राजापुर-विवाद पर विचार करें तो इतना स्पष्ट हो ही जाता है कि दोनों की ही संभावना भाषा के आधार पर हो सकती है। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने अपनी सोरों-राजापुर-यात्रा में वहाँ की आधुनिक भाषा का जो रूप देखा है, उससे यह पता चलता है कि सोरों की बोलचाल प्रधानतया ब्रज है, किन्तु कुछ अंशों में वह तुलसी की अवधी की प्रवृत्तियाँ भी रखती है, जैसे कुछ शब्दों को उकारान्त कर देने की प्रवृत्ति, जैसे आजु, अजसु और सिखावनु आदि। दूसरी ओर राजापुर की बोल-चाल अनेक अंशों में 'बैसवाड़ी अवधी' से मिलती-जुलती देखकर आश्चर्य हुआ, क्योंकि बैसवाड़ी बोली के प्रादेशिक स्थलों से राजापुर काफ़ी दूरी पर स्थित है, और फिर भी सर्वनाम और संज्ञा-रूप ही नहीं, वरन् अधिकांश क्रिया-रूप वहाँ पर प्राय वही प्रयुक्त होते हैं जो आधुनिक बैसवाड़ी में, उदाहरणार्थ देवैया, जात हौं, जात हैं, जइहौ, जइहैं आदि। 'बहुरना' शब्द का 'लौटने' के अर्थ में प्रयोग बहुत व्यापक है, जो तुलसी की रचनाओं में भी बहुत मिलता है (बहुरहिं लखनु भरतु बन जाहीं। रा० २, २८१) स्थान की दूरी होने पर भी बैसवाड़ी और राजापुर की बोली के साम्य का कारण खोजने पर यह विदित हुआ, कि राजापुर के अधिकांश घरानों के वैवाहिक सम्बन्ध आदि बैसवाड़े में बहुत अधिक होते रहे हैं और इस प्रकार दोनों बोलियों का क्रमश. इतना अधिक साम्य हो गया है। राजापुर के एक वयोवृद्ध व्यक्ति से वातचीत करने पर इस कारण का पता चला।

अत यह असम्भव नहीं, कि तुलसी ने कदाचित् पहले सोरों के पास ही बाल्यकाल व्यतीत किया हो, परन्तु विवाहोपरांत, जैसी किंवदंती प्रचलित है, ये पत्नी के उपदेश से

२—तुलसी की कवितावली, श्रीकृष्णगीतावली, दोहावली तथा गीतावली में प्राप्त शुद्ध टकसाली रूपों को देखने से पता चलता है कि तुलसी का निकट और गहरा संपर्क ब्रज-भाषा-प्रदेश से भी रहा है। ख्याति-लाभ के उपरात उनका जीवन अयोध्या, काशी, चित्रकूट आदि पूर्वी हिंदी के प्रदेशों में ही व्यतीत हुआ। ब्रजभाषा के प्रदेश में वह अधिक रहे, इसका प्रमाण तो है ही नहीं, चर्चा और उल्लेख भी नहीं है। फिर भी ब्रजभाषा पर अधिकार देखकर यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि प्रौढावस्था और वृद्धावस्था पूर्वी हिंदी के प्रदेश में बीतने पर भी, जिस अवस्था में भाषा-सबंधी सामान्य प्रारंभिक संस्कार पड़ते हैं, उनकी वह बाल्यावस्था ब्रजभाषा-भाषी प्रदेश में व्यतीत हुई है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये जन्म-काल से बचपन के कुछ दिनों तक अवश्य ही ब्रजभाषा के प्रदेश में रहे। यह ब्रजभाषा का प्रदेश कौन-सा हो सकता है ?

तुलसी की जन्म-भूमि के सबध में राजापुर और सोरों का नाम विद्वानों ने लिया है, परतु वे किसी संतोषजनक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। भाषा के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तुलसी जन्म-काल से बाल्य-काल तक सोरों या उसके आस-पास रहे। यह बात "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥ (रा० १, ३०)" से भी प्रमाणित हो जाती है।[1]

३—गोस्वामी जी की भाषा में अनेक भाषाओं के प्रयोगों के मिलने पर भी शास्त्रीय प्रसगों में संस्कृत का और सामान्य प्रसगों में ठेठ जनभाषा के व्यवहार का आधिक्य मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन पर संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का प्रबल संस्कार तथा साथ ही जन-जीवन का व्यापक प्रभाव रहा।

४—चित्रकूट, सीतावट, अन्नपूर्णा, प्रयाग, गंगा, यमुना आदि की आदर के साथ बार-बार चर्चा जिस रूप में आई है वह तुलसी को तीर्थयात्रा का प्रेमी सिद्ध करती है। बस्ती की अपेक्षा तीर्थ-स्थलों में रहने का बार-बार आग्रह ('अब चित चेति चित्र-कूटहिं चलु, वि० २४', 'सीतावट पेखत पुनीत होत पातकी, क० ७, १३८' आदि स्थल उदाहरण-स्वरूप लिए जा सकते हैं) इस तथ्य का द्योतक है कि तुलसी का अधिकाश जीवन ऐसे ही पवित्र स्थलों पर बीता।

वैराग्य प्राप्त करने पर फिर चित्रकूट की ओर चले आए, और तब इनका निवास-स्थान राजापुर बना, जैसा कि वहाँ पर प्राप्त सनदों, उल्लेखों, घर और और मूर्ति आदि के द्वारा सिद्ध हो जाता है। राजापुर में प्राप्त प्रयोगों से भी इस बात की पुष्टि होती है, जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है।

१—डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'तुलसी' नामक ग्रंथ में (पृ० ३३ में) 'सोरों' नाम की व्युत्पत्ति का निर्देश करते हुए कहा है कि 'सूकर क्षेत्र' से 'सोरों' भाषा-विज्ञान के

५—तुलसीदास जी की रचनाओं में अन्तर्साक्ष्य के रूप में ऐसे शब्द और वाक्य बराबर मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि वे एक अच्छे कुल (सुकुल) में उत्पन्न होकर (दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को—वि० १३५), माता-पिता के लाड़-प्यार का सुख पाए बिना ही, अनाथ बालक का दारिद्र्य-पूर्ण जीवन बिताते हुए, क्रमशः रामभक्ति का उदय होने पर, अपने जीवन-काल में ही, अनेक विरोधों का सामना होते हुए भी, भली भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके थे। 'घर घर मागे टूक पुनि, भूपति पूजे पाँय। ते तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥ (दो० १०६) जैसे शब्द एवं वाक्य इस तथ्य के प्रमाण हैं। ऐसे अनेक उद्धरण तुलसी-विषयक-समालोचना-ग्रथों में एकत्र हैं, अतः यहाँ पर उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार तुलसी की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली का एक अश उनके जीवन के सामाजिक विकास-सबधी तथ्यों का भी कुछ निर्देश करता है।

६—अपने जीवन-काल में कभी गोस्वामी जी को अत्यन्त कष्टदायक बाहुपीड़ा हुई थी। काशी के शैवों द्वारा तीव्र असहयोग का सामना करना पड़ा था। वहाँ पर 'मीन की सनीचरी', तथा 'रुद्रबीसी' के प्रभावस्वरूप महामारी का प्रकोप भी उन्होंने देखा था। इन तथ्यों के सूचक वाक्य एव शब्द कवितावली और विनयपत्रिका जैसे ग्रन्थों में बराबर मिलते हैं।

७—प्रसगवश इसी स्थान पर एक और बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा, वह यह कि मुद्रालकार के सहारे तुलसी की शब्दावली में भी उनके वंश एव जन्म-स्थान आदि से सम्बन्धित निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति सोरों के एक वयोवृद्ध विद्वान में इस लेखक ने अपनी सोरों-यात्रा के अवसर पर स्वय देखी है [1] जिसमें पर्याप्त खींचतान होने पर भी कम से कम पद्धति की दृष्टि से, यथेष्ट रोचकता एव मौलिकता मिलती है, उदाहरणार्थ, 'पहुँचे दूत रामपुर पावन—रा० १,२६०' में प्रयुक्त 'रामपुर' से सोरों के निकटवर्ती गाँव 'रामपुर' का सकेत ग्रहण करना, जिसे सोरों वाले तुलसीदास जी का ननिहाल बताते हैं, अथवा 'प्रनवउँ दीन बधु दिन दानी—रा० १, १५' में आए हुए 'दीन-बंधु' शब्द से, उनके श्वसुर तथा रत्नावली के पिता के नाम का ग्रहण आदि। खींचतान की प्रवृत्ति तो कहीं-कहीं यहाँ तक दिखाई पड़ी कि, 'सों मोसन कहि जातन कैसे—रा० १,३'

किसी नियम के अनुसार नहीं बन सकता। 'सूकर क्षेत्र' का 'सूअर खेत' या 'सुअर खेत' होगा। 'सोरों' तो स्पष्ट ही 'सुअराव' और 'शूकर ग्राम' की विकृति है। साथ ही वे कहते हैं कि दोहे में उल्लिखित 'बालपन' और 'अति अचेत' का शाब्दिक अर्थ ग्रहणीय नहीं है, किंतु वाराहपुराण में प्राप्त उल्लेख और सोरों में विद्यमान प्राचीन वाराह मदिर इस तथ्य की पुष्टि करते है कि सोरों ही सूकर क्षेत्र है। अत डॉ० गुप्त का निष्कर्ष अधिक युक्तिसगत एव विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। साथ ही इस प्रसग में आए हुए शब्दों के 'शाब्दिक अर्थ' को अस्वीकार करना भी व्यर्थ की आशंका उत्पन्न करता तथा समस्या को और भी जटिल बनाता है।

में प्रयुक्त 'सन' शब्द से तुलसी के 'सनाढ्य' होने का अर्थ ग्रहण किया जा रहा था।

बहुत से कवियों में संकेत-रूप में आत्मचरितविषयक उल्लेख की उक्त पद्धति मिल जाती है, परन्तु तुलसी ने तो प्रायः जहाँ कहीं अपने विषय में कुछ कहना चाहा है, खुल कर कहा है और स्वानुभूतिपरक स्थलों पर उन्हें ऐसा कहने का पूरा अवकाश भी था। अतः उन्होंने जान अथवा अनजान में मुद्रालंकार के सहारे अपने विषय में उक्त प्रकार के संकेत देने का विचार किया होगा, ऐसा अधिक संभव नहीं जान पड़ता, क्योंकि इस दृष्टि से तो तुलसी की समस्त शब्दावली में 'सोरों' और 'राजापुर' दोनों ही नामों का अभाव ही क्या कम खटकने वाली बात है?

हाँ, इतनी बात अवश्य है कि इस पद्धति पर राजापुर-विषयक जीवनवृत्त की अपेक्षा सोरों-विषयक जीवन-वृत्त की अधिक पुष्टि होती है, परन्तु जैसा पीछे कहा गया है, इस पद्धति की वैज्ञानिक सार्थकता एवं उपयोगिता असंदिग्ध नहीं कही जा सकती।

भाषा के आधार पर तुलसी की कृतियों के संबंध में तीन प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

१—उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में।

२—रचनाओं के काल-क्रम के विषय में।

वैसे तो अनेक आधारों पर तुलसी की रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में अनुसंधान किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'तुलसीदास' नामक ग्रंथ में उक्त तीनों बातों पर प्रकाश डाला है, जिसके दुहराने की आवश्यकता यहाँ पर नहीं है। यहाँ पर हमें इतना ही संकेत करना है कि भाषा के आधार पर रचनाओं की संदिग्धता एवं असंदिग्धता का निर्णय करने के निम्नलिखित पक्ष हो सकते हैं :—

१—ग्रंथ की भाषा कविकालीन बोलचाल की भाषा से कहाँ तक सामीप्य रखती है?

२—ग्रंथ की शब्दावली में कवि के नाम की छाप कहाँ तक और किस रूप में वर्तमान है?

३—ग्रथ की भाषा कहाँ तक कवि की स्वाभाविक प्रतिभा एव विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है?

४—ग्रथ की भाषा कवि के समस्त ग्रंथों में प्राप्त व्यापक एवं मौलिक विशेषताओं से कहाँ तक मेल खाती है?

इन बातों को ध्यान में रखते हुए, तुलसी के उन बारह ग्रन्थों के अंतर्गत, जिन्हें हमने प्रस्तुत अध्ययन में, तुलसी की प्रामाणिक रचनाओं के रूप मे ग्रहण किया है, केवल रामललानहछू और वैराग्यसंदीपिनी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनमें उपर्युक्त शर्तों में दूसरी शर्त को छोड़ कर सभी शर्तें ठीक से पूरी नहीं होतीं, और इस लिए भाषा के आधार पर ये रचनाएँ अन्य समस्त रचनाओं की तुलना में संदिग्ध कही जा सकती हैं। शेष सभी

ग्रन्थ किसी न किसी अंश में चारों विशेषताओं का समावेश रखने के कारण असदिग्ध हैं। ऐसी सारी विशेषताओं का तुलनात्मक विवेचन एक स्वतंत्र विषय है, जिसके विस्तार का अवकाश यहाँ पर नहीं है।

भाषा के आधार पर रचनाओं के कालक्रम का निर्धारण प्रमुखतया दो प्रकार से होता है :—

१—भाषा की उत्तरोत्तर परिपक्वता के विचार से।

२—शब्दावली में यत्रतत्र संकेतित कवि की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्था के विचार से।

इन दृष्टियों से विचार करने पर तुलसी की रचनाओं का क्रम इस प्रकार जान पड़ता है :—

रामललानहछू, वैराग्यसंदीपिनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकीमंगल, रामचरित-मानस, पार्वतीमंगल, बरवै रामायण, विनयपत्रिका, दोहावली, कवितावली, गीतावली, और श्रीकृष्णगीतावली।

इसमें दोहावली और कवितावली जैसे संकलन-ग्रन्थों के कुछ अंश (जैसे कवितावली का 'हनुमान बाहुक' वाला अंश), क्रम में अन्तिम अवस्था के निकट के हो सकते हैं। परन्तु यहीं पर यह भी संकेत कर देना आवश्यक होगा, कि यह सर्वदा स्वाभाविक नहीं कि कवि की परवर्ती रचना की भाषा, उसकी पूर्ववर्ती रचना की अपेक्षा उत्तरोत्तर विकसित ही होती जाय। इसके अपवाद संसार के बड़े-बड़े कवियों की कृतियों में मिलते हैं। अतः विश्लेषण और अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी, इस प्रकार का आधार किसी प्रकार का निश्चित क्रम निर्धारित करने में पूर्ण एवं अन्तिम नहीं माना जा सकता।

तृतीय परिशेष

सहायक ग्रंथ-सूची

संस्कृत-ग्रंथ

१. अग्नि पुराण — वेदव्यास
२. काव्यादर्श — दण्डी
३. काव्यालंकार — रुद्रट
४. काव्यालंकारसूत्र — वामन
५. काव्य प्रकाश — मम्मट
६. ध्वन्यालोक — आनंदवर्धन
७. सरस्वतीकंठाभरण — भोजराज
८. साहित्य-दर्पण — विश्वनाथ
९. श्रीमद्भागवत — व्यास

हिन्दी ग्रंथ

१. आधुनिक कवि — सुमित्रानंदन पंत
२. कविप्रिया — केशवदास
३. काव्यदर्पण — रामदहिन मिश्र
४. काव्यनिर्णय — भिखारीदास
५. गोस्वामी तुलसीदास — डॉ० श्यामसुंदरदास और डॉ० बड़थ्वाल
६. छत्रशाल दशक — भूषण
७. जायसी ग्रंथावली — सं० रामचन्द्र शुक्ल
८. तुलसी के चार दल — सद्गुरुशरण अवस्थी
९. तुलसी ग्रंथावली (दूसरा खंड) — प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा
१०. तुलसीदास — डॉ० मातप्रसाद गुप्त
११. तुलसीदास — रामचन्द्र शुक्ल
१२. तुलसीदास और उनका युग — डॉ० राजपति दीक्षित
१३. तुलसीदास और उनकी कविता — रामनरेश त्रिपाठी
१४. तुलसीशब्दार्थप्रकाश — जयगोपाल मोठ
१५. नवरत्न — मिश्रबंधु
१६. पृथ्वीराजरासो — चंदबरदाई

पत्र-पत्रिकाएँ

१. मानसमणि
२. विशालभारत
३. सरस्वती
४ ज्ञानशिखा
५. Allahabad University Studies.
६ Indian Antiquary.

नामानुक्रमणिका

१ ग्रंथ

श

२—लेखक

नामानुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	६	हुयी	हुई
१६	१७	दुर्लंभ	दुर्लंभ
१६	२७	अर्न	अर्थ
१७	१०	अभिमान	अभिमान
२०	१२	गिरिराज	गिरिवरराज
२५	४	दास पर	दास दासन पर
२८	२६	कुसलाता	कुसलात
२८	३०	कुसलात	कुसलाता
३०	२	प्रयोप	प्रयोग
३१	२०	चलते चलता	चपत चलत
३१	१२	को	भो
३१	१६	यवहार	व्यवहार
५३	२४	मानस को तथा	मानस तथा
५४	२१	सुनावऊँ	सुनावौं
५८	५	महँ	महुँ
५६	३	अंगान	अंगनि
७१	४	बात	नात
७४	२३	आपु	आपू
७६	१५	तुम्हारी	तुम्हरी
८४	४	सोक	भोग
६६	२२	लोक	लोभ
१००	३	जान्हहिं	जिन्हहिं
१०१	२५	डर	उर
१०१	२६	सता	सुता
१०४	१५	राजइ	रजाइ
१०७	४	अपने अपने अपने	अपने अपने
१११	११	हैं	हहिं
११२	२१	भइ	भई
११४	११	वाद	बादि
११६	६	तुलसीदास	तुलसी दलि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	६	सखि	साखि
११७	३	तव	तव
१२०	२	बिचरत	विरचत
१२४	१	अतगत	अतर्गत
१३०	२५	प्रम	प्रेम
१३०	२७	गाधिनदन	गाधिनदन
१३३	२३	पुलिंग	पुल्लिंग
१३३	२६	पुलिंग	पुल्लिंग
१३४	४	हि	हिं
१४२	१५	कह्यों	कह्यौं
१४३	२१	त्रिभुव	त्रिभुवन
१४५	१७	वैभिन्य	वैभिन्न्य
१४६	६	राय	राम
१४७	१८	कहयो	कह्यो
१५१	१२	चुबराज	जुबराज
१५१	१६	करहि	करहिं
१५६	७	हैं	मैं
१५६	२ (पादटिप्पणी)	वि० ६	वि० ५
१६१	४ (पादटिप्पणी)	धीरें:	धीरेंद्र
१६२	४ (पादटिप्पणी)	रा०	रा० १
१६७	३२	घर की घनि	घरनीघनि
१७१	२६	आ०	आठ
१७५	११	आहुक	अगहुड़
१७८	२०	भूख	भूखे
१८१	२३	अन्तस्थ	अन्तःस्थ
१८४	१५	आउ	ओं उ
१६३	२६	(से	से
१६३	३०	) से	से
१६७	२	सांक	साकं
१६६	२	अभिप्रायः	अभिप्राय
२०४	१६	ाषल्लै	षिल्लै
२०६	१६	ने	न
२०८	२०	पर्यटनशीन	पर्यटनशील

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०९	९	कुतुहलोत्पादकता	कुतूहलोत्पादकता
२१०	२	रहती	रहता
२१७	२१	लिखत	लिखित
२१९	१	अध	अर्ध
२१९	१	रात	राति
२२१	१६	उस	उसे
२३०	१६	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३१	८ (पादटिप्पणी)	उ	उस
२३३	११	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३३	१७	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३३	२५	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३४	९	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३४	१६	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३५	२	रेखाकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२३६	२९ (पाद टिप्पणी)	परसग	परसर्ग
२३७	४ (पाद टिप्पणी)	औ	और
२३८	११	रौरंहि	रौरेहि
२३८	२५	पंक्रियों	पक्तियों
२३९	९	लराई	लराई
२४०	९	रेखांकित	टेढ़े अक्षरों वाले
२४३	१४	रूपों में	पंक्तियों में
२४५	२५	कीजिए, लीजिए	लीजिऐ, कीजिऐ
२५२	२७	आएगे	आएँगे
२५५	१४	कए	किए
२५७	१९	के विष्णु	के साथ विष्णु
२५८	११	घम	घर्म
२५८	११	के अथवा अंधे	के अंधे
२६४	७	कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तुध्वनि	२ कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध वस्तुध्वनि
२६४	७	,, २—गुणीभूतव्यंग्य	,, ३. गुणीभूतव्यंग्य
२६४	७	३—अगूढ........ क्षिप्त व्यंग्य।	×
२६४	३२	गुणीभूत व्यंग्य	३. गुणीभूत व्यंग्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६५	८	भगति	भगत
२६७	२४	जबुक	जंबुक
२७१	१६	भिन्नाथक	भिन्नार्थक
२७६	३३	दडी	दंडी
२८३	३	गोड़ियाँ छबीली	गोड़ियाँ अँगुरि छबीलीं
२८५	१ (पाद टिप्पणी)	बरवै	बरवै० ३०
३००	१५	अथ।	अर्थ
३०४	१	हा	ही
३११	२५	यापक	व्यापक
३१२	३३	का	की
३१३	४	निदित निंदित	निंदत निंदित
३१५	६	परवारिक	पारिवारिक
३१५	२०	इसा	इसी
३१५	२०	अथ	अर्थ
३१७	७ (पाद टिप्पणी)	जनातिहिं	जजातिहिं
३१८	४,५	चूनरी और पिछौरी तथा	चूनरी तथा
३१८	१४	क	की
३२१	१६ (पाद टिप्पणी)	कलकि	किलकि
३२३	१८	को	की
३२५	८ (पाद टिप्पणी)	गए	भए
३२७	८ (पाद टिप्पणी)	उगहिं	डगहिं
३२८	७	उपरना, कुंडल	उपरना, पीत पिछौरी, कुंड
३२८	८	चूनरी और पीत पिछौरी	(चूनरी)
३३०	१०	सबधित	संबंधित
३३०	२२	सिहासन	सिंहासन
३३०	३ (पाद टिप्पणी)	कौतिक	कौतुक
३३२	१३	विदषकों	विदूषकों
३३३	३ (पाद टिप्पणी)	छिटकहिं	छिरकैं
३४४	५ (पाद टिप्पणी)	आपस	आयसु
३४४	१६	निदहि	निंदहिं
३५०	२३	समित	सीमित

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५३	२	१४८ और	१४८ तुक और
३५४	२	लगनः	लगन
३५४	२०	निभ्रान्ति	निर्भ्रान्त
३५८	२	दिशा में मे	दिशा में
३६३	१२	घरौदा	घरौंधा
३६३	२ (पाद टिप्पणी)	क० ५३१	क० ५,३१
३६३	२ (पाद टिप्पणी)	क० ७,८४	क० ७,१७
३६५	२ (पाद टिप्पणी)	और और	और
३७०	२६	हिंदी	हिंदी

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६५	८	भगति	भगत
२६७	२४	जबुक	जंबुक
२७१	१६	भिन्नाथक	भिन्नार्थक
२७६	३३	दडी	दंडी
२८३	३	गोड़ियाँ छबीली	गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीलीं
२८५	१ (पाद टिप्पणी)	बरवै	बरवै० ३०
३००	१५	अथ।	अर्थ
३०४	१	हा	ही
३११	२५	यापक	व्यापक
३१२	३३	का	की
३१३	४	निदित्त निंदित्त	निंदत निंदित
३१५	६	परवारिक	पारिवारिक
३१५	२०	इसा	इसी
३१५	२०	अथ	अर्थ
३१७	७ (पाद टिप्पणी)	जनातिहिं	जजातिहिं
३१८	४,५	चूनरी और पिछौरी तथा	चूनरी तथा
३१८	१४	क	की
३२१	१६ (पाद टिप्पणी)	कलकि	किलकि
३२३	१८	को	की
३२५	८ (पाद टिप्पणी)	गए	मए
३२७	८ (पाद टिप्पणी)	उगहिं	डगहिं
३२८	७	उपरना, कुंडल	उपरना, पीत पिछौरी, कुंडल
३२८	८	चूनरी और पीत पिछौरी	(चूनरी)
३३०	१०	सबधित	संबंधित
३३०	२२	सिहासन	सिंहासन
३३०	३ (पाद टिप्पणी)	कौतिक	कौतुक
३३२	१३	विदषकों	विदूषकों
३३३	३ (पाद टिप्पणी)	छिटकहिं	छिरकैं
३४४	५ (पाद टिप्पणी)	आपस	आयसु
३४४	१६	निदहि	निंदहिं
३५०	२३	समित	सीमित

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५३	२	१४८ और	१४८ तुक और
३५४	२	लगनः	लगन
३५४	२०	निभ्रान्ति	निर्भ्रान्त
३५८	२	दिशा में मे	दिशा में
३६३	१२	घरोदा	घरौंधा
३६३	२ (पाद टिप्पणी)	क० ५३१	क० ५,३१
३६३	२ (पाद टिप्पणी)	क० ७,८४	क० ७,१७
३६५	२ (पाद टिप्पणी)	और और	और
३७०	२६	हिदी	हिंदी